शंकरेतर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण

अभेदानन्द

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

यद्यपि वेदान्त पर हिन्दी में पहले से काफी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु यह ग्रन्थ उनसे बहुत बातों में विशिष्ट है। अधिकांश ग्रन्थ तीन कोटियों में से किसी में रखे जा सकते हैं—एक हैं जो टीका या भाष्य कहे जा सकते हैं, दूसरे पाश्चात्य परम्परा की दृष्टि से इस दर्शन का मूल्यांकन करते हैं, तीसरे इसे धार्मिक भाव से देखते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ इनसे भिन्न स्वयं वेदान्तीय दार्शनिक परम्परा के भीतर रहकर नव्यतर दृष्टि से उसके प्रतिपाद्य को समझने-समझाने का प्रयन्त करता है। इसके अतिरिक्त, लेखक का वेदान्त-विषयक साहित्य का ज्ञान पाठक को अभिभूत किये बिना नहीं रह सकता। डॉ० अभेदानन्द जी प्रतिपादन और विवेचन की सहजता को खंडित किये बिना वेदान्त विषयक विशाल साहित्य को साक्ष्य के लिए प्रस्तुत करते चलते हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ वेदान्त विषयक दार्शनिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है और वेदान्त के विद्यार्थियों के लिये विशेष उपयोगी है।

मूल्य : १२.५०

पुस्तकालय

(विज्ञान विभाग)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है । इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए । अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा ।

शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्वनिरूपण

(Shankarottara Advaita Vedanta Men Mithyatva Niroopana)

लेखक :
अभेदानन्द

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित :

प्रथम संस्करण : १९७३

मूल्य : १२.५०

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए २६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-४

मुद्रक :
मूनलाइट प्रिन्टर्स
मनिहारों का रास्ता,
जयपुर-३

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ में पांच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गयी।

राजस्थाम हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्त तक दो सौ से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम में तैयार करवायी गयी है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की समीक्षा के लिए अकादमी डॉ॰ सुरेन्द्र बारलिंगे, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय के प्रति आभारी है।

खेतसिंह राठोड़
अध्यक्ष

गौरीशंकर सत्येन्द्र
निदेशक

आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा १९७२ में पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध प्रबन्ध है। मैंने इस अनुसन्धान कार्य को मेरठ कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल एवं दर्शन विभागाध्यक्ष श्रद्धेय डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य के कुशल निर्देशन में सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है। इस कार्य में मैं जब भी उनके पास कठिन दार्शनिक ग्रन्थियों को लेकर पहुँचा करता था, वे अपनी बौद्धिक प्रखरता से उन ग्रन्थियों को सुलझा देते थे एवं आगे के कार्य के लिये भी अमूल्य एवं विद्वत्तापूर्ण परामर्श देकर मेरे लिये पथ प्रशस्त कर देते थे। इन सब बातों लिये के मैं मात्र धन्यवाद देकर उनसे ऋणमुक्त नहीं होना चाहता, तदर्थ मैं मात्र इतना ही कह सकता हूँ कि उनके कृतज्ञताभार से मेरा मस्तक सर्वदा उनके प्रति नत रहेगा, और मैं सर्वदा उनका ऋणी रहूँगा।

माननीय डा० चन्द्रधर शर्मा प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन-विभाग जबलपुर विश्व-विद्यालय, माननीय डा० एन० के० देवराज, निदेशक-उच्चतर दार्शनिक अध्ययन केन्द्र एवं प्रोफेसर तथा अध्यक्ष दर्शन विभाग बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, माननीय डा० आर० सी० पाण्डेय प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, माननीय ना० शा० द्राविड़ अध्यक्ष दर्शन विभाग. नागपुर विश्वविद्यालय एवं माननीय डा० आर० के० त्रिपाठी अध्यक्ष दर्शन विभाग काशी विद्यापीठ—इन सभी विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इन विद्वानों ने मेरे इस अनुसन्धान कार्य में समय-समय पर मौखिक एवं पत्र द्वारा अमूल्य परामर्श देकर मुझे इस कार्य में सफल बनाया है।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति परमश्रद्धेय श्रीमान् रघुवीरसिंह शास्त्री जी के प्रति मैं बहुत ही कृतज्ञ हूँ, क्योंकि उन्होंने ही अपने कार्य-काल में विश्वविद्यालय में ऐसा शैक्षिक वातावरण उत्पन्न किया, जिससे प्रेरित होकर मैंने अतिशीघ्र इस कार्य को सम्पन्न किया।

गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय के हिन्द ्र यापक डा० विष्णुदत्त राकेश धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि इस कार्य में वे समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करते रहे। मेरे दर्शन विभाग के प्राध्यापक श्री ओंकारानन्द जी भी धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ टंकीय त्रुटिसंशोधन में सहायता की है। कनखल के तपेश्वर पाण्डेय को भी मैं तदर्थ धन्यवाद देता हूँ।

कनखल की कु० प्रेम तोमर, कु० अनुराम भारद्वाज एवं मेरी पत्नी श्रीमती अनुपमादेवी को भी मैं धन्यवाद देना नहीं भूलूंगा, क्योंकि ग्रन्थ के टंकीय त्रुटि-संशोधन में इन सभी ने सहायता की है।

अन्त में मैं उन सभी ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से मुझे इस कार्य में सहायता मिली है।

विदुषां वशंवदः
अभेदानन्द,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार।

आमुख

वाराणसी में वेदान्त शास्त्री एवं वेदान्ताचार्य की कक्षाओं में अध्ययनकाल में मुझे अद्वैतवेदान्त के कुछ प्रमुख ग्रन्थों के अध्ययन का अवसर मिला। विशेषकर चित्सुखाचार्य की तत्वप्रदीपिका तथा मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त भामती, पंचपादिका, पंचपादिका-विवरण तथा खण्डनखण्डखाद्यादि ग्रन्थों का भी आलोड़न करने का अवसर उस समय प्राप्त हुआ। उसी समय मेरे मस्तिष्क को अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सिद्धान्त मिथ्यात्व की प्रतिपादनशैली ने प्रभावित किया। स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण हो चुकने के पश्चात् मैं अद्वैत में प्रतिपादित मिथ्यात्व पर अनुसन्धान कार्य करने लगा। वही शोधप्रबन्ध पूर्ण होकर आज ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत है। अद्वैतवेदान्त में प्रतिपादित मिथ्यात्व का तात्पर्य अत्यन्तासत् अलीकत्व से नहीं, अपितु अन्य दर्शनों में स्वीकृत सापेक्ष सत्य को ही अद्वैत में मिथ्या शब्द से अभिहित किया गया है। देशकाल से परिच्छिन्न अतएव परिवर्तनशील प्रपंच ही मिथ्या है। मैंने इस ग्रन्थ में इसी की प्रस्थापना करने का प्रयास शंकरोत्तर अद्वैताचार्यों के ग्रन्थों के साक्ष्य के आधार पर किया है। इसी 'मिथ्यात्व' की सुसम्बद्ध व्याख्या प्रस्तुत करना ही मेरे इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। हिन्दी भाषा के माध्यम से अब तक इस प्रकार का कार्य नहीं हुआ है, अतः दर्शन के क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण काम होगा एवं उच्चतर अध्ययन के लिये लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मिथ्यात्वनिरूपण अद्वैतवेदान्त में नवीन नहीं है। अद्वैतवेदान्ती स्वयं इसे औपनिषदीय सिद्धान्त बतलाते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मेरे इस प्रयास को 'नामूलं लिख्यिते किंचित्' कहा जा सकता है, किन्तु सुसम्बद्धता एवं पद्धति की दृष्टि से नवीन व्याख्या भी कहा जा सकता हैं।

भारतीय दर्शन में अद्वैतवेदान्त का मिथ्यात्ववाद शास्त्रार्थ का विषय रहा है। इस कारण यह विषय शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में और भी दुरूह बन गया है। इस दुरूह विषय के प्रतिपादन में मैंने पारिभाषिक शब्दों को परिवर्तित नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने पर उनसे लक्षित अर्थों की उपलब्धि नहीं हो सकती थी; अतएव अद्वैतवेदान्त के द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तद्रूपों में ही इस शोध-प्रबन्ध में हुआ है। विषय की मौलिकता, दुरूहता एवं पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के कारण मेरा यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन के मौलिक पण्डितों के लिये ही उपयोगी सिद्ध होगा, यह मेरा विश्वास है।

अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व की व्याख्या दो दृष्टिकोण से की गई है। प्रथम-

ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण से, द्वितीय–तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण से। ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से व्याख्या करने पर प्रपंच ज्ञान में अध्यस्त सिद्ध होता है तथा तत्वमीमांसीय दृष्टि से प्रपंच का तात्विक स्वरूप अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। इसी अनिर्वचनीयत्व-रूप मिथ्यात्व की संगति वेद उपनिषदों से बिठाने का प्रयास प्रथम अध्याय में किया गया है। अध्यस्ततया एवं अनिर्वचनीयतया प्रपंच मिथ्या सिद्ध होता है; इसीलिये द्वितीय अध्याय में अध्यास एवं अनिर्वचनीयता की सिद्धि के लिये ख्यातिवादों की व्याख्या की गई। इस अध्याय में अनिर्वचनीयख्याति के अतिरिक्त अन्य ख्यातिवादों को अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से ही प्रस्तुत किया गया है। इसी कारण इस अध्याय में अन्य ख्यातिवादों के प्रतिपादन में भी अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थों से ही अधिकांश उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। उक्त अध्याय में अन्य ख्यातिवादों के प्रति अद्वैत का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। यहीं पर दृक्-दृश्य सम्बन्ध की व्याख्या कर दृश्य को अध्यस्त सिद्ध किया गया है। तृतीय अध्याय में संक्षेप में न्यायामृतकारादि पूर्व पक्षों द्वारा मिथ्यात्व में आक्षेपों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। चतुर्थ अध्याय में तात्विक दृष्टि से मिथ्यात्व के स्वरूप की लक्षणों द्वारा व्याख्या की गई है। यहीं पर शंकरोत्तर अद्वैताचार्यों के मिथ्यात्व विषयक मतों को प्रस्तुत किया गया है। पंचम अध्याय में मिथ्यात्व सिद्धि के लिये प्रस्तुत अनुमान-आगम प्रमाणों की व्याख्या की गई है। साथ में मिथ्यात्व-मिथ्यात्व-निरुक्ति की भी व्याख्या की गई है। षष्ठ अध्याय में अन्य भारतीय दर्शनों के साथ जगन्मिथ्यात्ववाद की तुलना की गई है। अन्य भारतीय दर्शनों में से प्रत्ययवादी दर्शन होने के कारण बौद्धविज्ञानवाद और शून्यवाद को तुलनार्थ लिया है। वैष्णव दर्शनों में से रामानुज मध्व और निम्बार्क को ही तुलनार्थ लिया है। वैष्णव दार्शनिकों ने अद्वैतवेदान्त को जगत् प्रपंच की सत्ता के विषय में अलीकवाद के रूप में ग्रहण किया है, अतः प्रपंच की सत्ता मीमांसा में अद्वैत के साथ तुलनार्थ उन्हें लेना आवश्यक था। उक्त मतों की 'मिथ्यात्ववाद' के साथ तुलना की गई; साथ में विरोधांश को भी दिखाया गया है। अध्याय के अन्त में प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अरविन्द के दृष्टिकोणों की तुलना संक्षेप में की गई है। सप्तम अध्याय में कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों को तुलनार्थ लिया गया है। जगन्मिथ्यात्ववाद के साथ प्लेटो, स्पिनोजा, बर्कले, ह्यूम, कान्ट और ब्रेडले की जगत्-विषयक धारणा की तुलना की गई है। अन्य पाश्चात्य दार्शनिकों की अपेक्षा इनकी जगत्-विषयक धारणा अद्वैत के मिथ्यात्ववाद से कुछ साम्य रखती है। उनकी इस विषय में मत-भिन्नता को भी प्रस्तुत किया है। अध्याय के अन्त में अस्तित्ववादी विचारधारा की सामान्य तुलना की गई है।

भारतीय दर्शन में या पाश्चात्य दर्शन में उपरोक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त भी प्रत्ययवादी दार्शनिक हैं। इस ग्रन्थ में उन सभी प्रत्ययवादी दार्शनिकों को तुलनार्थ स्थान नहीं मिल सकता था। इसी कारण मैंने कुछ विशेष दार्शनिकों को ही तुलनार्थ लिया है। विशेष बात यह है कि तुलना करना ही इस ग्रन्थ का लक्ष्य नहीं है।

बहुत से दार्शनिक किसी मत की किसी अन्य मत से तुलना के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि प्रत्येक मत अपने में एक विशेष दृष्टिकोण का पोषक होता है। उक्त बात ठीक तो है, फिर भी मेरे विचार से तुलना से सिद्धांत को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है। तुलना में जब समता एवं विषमता दोनों का प्रदर्शन होता है, तभी उससे सिद्धांत स्पष्ट होते हैं। मैंने स्पष्टता की दृष्टि से तुलना के लिये उक्त दो अध्यायों को इस ग्रन्थ में स्थान दिया है।

मिथ्यात्वनिरूपण विशेष रूप से शंकर के बाद उनके अनुयायियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। विशेष करके मिथ्यात्व के सभी लक्षण-प्रमाणों की व्याख्या अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि में की है। इसी कारण प्रस्तुत ग्रन्थ का शीर्षक 'शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण' रखा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने अद्वैतवेदान्त के मौलिक ग्रन्थ पंचपादिका, विवरण, अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी, भामती आदि को ही आधार मानकर मिथ्यात्व की व्याख्याकी है; इसीलिये उन्हीं ग्रन्थों के ही उद्धरण अधिकतर उद्धृत किये हैं। कहीं-कहीं पर कुछ उद्धरण एकाधिक बार प्रयुक्त हुए हैं, उन्हें पुनरुक्ति न समझा जाय, क्योंकि प्रसंगगत विषय के समर्थन में उक्त स्थलों पर उनको रखना आवश्यक था।

अन्त में मैं यही कहता हूँ कि यह ग्रन्थ इस दिशा में मेरा एक लघु प्रयास है, इस प्रयास में मैं कहाँ तक सफल हूँ, यह तो विदग्धजन ही जान सकते हैं, क्योंकि 'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा'।

—

विषय-सूची

— —

विषयप्रवेश

अद्वैतसिद्धि की प्रक्रिया

मानवबुद्धि का यह स्वभाव है कि वह वस्तुओं का विश्लेषण करके ज्ञान प्राप्त करना चाहती है, साथ में यह भी उसका स्वभाव हैं कि विखण्डित वस्तुओं के स्वभाव को वह एकसूत्रता में मिलाना चाहती है । इस प्रकार मानवबुद्धि पृथक्करण एवं तुलना के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करना चाहती है । हमारे सम्मुख जो दृश्य प्रपंच है, उसमें नानात्व है । नानात्व को देखकर हमारी बुद्धि उनमें एकसूत्रता का भी निर्माण करना चाहती है । विश्लेषण करके देखने पर परिदृश्यमान विश्व में नानात्व एवं एकत्व दोनों की या दोनों में से किसी एक की सिद्धि की जा सकती है, किन्तु इसके पश्चात् भी नानात्व एवं एकत्व की समस्या का समाधान नहीं हो पाता । हम आगे और भी जानना चाहेंगे कि वस्तुतः नानात्व सत्य है या एकत्व ? बुद्धि का अतिक्रमण करके वस्तुतः विश्व एक है या नाना—यह जानने की प्रबल लालसा होती है । दर्शन में अद्वैतवादी और द्वैतवादी प्रवृत्तियाँ इन्हीं उलझनों के कारण उत्पन्न हुई हैं । द्वैतवादी दार्शनिक नानात्व को सत्य कहकर एकत्व की धारणा को असत्य सिद्ध करते हैं और अद्वैतवादी दार्शनिक एकत्व को सत्य मानकर नानात्व की धारणा को असत्य सिद्ध करते हैं । सभी दार्शनिक सत्य या यों कहा जाय कि तथ्य की खोज करने का प्रयास करते, जैसाकि आचार्य पी०टी० राजू का कहना है कि "प्रत्येक दर्शन सत्य की खोज का एक प्रयास है" ।[१] द्वैतवादी या अद्वैतवादी दार्शनिक यदि द्वैत या अद्वैत को सत्य मानते हैं तो इसका तात्पर्य है कि अपनी विचारपद्धतियों द्वारा वे उक्त निष्कर्षों तक पहुँच चुके हैं ।

दार्शनिक सिद्धान्त वस्तुविषयक बौद्धिक प्रतिक्रिया है, अतः दो कारणों से दार्शनिक विचारों में ऐक्य नहीं हो सकता । मतैक्य न होने का प्रथम कारण 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' है और द्वितीय कारण विषय-विषयी में अन्तर । उक्त दोनों कारणों में से प्रथम कारण को दूर करने के लिये अद्वैत वेदान्त ने श्रुति की शरण ली है । श्रुति को मानव बुद्धिगत दोषों से मुक्त रखने के लिये ईश्वरकृत कह दिया गया ।[२] शास्त्र को ईश्वरकृत कह देने से ही मतिभिन्नता की समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि शास्त्र की व्याख्या करने में पुरुषमति का उपयोग होता है और तदनुसार

---

१. Every Philosophy is an attempt to find out the true reality. The Idealistic Thought of India,—P. T, Raju—P. 38. Allen & Unwin, Lendon, 1953.

२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य भामती पृ० ६८ तथा ६६ । निर्णयसागर बम्बई, १६३८ ।

व्याख्याएँ भी भिन्न-भिन्न होंगी ही । इस समस्या के समाधान में अद्वैतवादी पुनः अपने बुद्धिबैभव पर वापस आते दीखते हैं। वे यहां पर आकर बुद्धिवैभव के बल पर शास्त्र अर्थात् उपनिषद् वाक्यों का 'समन्वय' करना प्रारम्भ करते हैं,[3] किन्तु ऐसा करते हुए भी वे श्रुति का अनुसरण करने का ही दावा करते हैं।

मतभिन्नता के द्वितीय कारण को दूर करने के लिये अद्वैतवेदान्ती 'अपरोक्षानुभूति' की बात कहते हैं। अपरोक्षानुभूति ब्रह्मसाक्षात्कार है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातादि भेद नहीं होते। विषय-विषयी का द्वन्द्व वहां पर नहीं होता।[4] जाननेवाला और जानेजानेवाला तथा जानने की प्रक्रिया सब तादात्म्यभावापन्न हो जाते हैं। शंकर के अनुसार सम्पूर्ण श्रुति एवं प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों का अवसान 'अहं ब्रह्मास्मि' एवंप्रकारक अनुभूति में हो जाता है,[5] और अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, सत्य है, उसमें नानात्व की क्या स्थिति है? इसकी समीचीन व्याख्या अपेक्षित है। ईशोपनिषद् में ऋषि कहते है 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'[6] हिरण्मय पात्र, जोकि स्वर्ण के समान चाकचिक्यवाला है, जोकि आपातरमणीय है, ऐसे पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। सत्य हमारे लिये आवृत है। यह अविद्या का आवरण है। अविद्या के आवरण से सत्य का मुख ढका हुआ है जिसके कारण सत्य हमारे सामने अप्रकट सा हो रहा हैं।

अद्वैत के अनुसार यह सत्य अद्वैत ब्रह्म है। इसी का प्रतिपादन या सिद्धि करना ही अद्वैतवेदान्त का कार्य है। हिरण्मय पात्र की सत्ता के प्रत्याख्यानपूर्वक अद्वैत सत्य तत्त्व की सिद्धि ही अद्वैतदर्शन का लक्ष्य है। औपनिषदीय नानात्व प्रतिषेधक श्रुति के आधार पर ही अद्वैत वैदान्त परिदृश्यमान जगत् को मिथ्या कहता है।

अद्वैतवेदान्त प्रत्ययवादी दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार अद्वैत ब्रह्म ही एक अन्तर्निहित सत्य तत्त्व है। एकवादी दर्शन होने के कारण अद्वैतवेदान्त नानात्व की व्याख्या ब्रह्म को अधिष्ठान तत्त्व मान कर देता है। प्रत्ययवादी दार्शनिक अपने स्वीकृत प्रत्ययवादी सिद्धान्त के द्वारा विश्व की वस्तुओं की व्याख्या देते हैं। यह व्याख्या पर्याप्त होनी चाहिए। अद्वैत के अनुसार एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की व्याख्या दी जा सकती है। विश्व के नानात्व को स्वीकार करने या न करने की समस्या दार्शनिक के सामने नहीं होती, क्योंकि नानात्व तो दिखायी दे ही रहा है। जो दर्शन नानात्व को अन्तिम तत्त्व नहीं मानता उसके लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि

---

३. तत्तु समन्वयात् ब्रह्मसूत्र ४ पृ० १००।

४. अद्वैते हि विषयविषयिभावो नास्ति। भामती १५४। निर्णयसागर बम्बई. १९३८।

५. तस्मादहं ब्रह्मास्मीत्येतदवसाना एवं सर्वे विषयाः सर्वाणि चेतराणि प्रमाणानि। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पृ० १५४।

६. ईशावस्यापनिषद् १५। निर्णयसागर, बम्बई, १९२५।

वह उसकी व्याख्या दे। यह विश्व उक्त स्वीकृत सत्य से किस प्रकार सम्बन्धित है? विषय के साथ विषयी का क्या सम्बन्ध है? विषय सत्य है या विषयी? दोनों ही मिथ्या हैं तो अन्तिम सत्य क्या है? उसका स्वरूप क्या है? यदि विश्व सत्य नहीं किन्तु मिथ्या है तो उस मिथ्या का क्या स्वरूप है? इत्यादि समस्याओं के समाधान दर्शन को देने पड़ते हैं। समाधान चाहे तथ्यात्मक हो चाहे अतथ्यात्मक किन्तु समाधान की पद्धति दार्शनिक हुआ करती है, अतः वह पद्धति ही दर्शन बन जाती है।

अद्वैतवेदान्त ने जब एकमात्र ब्रह्म को ही सत्य माना है तब उसके सामने परिदृश्यमान जगत् की सत्ता की समस्या आई। परिदृश्यमान जगत् की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए आचार्य शंकर ने इसे ब्रह्म में अध्यस्त माना है।[७] अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत ब्रह्म निर्विशेष एवं निर्गुण है। निर्विशेष वस्तु प्रमाण का विषय नहीं बन सकती। प्रमाणविषयत्व भी ब्रह्म में आरोपित ही है। इस कारण श्रुति भी ब्रह्म का कथन निषेधमुख से करती है। कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों से युक्त आत्मा और बाह्यादि धर्मों से युक्त अनात्मादि सभी वस्तुएं ब्रह्म नहीं हैं, इस प्रकार विचार द्वारा सत्य तक पहुँचा जा सकता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि ये सब विशुद्ध आत्मा नहीं हैं, इस प्रकार निषेधपूर्वक ब्रह्म तक पहुँचना है।[८] अवस्था की दृष्टि से वह तुरीय है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं से परे है। जाग्रत् अवस्था की वस्तुओं को निषेध स्वप्न में और स्वप्नावस्था की वस्तुओं का निषेध सुषुप्ति में होता है।[९] तुरीय चेतन का बाध नहीं होता। वही अद्वैत की स्थिति है।

उक्त अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि द्वैत की मिथ्यात्वसिद्धि से ही सम्भव है। नानात्व को मिथ्या सिद्ध किए बिना एकत्व सत्य सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एकत्व और द्वित्व दोनों सत्य नहीं हो सकते। सत्य एक है। नाना यदि दृष्ट न होता तब तो उसकी मिथ्यात्वसिद्धि की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु नानात्वदर्शन हमें होता है। इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। मात्र इसकी व्याख्या देनी है कि यह स्वयं सत्य है या किसी सत्य की सत्ता से सत्ववाला है। इसी कारण अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि "अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वात् द्वैत-मिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्।"[१०] अर्थात् अद्वैत की सिद्धि द्वैत के मिथ्यात्वपूर्वक सम्भव है, अतः द्वैत-मिथ्यात्व ही प्रथम उपपादनीय है। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इस प्रकार अद्वैतत्वोपलक्षित ब्रह्म निर्विकल्पक निश्चय में ब्रह्म में द्वैताभावविशिष्ट बुद्धि द्वार है।[११] प्रथम ब्रह्म में द्वैताभाव बुद्धि होगी तदनन्तर अद्वैत का बोध स्वयं ही होगा, क्योंकि द्वैताभाव बुद्धि तक सविकल्पक

---

७. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य पृ० ४४ ४५।

८. केनोपनिषद में नेदं यदिदमुपासते कहा है। ४,५,६.७,८। निर्णयसागर बम्बई, १९२५।

९. पंचदशी तत्वविवेक प्रकरणम् ३,४। विद्यारण्य. भार्गव पु०, काशी १९४२।

१०. अद्वैतसिद्धि पृ० ८। मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर बम्बई, १९१७।

११. लघुचन्द्रिका पृ० ८,९। ब्रह्मानन्द सरस्वती निर्णयसागर बम्बई, १९१७।

बुद्धि रहती है, अद्वैत बुद्धि निर्विकल्पक होती है। उस स्थिति में ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय भेद नहीं होता। अद्वैत बुद्धि में द्वैताभाव बुद्धि को द्वार कारण कहा गया है, क्योंकि द्वैताभाव बुद्धि की सिद्धि के बिना वह बुद्धि हो ही नहीं सकती। द्वैताभाव बुद्धि अभाव बुद्धि है। अभाव स्वयं प्रतियोगिप्रसक्तिपूर्वक होता है। घटाभाव का ज्ञान तब-तक नहीं हो सकता जबतक घट का ज्ञान न हो। इसी कारण अभाव बुद्धि में प्रतियोगी ज्ञान आवश्यक होता है। 'यहाँ पर भूतल में घट नहीं है' इसका बोध उसी को हो सकता है जिसको कि घट का भी ज्ञान हो। घट के ज्ञान के बिना घटाभाव समझ में नहीं आ सकता। इसी प्रकार द्वैताभाव बुद्धि के लिये भी द्वैत के ज्ञान की आवश्यकता है। प्रतियोगितया द्वैत को जानने पर ही अनुयोगी में प्रतियोगी का अभाव बोध हो सकता है। अभाव सर्वदा प्रसक्तिपूर्वक होता है।[१२] भाव का निषेध सम्भव है। जहाँ पर जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं वहाँ पर उसका निषेध भी सम्भव नहीं। सरसों में सुमेरु का निषेध नहीं हुआ करता।[१३] सरसों में सुमेरु पर्वत की सम्भावना ही नहीं है, अतः निषेध भी सम्भव नहीं। इसी प्रकार यदि परिदृश्यमान जगत् की सम्भावना कहीं पर है तो दो ही स्थानों में है—ब्रह्म में, या स्वयं जगत् में जगत् का अस्तित्व। जगत् में जगत् स्वयं अस्तित्ववान् 'त्रिकालाबाध्यरूप' से नहीं है। इसके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण है। जगत् में तीनों कालों में और सर्वत्र देशों में अव्यभिचारी रूप से कोई भी वस्तु नहीं है। कालगत एवं देशगत तथा वस्तुगत व्यभिचार वस्तुओं में सर्वत्र दीखते हैं, अतः स्वयं जगत् अपने में सद्रूप से नहीं है। इस कारण जगत् को सद्रूप ब्रह्म में स्थित ही मानना होगा। सद्रूप ब्रह्म में जगत् की प्राप्ति होने के कारण उसका वहीं पर निषेध सम्भव है। यदि कहा जाय जिसका अस्तित्व है उसका निषेध कैसे? इसका उत्तर यही है कि अस्तित्व यदि उसका अपना न होकर और किसी से प्राप्त है तब उसका निषेध क्यों सम्भव नहीं? इसके विपरीत अलीक वस्तु का निषेध सम्भव नहीं है। अलीक वस्तु आकाशकुसुमादि शाब्दिक विलास मात्र हैं। विषयगत तथ्य उनमें नहीं है। व्यावहारिक वस्तुएँ किसी आधार में किसी दृष्टिकोण से निषेध्य हो सकती हैं। इस प्रकार अद्वैत के अनुसार द्वैत के प्राप्तिपूर्वक निषेध का कथन अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत मिथ्यात्व को अन्य प्रत्ययवादी दार्शनिकों की जगत्-विषयक धारणा से अलग करता है। जो लोग जगत् को अलीक कहते हैं, (यद्यपि ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि अलीक कहकर भी वे जगत् की ही व्याख्या दे रहे हैं, अन्यथा जब वह है ही नहीं तो उसको अलीक कहने की क्या आवश्यकता?) वे जगत् की व्याख्या नहीं दे सकते और जो परिदृश्यमान जगत् को यथातथ्यरूप में सत्य मानते हैं—वे भी जगत् की व्याख्या नहीं दे सकते, क्योंकि वे जगत् की व्याख्या न देकर पहले ही उसकी सत्ता को स्थिर कर देते हैं।

जगत् परिवर्तनशील है। उत्पत्ति-विनाशशील है। इसकी सत्ता यही है या

---

१२. प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते। लघुचन्द्रिका विट्ठलेशोपाध्यायी पृ० ६।

१३. सर्षपे सुमेरुर्नास्तीति वाक्यप्रयोक्तुरुपहासश्चोपपद्यते। वही। निर्णयसागर, बम्बई, १६१७।

इसकी पृष्ठभूमि में और कोई सत् है ? इसकी व्याख्या अद्वैतवेदान्त मिथ्यात्व विचार द्वारा देता है । अद्वैत-वेदान्त में जगत् को मिथ्या विशेषार्थ में कहा गया है । वस्तुएँ परमार्थ सत्य नहीं हैं, अतः परमार्थ-सत्य जो है वही ब्रह्म है । वस्तुओं से पारमार्थिक सत्ता का अपहरण उनकी परिवर्तनशीलता तथा अन्यनिर्भरता के कारण किया गया है ।

आचार्य शंकर ने अध्यास को मिथ्या कहा है । इसी 'मिथ्या' शब्द को लेकर परवर्ती अद्वैतआचार्यों ने पर्याप्त विचार-विमर्श किये हैं । मिथ्यात्व को परवर्ती आचार्यों ने सदसद्-विलक्षण रूप कहा है । इस रूप को विकसित शंकरोत्तर वेदान्त के आचार्य पद्मपाद ने पंचपादिका में, उसी की टीका विवरण में प्रकाशात्मयति ने, न्याय-मकरन्द में आनन्दबोध ने, तत्त्व प्रदीपिका में चित्सुखाचार्य ने तथा अद्वैतसिद्धि में मधुसूदन सरस्वती ने किया है । अद्वैतवेदान्त के सभी आचार्य उक्त प्रकार के सदसद् अनिर्वचनीय रूप मिथ्यात्व को औपनिषदीय सिद्धान्त होने का दावा करते हैं । उपनिषदों के विचार प्रधानतः एकवादी हैं,[१४] अतः नानात्व निषेध की संगति उपनिषदीय परम्परा से लगाई जा सकती है । उपनिषदों में नानात्व निषेधपरक मंत्र कई स्थलों में मिलते हैं । अद्वैतवेदान्तियों ने उन्हीं मंत्रों की संगति 'मिथ्यात्व' में लगाई है ।

——

१४. भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ० ३३६ । हिरियन्ना—चतुर्थ आंग्ल संस्करण (आउट लाइन्स ऑफ ··एलेन एण्ड अनविन लन्दन १९५८)

१

मिथ्यात्वविचार का संकेत

वेद-उपनिषदों से लेकर ग्राचार्य गौड़पाद तक

वेद–ग्रद्वैतवेदान्त में विवेचित मिथ्यात्व का संकेत सर्वप्रथम हमें ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त में प्राप्त होता है। उक्त सूक्त में 'नासदासीन्न सदासीत्[१]' ग्रर्थात् सत् ग्रौर ग्रसत् दोनों ही प्रकारों का निषेध मिलता है। यद्यपि उक्त सदसद् प्रकारों का निषेध जगत् कारण मूलाविद्या के लिये ही हुग्रा है, फिर भी मूलाविद्या ग्रद्वैत के ग्रनुसार सदसद् ग्रनिर्वाच्य है एवं मिथ्या है। इस प्रकार मिथ्यात्व का ग्रर्थ उक्त मन्त्रों से निकाला जा सकता है। सायणाचार्य ने मूलाविद्या के विषय में उक्त मंत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि जगत् का कारण शशविषाण के समान निरुपाख्य नहीं था ग्रौर न ही सद्रूप से ही निर्वाच्य था, किन्तु दोनों से विलक्षण ग्रनिर्वाच्य था।[२] वहीं पर तृतीय मन्त्र में 'तम ग्रासीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतम्' तमरूप ग्रविद्या के लिये प्रयोग ग्राया है, जिसका ग्रर्थ सायण ने ग्रावरण शक्तिवाला भावरूप ग्रज्ञान ही किया है।[३] उक्त दोनों मन्त्रों के भाष्य से यह संकेत मिलता है कि ग्रज्ञान शशविषाण के समान ग्रलीक नहीं है ग्रौर तृतीय मन्त्र के भाष्य में उसे भावरूप कहा गया है जो कि ग्रलीक से भिन्न है। इस प्रकार ग्रज्ञान भावरूप है, ग्रर्थात् ग्रकाशकुसुम के समान ग्रभावरूप नहीं है ग्रौर न ब्रह्म के समान ही भावरूप है, किन्तु भावाभाव से विलक्षण ग्रनिर्वचनीय हैं। यही मिथ्या है, इसीलिए ग्रज्ञान भी मिथ्या ही है। ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल में 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' परमात्मा के लिये कहा गया है। सायण ने 'प्रतिरूप' का ग्रर्थ प्रतिबिम्ब किया है।[४] सभी शरीर प्रतिबिम्ब भूत हैं ग्रर्थात् प्रतिबिम्बत्वेन मिथ्या हैं।

उपनिषद् ग्रौर ग्राचार्य शंकर–उपनिषदों में ऐसे प्रयोगस्थल एकाधिक हैं। छान्दोग्य में 'ग्रनृतेन हि प्रत्यूढ़ा' में 'ग्रनृत' शब्द का ग्रर्थ ग्राचार्य शंकर ने ग्रविद्यापरक ही किया है। वहीं पर ग्रानन्द गिरि ने उक्त शब्द का ग्रर्थ किया है 'ग्रनादि

१. ऋग्वेद संहिता १०।११।११६।१ चतुर्थ खण्ड। मैक्समूलर सं०, चौखम्बा, वाराणसी १९६६।

२. जगतो मूलकारणं तदसच्छशविषाणवन्निरुपाख्यं नासीत्……नो सन्नैवसदात्मवत्सत्वेन निर्वाच्यमासीत्………उभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीत्। ऋग्वेद संहिता १०।११।१२९।१ चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य। मैक्समूलर सम्पा० चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६।

३. वही १०।११।१२९।१३६

४. परमात्मा प्रतिरूप: प्रतिबिम्बरूप: सन् सर्वाणि शरीराणि बभूव। ऋग्वेद संहिता ६।४।४७।१८ चतुर्थ खण्ड सायण भाष्य।

अनिर्वाच्य मिथ्याऽज्ञान'।[५] वाचारम्भण श्रुति का अर्थ करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है कि विकारजात सम्पूर्ण कार्यजगत् वस्तुतः कारणाभिन्न हैं। जिस प्रकार रक्तोपाधानयुक्त स्फटिक मणि में पद्मराग मणि का भ्रम होता है, वस्तुतः वह पद्मराग मणि नहीं है, उसी प्रकार कार्य जगत् ब्रह्म से भिन्न रूप से लगने लगता है किन्तु कार्य जगत् कारणब्रह्माभिन्न है।[६] भिन्नत्वेन दिखाई देना ही मिथ्या है। 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुति की व्याख्या में आनन्दगिरि ने ब्रह्म में स्वगत स्वजातीय-विजातीय भेदों का निषेध किया है।[७] जिसका अर्थ है—भेद मिथ्या। छान्दोग्य में ही कहा गया है कि "जहाँ पर अन्य को देखता है, अन्य को सुनता है, अन्य को जानता है, वह अल्प है।" अर्थात् अन्यत्व का ज्ञान तथ्यहीन है, अन्यत्व मिथ्या है। शंकर ने वहीं पर भाष्य में अल्प को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है।[८] इस अल्प का अर्थ होता है सीमित, सीमा का अर्थ परिच्छिन्न, देशकाल से परिच्छिन्न। परिच्छिन्न वस्तु अद्वैत के अनुसार मिथ्या है।

मुण्डक के 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' इसके भाष्य में आचार्य शंकर ने नामरूप को अवभास कहा है। अवभास का अर्थ प्रातीतिक है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प प्रत्यय अविद्या के कारण होता है, उसी प्रकार अब्रह्म प्रत्यय अविद्यामात्र है। परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है।[९] श्वेताश्वतर में 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' में माया शब्द को भाष्यकार ने कल्पित अर्थ में लिया है।

बृहदारण्यक में 'नेह नानास्ति किंचन' के भाष्य में आचार्य शंकर ने ब्रह्म में नानात्व का निषेध किया है। नानात्व का अविद्या के कारण आरोप किया जाता है। वस्तुतः अविद्यारोपणव्यतिरेक पारमार्थ द्वैत है ही नहीं।[१०] अर्थात् द्वैत परमार्थतः मिथ्या है।

तैत्तिरीय में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मंत्र के भाष्य में शंकर ने सत्य-मिथ्या की स्पष्ट परिभाषा दी है। आचार्य शंकर के अनुसार 'सत्य वह है जो जिस रूप से है उस रूप से उसका व्यभिचार न हो और जिसका निश्चित रूप व्यभिचरित होता है वह मिथ्या है'[११] इस स्थल में आचार्य शंकर ने सत्य मिथ्या क्या है—स्पष्ट कर दिया हैं। सर्वदा जो एकरूप रहने वाला स्वभाव है अर्थात् कूटस्थ स्वभाव वह सत्य है। सत्य में किसी प्रकार परिवर्तन भी नहीं माना गया। इसके विपरीत मिथ्या अपना

---

५. छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य आनन्द गिरि टीका ८।३।१ आनन्दाश्रम, पूना १८९०। पृ० ४२०
६. छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य ६।४।१ पृ० ३१६। आनन्दाश्रम पूना १८९०।
७. वही ६।२।१ पृ० २९७, २९८।
८. वही ७।२४।१ पृ० घ ९०,४००।
९. मुण्डकोपनिषद् भाष्य २।२।११ पृ० ३३,३४. आनन्दाश्रम पूना, १८९६। श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य। ४।१० पृ० ५७। आनन्दाश्रम, पूना, शकाब्द १८११।
१०. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ४।४।१९ पृ० ६८२। आनन्दाश्रम, पूना, १९२७।
११. सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यं यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते। तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य २।१ पृ० ४८। आनन्दाश्रम, पूना, १८९७।

स्वरूप बदलता रहता है। वस्तुतः मिथ्या का स्वरूप है ही नहीं, अतः वह किसी एक रूप में नहीं रह सकता। शुक्ति-रजत या रज्जु-सर्प कब तक अपने उक्त रूपों को बनाये रख सकते हैं? जबतक अधिष्ठान वस्तु शुक्ति का ज्ञान नहीं होता, जबतक रज्जु का ज्ञान नहीं होता, तबतक ही उक्त रजत और सर्प की स्थिति है। ज्ञान के बाद वे नहीं होते, अतः सत्य ज्ञान से मिथ्या की निवृत्ति होती है। व्यभिचार शब्द से आचार्य ने व्यावृत्ति की ही बात कही है। जिससे कि परवर्ती आचार्यों ने व्यावर्तमान हेतु से विश्व को मिथ्या सिद्ध किया है। इसी प्रकार व्यभिचार से सीमित एवं निःस्वभावत्व भी सिद्ध होते हैं, क्योंकि व्यापक का व्यभिचार सम्भव नहीं है। व्यापक सत् है जोकि सर्वत्र है, किन्तु जागतिक वस्तुएं सर्वत्र नहीं हैं, किसी न किसी देश में उनका व्यभिचार है। इसी प्रकार कालिक व्यभिचार भी समझना चाहिये। परिच्छिन्नत्वेन मिथ्या की सिद्धि जोकि परवर्ती आचार्य करते हैं, उसका संकेत ही नहीं, स्पष्टरूप से निरूपण यहीं पर भाष्यकार ने किया है।

बौद्ध-दर्शन—बौद्धदर्शन में उक्त मिथ्यात्व का प्रतिपादन हमें लंकावतार सूत्र में मिलता है। लंकावतार में यत्र-तत्र जगत् को स्वप्न-मायादि शब्दों से अभिहित किया गया है।[१२] प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ में भी षष्ठ परिवर्त में माया शब्द मिथ्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मिथ्यात्व का स्पष्ट विवेचन बौद्धदर्शन के इतिहास में नागार्जुन की माध्यमिक-कारिका में मिलता है। नागार्जुन ने कार्य-कारण, जाति-व्यक्ति, भाव-अभाव आदि का विवेचन करके सभी में विरोध दिखाकर जागतिक प्रपंच को मायामय मिथ्या कहा है और जगत् को सांवृतिक सत्य-अर्थात् व्यावहारिक सत्य कहा है।[१३]

आचार्य गौड़पाद एवं आचार्य शंकर—अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का पर्याप्त विवेचन आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्य कारिका में मिलता है। माण्डूक्यकारिकाकार आचार्य गौड़पाद ने माध्यमिक-कारिकाकार नागार्जुन के ही समान जगत् प्रपंच को मिथ्या कहा हैं। जगत् प्रपंच के विषय में गौड़पाद ने कहा है कि जगत् की उत्पत्ति की सिद्धि न सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार हो सकती है, न न्यायवैशेषिक के असत्कार्यवाद के अनुसार। सांख्य के अनुसार कार्यकारण में सद्रूप होता है, कोई अभिनव कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसका प्रत्याख्यान असत् कार्यवादी नैयायिक करते हैं। उनके अनुसार जो सत् हैं वह पहले से ही विद्यमान है, अतः उसकी उत्पत्ति कैसे? और यदि उत्पत्ति मान ली गई, तब उसे सत् कैसे माना जा सकता है?[१४] उत्पत्ति का अर्थ हैं जो न था उसका होना। सत्कार्यवाही सांख्य न्यायवैशेषिक के मत का प्रत्याख्यान करते हैं। इस प्रकार दोनों के खण्डित होने से अद्वैत की ही सिद्धि होती है और प्रपंच मिथ्या ही सिद्ध होता है। इस प्रकार उत्पत्ति के विषय में दार्श-

१२. जगन्मिथ्यात्ववाद के साथ बौद्ध दर्शन की तुलना के प्रसंग में इस विषय पर हम पर्याप्त प्रकाश डालेंगे, अतः यहां पर उल्लेखमात्र किया जाता है।

१३. अध्याय ६ में शून्यवाद द्रष्टव्य।

१४. जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत्। माण्डूक्य कारिका।३।११ पृ० १६२

निकों के द्वारा दोनों मतों के प्रत्याख्यान से गौड़पाद के अनुसार अजातिवाद की सिद्धि होती है। [१५] गौड़पाद के अनुसार परमार्थतः जगत् प्रपंच मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि कारणब्रह्म से पृथक् रूप से यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि पृथक् रूप से उत्पत्ति असम्भव है, अतः सभी वस्तुओं को अजात ही कहा जा सकता है। नागार्जुन के ही समान वस्तुओं में गौड़पाद विरोध दिखाते हैं। आचार्य गौड़पाद ने माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य नामक द्वितीय प्रकरण में भाव वस्तुओं को स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। जिस प्रकार स्वप्न-वस्तुएं अन्तःस्थ होती हैं, उनमें बाह्यता नहीं होती फिर भी वे स्वाप्निक वस्तुएं बाह्य वस्तुओं के समान भासने लगती हैं, उसी प्रकार जाग्रदवस्था की वस्तुओं को समझना चाहिए। स्वाप्निक वस्तुएं तथ्यहीन हैं, अतः स्वाप्निक वस्तुओं के ही समान जाग्रद् वस्तुएं भी तथ्यहीन हैं। वे वितथ हैं। [१६] आचार्य शंकर ने गौड़पाद की उक्त २.१ कारिका भाष्य में वितथ के भाव को वैतथ्य कहा हैं। [१७] वैतथ्य असत्य है, अर्थात् जिसमें तथ्यता नहीं। जो अतथ्य है वही वैतथ्य-असत् है। स्वाप्निक वस्तुएं जब तक स्वप्न दर्शन होता रहता है तब तक दिखाई देती हैं, तभी तक उनकी सत्ता है। स्वप्नोत्थित व्यक्ति के लिये स्वाप्निक वस्तुएं उसी समय अर्थात् जागते ही मिथ्या दिखाई देती हैं, अर्थात् जाग्रत ज्ञान से स्वप्न का ज्ञान बाधित होता है, अतः बाधित होने के कारण भी स्वाप्निक वस्तुएं मिथ्या हैं। आचार्य गौड़पाद वैतथ्य प्रकरण की तृतीय कारिका में स्वाप्निक वस्तुओं को मिथ्या सिद्ध करने के लिये श्रुति से भी प्रमाण उद्धृत करते हैं। श्रुति में कहा गया है कि स्वप्न में रथ, उसके वाहन अश्व एवं रथमार्ग नहीं होते, फिर भी वे वस्तुएं स्वप्न में दिखाई देती हैं, किन्तु वे सभी मनःकल्पित हैं, सत्य नहीं। [१८] आचार्य गौड़पाद द्वारा दिये गये स्वप्न-दृष्टान्त को लेकर आचार्य शंकर ने वैतथ्य प्रकरण के चतुर्थ कारिकाभाष्य में स्वाप्निक वस्तुओं के समान जाग्रत वस्तुएं भी मिथ्या हैं—सिद्ध किया है। स्वप्न और जाग्रत के समान धर्म दृश्यत्व हेतु से आचार्य शंकर ने स्वाप्निक वस्तुओं के समान जाग्रत वस्तुओं का भी वैतथ्यानुमान किया है। जाग्रतदृश्य वैतथ्य हैं (प्रतिज्ञा) दृश्यत्वात् (हेतु) स्वप्न दृश्यभाव के समान (दृष्टान्त)। स्वप्न में दृष्टभाव वस्तुयें दृश्य हैं और वे वैतथ्य अर्थात् मिथ्या हैं। जाग्रत वस्तुओं में भी दृश्यत्व है, अतः दृश्यत्वेन वे भी वैतथ्य हैं, क्योंकि दृश्यत्व हेतु दोनों में समान रूप से विद्यमान है, अतः

---

१५. भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते। विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते। गौड़पाद का० ४।४ पृ० १५९।

१६. वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिण:। मान्डूक्य कारिका २।१ पृ० ६५। गौड़पाद, आनन्दाश्रम, पूना १९२१।

१७, वितथस्य भावो वैतथ्यम् असत्वमित्यर्थ:। माण्डूक्य कारिका २।१ पृ० ६५।

१८. अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्। वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहु: प्रकाशितम्। २।३। पृ० ६८।

हेतुबल से मिथ्यात्व ही समान रूप से दोनों में सिद्ध होगा।[१९] यहां पर स्वप्न दृश्य वस्तुओं के समान जाग्रत वस्तुओं को कहने का अर्थ यह नहीं कि जाग्रत और स्वप्न में अन्तर ही नहीं है। स्वप्न और जाग्रत में अन्तर आचार्य गौड़पाद को भी स्वीकार्य है। जाग्रत् स्वप्न दोनों अवस्थाओं में वस्तुएं मिथ्या हैं किन्तु मिथ्या में भी जिस प्रकार परवर्ती अद्वैताचार्य स्वप्न को प्रातिभासिक एवं जाग्रत को व्यावहारिक कहते हैं, उसी प्रकार की व्यवस्था गौड़पाद में भी पाते हैं। गौड़पाद के अनुसार भी स्वप्न-दृष्ट वस्तुएं जाग्रत वस्तुओं से कुछ वैधर्म्य भी रखती हैं। स्वप्नदृष्ट वस्तुएं व्यक्तिगत और मनोराज्य की वस्तुयें हैं। स्वप्न जिस व्यक्ति को दिखाई देता है उसी तक सीमित होता है, किन्तु जाग्रत वस्तुएं घटादि राम, श्याम सभी के लिए समानरूप हैं। सभी के समान व्यवहार में आने वाली हैं। स्वाप्निक वस्तुएं उसी स्वप्नद्रष्टा को ही सुखी या दुःखी करती हैं, न कि पास में सोये दूसरे व्यक्ति को। इसी कारण स्वप्न व्यक्तिगत है, किन्तु जाग्रत सर्व-सामान्य है। जाग्रत वस्तुएं मन से बाहर स्थित हैं, यह गौड़पाद को भी स्वीकार है, क्योंकि उन्होंने स्वाप्निक वस्तुओं को चित्तकाल कहा है, अर्थात् स्वाप्निक वस्तुओं की सत्ता सभी तक है जबतक द्रष्टा स्वप्न का दर्शन करता है। स्वप्न के बाध होते ही स्वाप्निक वस्तुएं असत् हो जाती हैं। चित्त या मन के साथ ही उनकी स्थिति है। ज्ञान ही वहां पर ज्ञेय है, किन्तु जाग्रत काल की वस्तुएं चित्तकालिक नहीं। मन से बाहर अर्थात् चित्त के बाहर भी उनकी सत्ता मान्य है। बाह्य वस्तुओं को आचार्य गौड़पाद ने 'द्वय कालाः'[२०] कहा है। बाह्य वस्तुएं ज्ञान काल के अतिरिक्त परकाल में भी स्थित रहती हैं। ज्ञान के साथ-साथ बाह्य-वस्तुओं का विलय नहीं होता, अतः बाह्य वस्तुओं को स्वप्नवत् कहने का तात्पर्य व्यावहारिक और प्रातिभासिक वस्तुओं के भेद को मिटाना नहीं है, अपितु दोनों में दृश्यत्वादि समान धर्म होने के कारण ही दोनों मिथ्या हैं, इस विचार को स्पष्ट करना है। गौड़पाद दृष्टिसृष्टिवादी नहीं हैं, क्योंकि वे पूर्वोक्त प्रकार से मन से बाहर वस्तुओं की स्थिति को स्वीकार करते हैं, अर्थात् जाग्रत वस्तुएं व्यावहारिक दशा में हमारे मन द्वारा निर्मित नहीं हैं। आचार्य गौड़पाद के 'द्वयकालाः' शब्द से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि ज्ञान निरपेक्ष वस्तुएँ हैं। ज्ञान मात्र उन वस्तुओं को जानने के लिए है, न कि उत्पन्न करने के लिये। परवर्ती अद्वैताचार्यों के समान आचार्य गौड़पाद भी परिच्छिन्नत्व को 'वैतथ्यता' का हेतु मानते हैं। आचार्य गौड़पाद के अनुसार जो वस्तु आदि में नहीं है और अन्त में भी नहीं, उसकी स्थिति वर्तमान में भी नहीं है। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, वह आदि में नहीं थी इसी कारण उसकी उत्पत्ति सम्भव हुई। यही उस वस्तु का प्रागभाव है और उत्पत्ति के बाद भी वह वस्तु नहीं रहेगी। इस प्रकार उस वस्तु का प्रध्वंसाभाव भी है। एवंभूत वस्तु

१९. जग्रद्दृश्यांनां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्न-दृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। माण्डूक्य कारिका शांकर भाष्य २।४ पृष्ठ ६६।

२०. चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः। मांडूक्य कारिका २।१४ पृ० ७६

जिसके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव होते हैं परिच्छिन्न होती है। वह कालिक परिच्छिन्न है। पूर्वकाल में नहीं थी, भविष्यत् में नहीं रहेगी। इस प्रकार कालिक परिच्छिन्न वस्तुएँ यदि वर्तमान में दिखायी भी दें तो भी उनको 'वितथ' ही कहना पड़ेगा। वे तथ्यहीन हैं और तथ्यहीन होते हुए ही दिखाई देती हैं।[२१] परवर्ती आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'परिच्छिन्नत्व' को मिथ्यात्वानुमान में हेतु माना है और परिच्छिन्नत्वेन वस्तुओं को मिथ्या कहा है।[२२]

आचार्य गौड़पाद भी विश्वदर्शन अज्ञान या माया के कारण मानते हैं। वस्तुतः अनादि माया के कारण जीव सोया हुआ है, अपने स्वरूप को भूला हुआ है। माया में सुप्त होने के कारण उसे विश्वदर्शन हो रहा है। परमार्थ वस्तु का ज्ञान हुए विना द्वैतभ्रम नहीं मिट सकता। अद्वैततत्व को जानने पर ही द्वैतभ्रम दूर हो सकता है। गौड़पाद की भाषा में अनादि माया में सुप्त जीव जब ज्ञान प्राप्त करता हैं तभी शाश्वत अद्वैत तत्त्व को जान सकता है जोकि अनिद्रस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है।[२३] इस प्रकार प्रपंचज्ञान अद्वैतज्ञान से बाध्य है और बाध्यत्व ही अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का लक्षण किया गया है। गौड़पादाचार्य भी अद्वैतज्ञान से द्वैतज्ञान को बाध्य मानते हैं। परमार्थ तत्वज्ञान से घटादि वस्तुओं का वैसा ही बाध होता है जैसाकि रज्जु में सर्प का रज्जुज्ञान से, मरुजल का मरुज्ञान से, शुक्ति-रजत का शुक्ति-ज्ञान से बाध होता हैं। इसी कारण आचार्य गौड़पाद परमार्थतः प्रपंच की सत्ता नहीं मानते। प्रपंच उसके अनुसार मायामय है। एकमात्र अद्वैत ही परमार्थ है।[२४] जिस प्रकार अन्धकार में रज्जु विषयक ज्ञानाभाव के कारण सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार जगत् विकल्प है और रज्जुज्ञान से सर्पज्ञान की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार स्वात्मनिश्चय या ज्ञान से सभी अद्वैत हो जाते हैं, तब वस्तुएं पृथक् नहीं दिखायी देतीं।[२५]

ऊपर के विवरण आचार्य गौड़पाद को 'जगन्मिथ्यात्व' के प्रसंग में समझने के लिये पर्याप्त हैं। अद्वैतवाद के इतिहास में आचार्य गौड़पाद का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अद्वैतवाद का प्रधान विषय अद्वैत की सिद्धि है। एतदर्थ 'जगन्मिथ्यात्व' की स्थापना गौड़पादाचार्य ने की है। इस प्रकार अद्वैत में स्वीकृत 'मिथ्यात्व' का स्पष्ट प्रतिपादन आचार्य गौड़पाद की कारिका में प्राप्त है। यद्यपि प्रातिभासिक व्यावहा-

---

२१. आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा
वितथैः सदृशाः सन्तो वितथा इव लक्षिताः।
माण्डूक्य कारिका २।६। पृ० ७०।

२२. मिथ्यात्वलक्षण—अध्याय ४ द्रष्टव्य।

२३. अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।
माण्डूक्य-कारिका १।१६। पृ० ५०।

२४. मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। माण्डूक्य-कारिका। १।१७। पृ० ५२।

२५. माण्डूक्य-कारिका २।१७। तथा २।१८। पृ० ८१, ८२।

रिकादि सत्ताविवेचन स्पष्ट रूप से कारिका में नहीं है, तथापि बीजरूप से मानकर उनकी भी व्याख्या दी जा सकती है। आचार्य गौड़पाद विश्व की व्यावहारिक वस्तुओं की सत्ता का अपलाप नहीं करते; व्यावहारिक वस्तुओं की सत्ता सापेक्ष है और वस्तुएं परिच्छिन्न हैं, अतः तथ्यहीन हैं, यही आचार्य गौड़पाद का कथन है। परवर्ती अद्वैत आचार्यों ने जगत् की व्यावहारिकता पर अधिक बल दिया है। यह बात आचार्य गौड़पाद में कम मिलती है।

हमने संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण में अद्वैत वेदान्त के 'मिथ्यात्ववाद' की संगति वेद-उपनिषदों से दिखाने का प्रयास किया है। यह इसीलिये किया गया है क्योंकि स्वयं अद्वैताचार्य अपने मिथ्यात्ववाद को वैदिक कहते हैं। प्रायः सभी अद्वैताचार्य अज्ञान और द्वैतमिथ्यात्व की सिद्धि के प्रसंग में श्रुतिप्रमाण अवश्य दिया करते हैं। ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त के उक्त मन्त्र में सदसत् के निषेध का अर्थ अनिर्वचनीय है—यह अर्थ सायणाचार्यकृत है। इसी प्रकार उपनिषदों में नानात्व निषेधक श्रुतियों का अर्थ भी द्वैत मिथ्यात्वपरक आचार्य शंकर के अनुसार ही किया गया है। इस विवेचन से यह बात अवश्य दिखायी जा सकती है कि आचार्य शंकर आचार्य गौड़पाद से प्रभावित हैं। आचार्य गौड़पाद ने जगत्मिथ्या या वैतथ्य का प्रतिपादन करके अद्वैत की स्थापना की है। आचार्य शंकर भी अद्वैत की स्थापना के लिए युष्मदस्मत् के सम्बन्ध को अध्यासिक और मिथ्या कहते हैं। आचार्य शंकर आचार्य गौड़पाद से प्रभावित हैं, उधर आचार्य गौड़पाद शून्यवाद के सांवृतिक वाद से प्रभावित हैं। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त के मिथ्यात्ववाद का मूल वेद-उपनिषदों को स्वीकार कर लेने पर भी उसका विकास बौद्ध-शून्यवाद में हुआ है। और शून्यवाद में स्वीकृत सांवृतिक सत्य ही आचार्य गौड़पाद की माण्डूक्य कारिका में 'द्वयकालाः' वस्तुएं हैं।

ऊपर के अध्ययन से मेरी यह धारणा है कि आचार्य शंकर अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध-दर्शन के संवृतिवाद से प्रभावित हुए हैं। उनके ऊपर वेद-उपनिषदों एवं आचार्य गौड़पाद का प्रत्यक्ष प्रभाव है, अतः मिथ्यात्व की धारणा का मूल वेद-उपनिषद् हैं उसमें भी नानात्व-निषेधक तथा वाचारम्भण श्रुतियां इस धारणा का स्रोत हैं। परवर्ती अद्वैतवेदान्ताचार्यों ने इस 'मिथ्यात्ववाद' का विकास किया है। शंकर के अनुसार 'नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार:' (ब्र०सू०भा० पृ० १७) यह लोक व्यवहार स्वभाविक है, अतः व्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी मान्यता के आधार पर ही शंकरोत्तराद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने त्रिविधसत्ता का प्रतिपादन किया है। वैष्णव-वेदान्ती शंकर को विषयिनिष्ठ प्रत्ययवाद की ओर धकेलना चाहते थे, जिस कारण परवर्ती आचार्यों को व्यावहारिक सत्ता और व्यावहारिक वस्तुओं की मान्यता का प्रतिपादन करना पड़ा एवं अद्वैतवेदान्त को उक्त आचार्यों ने विषयनिष्ठ या व्यावहारिक वस्तुवादी प्रत्ययवाद सिद्ध किया। व्यवहारकालीन वस्तुसत्ता को स्वीकृति देने के लिए पद्मपाद, प्रकाशात्मयति, अद्वैतसिद्धिकारादि आचार्यों को सदसद् विलक्षण वस्तु की ख्याति करनी पड़ी।

मिथ्यात्वनिरूपण ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से

अध्यास और ख्यातिवाद

(क) अध्यास

आत्मा चेतन और देह जड़ है। जड़ और चेतन इन दोनों के धर्म भिन्न, एक-दूसरे के विपरीत हैं। चेतन का धर्म प्रकाश अर्थात् ज्ञान और जड़ का धर्म जड़ता है। आत्मा और शरीर या विषयी और विषय दोनों विपरीत धर्मवाले होते हुए भी एक-दूसरे के धर्मों को एक-दूसरे में मानना अज्ञान के ही कारण है। अज्ञान के कारण अध्यास और अध्यास के कारण शरीर इन्द्रिय के धर्मों को आत्मा के धर्म मान कर अज्ञानी पुरुष 'मैं कृश हूँ', मैं अन्धा हूँ' इत्यादि शरीरेन्द्रिय के धर्मों को आत्मा में आरोपित करते हैं।[1] भाष्यकार ने एवंप्रकार अध्यास को 'मिथ्याज्ञान निमित्त' कहा है ।[2] विवरणकार प्रकाशात्मयति ने अध्यास का उपादान मिथ्या अज्ञान को ही कहा है। अन्य दोषों को अध्यास के निमित्तकारण बतलाया है।[3] इसी मिथ्याज्ञान का विग्रह करते हुए आचार्य पद्मपाद ने पंचपादिका में 'मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्' कहा है अर्थात् अज्ञान मिथ्या है ।[4] यही मिथ्या अज्ञान अध्यास का कारण है । भाष्यकार का कथन है कि अनादि मिथ्याज्ञान के कारण चिदात्मा और जड़-देहादि वस्तुओं में जो विभेद है उसे भ्रान्तदर्शी भूल जाता है और सत्य मिथ्या को मिला करके दोनों के धर्मों को भी मिलाकर अनुभव करता है । इसी सत्यानृत मिथुन को ही चिदचिद् ग्रन्थि या अध्यास कहते हैं। भाष्यकार की उक्ति की व्याख्या करते हुए भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि मिथ्या अज्ञान के कारण जो सब जागतिक व्यवहार चल रहे हैं और जिन्हें लोक में सत्य माने रहे हैं, वे सभी व्यवहार अध्यासमूलक हैं।[5] जबतक अध्यास है तब तक वे व्यवहार भी हैं। अज्ञान अनादि है, अतः अध्यास भी अनादि है। ये जितने भी 'मैं और मेरा' व्यवहार है जड़-चेतन के अविवेक मूलक हैं। जबतक आत्मा अनात्मा के विवेकज्ञान का उदय नहीं होगा तब तक अज्ञान का नाश नहीं होगा और अध्यासपूर्वक ही सभी व्यवहार चलेंगे ।

---

१. भाष्य भामती पृ० १० ।

२. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य पृ० १६ ।

३. पंचपादिका-विवरण पृ० ७१, ७२—पद्मपाद, मद्रास, १९५८ ।

४. पंचपादिका पृ० २६ ।

५, भाष्यभामती—पृ० १६ निर्णय सागर, बम्बई, १९३८ ।

अध्यास शब्द का अर्थ है 'अधिकृत्य आस्ते' अर्थात् जिस वस्तु की प्रतीति हो रही है, वह वहां पर नहीं है, किन्तु वह अन्य एक वस्तु को अवलम्बन करके प्रतीत हो रही है। इस अध्यास का लक्षण आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में 'स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास:'[६] इस प्रकार दिया है। भाष्यकार के उक्त लक्षण में 'अवभास' पद की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'अवभासोऽध्यास:' इस प्रकार अध्यास का संक्षिप्त लक्षण स्वीकार किया है। स्मृतिरूप, परत्र और पूर्वदृष्ट इन तीन पदों द्वारा लक्षण को अतिव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त करके उस का विश्लेषण किया गया है, यही वाचस्पति का मत है।[७] 'अवभास' पद 'अव' उपसर्ग पूर्वक भास धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। भास धातु का अर्थ है प्रकाश; ज्ञान ही एकमात्र स्वप्रकाश वस्तु है: इसलिये भास धातु से भाववाच्य में घञ् प्रत्यय करने पर भास का अर्थ होगा ज्ञान या प्रकाश। कर्मवाच्य में उक्त प्रत्यय करने पर 'भास' से प्रकाशित वस्तु-अर्थात् ज्ञेय वस्तु समझी जायेगी। 'अव' उपसर्ग के द्वारा यहां पर अवसाद या अवमान समझना चाहिये। ज्ञान और ज्ञेय का अवसाद। अवसाद को प्राप्त होने वाला ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही अवसन्न हैं। अवसाद का अर्थ है बाध। जो वस्तु या ज्ञान परक्षण में बाधित हो, वह अवसन्न है। परभावी अन्य ज्ञान द्वारा पूर्व उत्पन्न ज्ञान का बाध होना 'अवसाद' है। शुक्ति-रजत-ज्ञान होने पर परवर्ती 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाधक यथार्थ-ज्ञान के उदय होने पर उक्त रजत-ज्ञान और ज्ञेय रजत की अनुवृत्ति नहीं होती। अवमत का अर्थ प्रातिभासिक रजत को दृष्टि में रखकर किया गया है। इस का अर्थ है व्यावहारिक कार्यक्षमता का अभाव। जब तक शुक्ति में रजत-विभ्रम होता है, तब तक रजत को लेने की प्रवृत्ति होती हैं, परन्तु ज्ञान के द्वारा उस के बाध होने पर रजत के लिये प्रवृत्ति नहीं होती, ज्ञान से उस का तिरस्कार हो जाता है।[८] पूर्वोक्त 'अवसाद' और 'अवमान' द्वारा भास-अर्थात् रजत-ज्ञान और रजत-ज्ञेय दोनों ही मिथ्या हैं, यह सिद्ध होता है, क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार ज्ञेय मिथ्या है और उस ज्ञेय विषयकज्ञान भी मिथ्या विषयक होने के कारण मिथ्या है। आचार्य ने अध्यास को मिथ्या कहा है।[९] अध्यस्त विषयविषयक ज्ञान ही अध्यास है। उस अध्यास का कारण अनादि मिथ्या अज्ञान है। इस प्रकार उपादान के मिथ्या होने के कारण अध्यासज्ञान मिथ्या है और अध्यस्त विषय मिथ्या होने के कारण तद्विषयकत्वेन भी अध्यासज्ञान मिथ्या है। अन्यथाप्रकाश को अध्यास और अन्यथाप्रकाश्य को अध्यस्त कहते हैं और अध्यास एवं अध्यस्त दोनों ही मिथ्या हैं। शुक्ति-रजत के समान ही अद्वैतवाद के अनुसार व्यावहारिक रजत भी मिथ्या है,

---

६. ब्रह्मसूत्रशांकर-भाष्य—पृ० १७, १८ निर्णय सागर १९३८।

७. भाष्यभामती—पृ० १८, १९, ३० ,, ,, १९३८।

८. अवसाद उच्छेद : अवमानो यौक्तिकतिरस्कार:। वेदान्तकल्पतरु—पृ० ११८, निर्णय सागर, १०३८।

९. अध्यासो मिथ्येति। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० १५

क्योंकि व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक दोनों ही का मिथ्यात्व अभीष्ट हैं, इन में से प्रातिभासिक रजत का मिथ्यात्व अन्य दार्शनिक भी मानते हैं। इस कारण प्रातिभासिक रजत को दृष्टान्त बनाकर व्यावहारिक पदार्थों की मिथ्यात्वसिद्धि की गई।

'अवभास' पद के साथ 'पूर्वदृष्ट' पद समासयुक्त हैं। 'भास' पद के समान ही 'पूर्वदृष्ट' पद के दो अर्थ हैं। दृश् धातु से भाववाच्य में घञ् प्रत्यय करने पर पूर्ववर्ती दर्शन और कर्मवाच्य में घञ् करने पर पूर्व में दृष्टवस्तु अर्थ होते हैं, अर्थ होगे पूर्ववर्ती दर्शन के समान दर्शन का ज्ञान (प्रकाश) और पूर्व में दृष्ट ज्ञेयवस्तु के समान वस्तु की प्रतीति ही 'पूर्वदृष्टावभास'। इसके साथ 'परत्र' और स्मृतिरूप पदों को जोड़ने पर अर्थ होगा 'परत्र अर्थात् अन्य किसी अपेक्षाकृत सत्यवस्तु में पूर्व-दृष्ट किसी वस्तु या ज्ञान के संस्कार के कारण जो प्रतीति है, वही अध्यास है'। इस से भ्रमज्ञान का स्वरूप और उसके विषय के स्वरूप का प्रकारान्तर से कथन हुआ, अर्थात् जगत्-प्रपंच-विषयक भ्रांति एवं भ्रांति के विषय का भी कथन हो गया। 'पूर्वदृष्टावभास' में दृष्ट पद से दर्शनमात्र आवश्यक है। पूर्वदर्शन या पूर्वदृष्ट दृश्य सत्य हो, इसका आग्रह नहीं है। प्रतीतिमात्र की आवश्यकता है।[१०] इस प्रकार पूर्व दृष्टावभास की यह अनादि परम्परा है। वाचस्पतिमिश्र ने आरोप्य और आरोप को मिथ्या और आरोपाधिष्ठान को सत्य कहा हैं।[११] ऐसा कहने का कारण आचार्य वचन है। भाष्यकार ने अध्यास को सत्य-मिथ्या का मिलन कहा है।[१२] भामतीकार ने भाष्यवचन का अनुसरण करके सत्य-अनृत पदों को क्रमशः आरोपाधिष्ठान और आरोप के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार अधिष्ठान अर्थात् आरोप का विषय आपेक्षिक सत्य होता है। 'परत्र' पद से भाष्यकार ने आपेक्षिक सत्य अधिष्ठान की ही बात कही है, यही वाचस्पतिमिश्र का तात्पर्य है। भाष्यकार के सत्य-अनृत मिथुनीकरण की व्याख्या में भामतीकार का यह आग्रह है कि 'परत्र' का अर्थ आपेक्षिक सत्याधिष्ठान लिया जाय, शुक्ति-रजत-भ्रम में और ब्रह्मजगद्भ्रम में ठीक बैठता है। शुक्ति-रजत-भ्रम में रजत आरोपणीय है और रजत-ज्ञान आरोप है, दोनों ही मिथ्या—अनृत हैं क्योंकि शुक्ति-अपेक्षया उसकी सत्ता न्यून है, अर्थात् प्रातिभासिक है। शुक्ति की सत्ता व्यावहारिक है, इसलिये आपेक्षिक सत्याधिष्ठान हुआ। इसी प्रकार ब्रह्म में जगद्भ्रम की स्थिति में जगत् की सत्ता व्यावहारिक है, अतः मिथ्या है, एवं ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक होने के कारण सत्य है, यही 'परत्र' पद से सत्याधिष्ठान अपेक्षित है, किन्तु अन्योन्याध्यास स्थल में उक्त प्रकार से सत्य अनृत का निर्वाह नहीं हो पाता। देहादि में आत्मा का अध्यास और आत्मा में देहादि का अध्यास-अन्योन्याध्यास है। इस प्रकार के अध्यास स्थल में जब देहादि में आत्मा का अध्यास होता है, उस स्थिति में आरोपणीय वस्तु आत्मा है, वह अनृत नहीं है एवं देहादि पदार्थ आत्मापेक्षया सत्य नहीं

१०. तस्य च दृष्टत्वमात्रमुपयुज्यते न वस्तुसत्तेति। भाष्यभामती—पृ० १८

११. तत्र पूर्वदृष्टंस्वरूपेण सदप्यारोपणीयतयानिर्वाच्यमनृतम्। आरोपविषयं सत्यमाह परत्रेति। वही।

१२. सत्यानृते मिथुनीकृत्य। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० १८।

है। इस पर यदि आत्मा का अध्यास न मानकर सम्बन्ध का ही अध्यास मानें तो भी अन्योन्याध्यास का निर्वाह नहीं हो पाता, क्योंकि सम्बन्ध भी व्यावहारिक है, देहादि का भी, अतः सत्यानृतों का मिलन नहीं कहा जा सकता, न ही तादात्म्यसम्बन्ध-विशिष्ट आत्मा को आरोपणीय मान कर विशेषण सम्बन्धमात्र को ही अनृत मान सकते, सत्यानृत के निर्वाह के लिये आत्मा को विशेषण के साथ आरोपणीय मानना पड़ेगा तभी सत्यानृत का मिथुन हो सकता है। इसी कारण वेदान्त-कल्पतरु-परिमलकार अप्पय दीक्षित ने सत्यानृत के वर्गीकरण को अधिष्ठान और आरोपणीय का वर्गीकरण नहीं माना है। उनका कहना है कि भाष्यकार के कथन का तात्पर्य मात्र विषम सत्ता से है। एक ही सत्ता में अध्यास नहीं हो सकता। अध्यास के लिये विषमसत्ता का होना आवश्यक है। यह नहीं कि आरोपणीय ही अनृत हो और यह भी नहीं कि अधिष्ठान ही सत्य हो। जब देहादि में आत्मा का अध्यास होता है तब आत्मा पारमार्थिक और देहादि व्यावहारिक हैं, अतः विषमसत्ता हुई। इस प्रकार अन्योन्याध्यास का भी निर्वाह हो जायेगा। शुक्ति-रजत-स्थल में भी विषमसत्ताकत्व है, क्योंकि शुक्ति व्यावहारिक और रजत प्रातिभासिक है।[१३] अद्वैत-सिद्धिकार ने शुद्ध ब्रह्म को अध्यस्त या कल्पित नहीं माना है। उनके अनुसार वृत्तिरूप ज्ञान के कल्पित होने पर भी, उस वृत्ति में वृत्त्यवच्छिन्न चेतन को अध्यस्त कहने पर भी उसमें रहने वाला शुद्ध चेतन कल्पित नहीं है।[१४]

अध्यास लक्षण में इस 'परत्र' पद के द्वारा स्मृति में अतिव्याप्ति का निवारण किया है, क्योंकि स्मृतिज्ञान के लिये परत्र-अर्थात् समक्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती। कल्पतरुकार अमलानन्द स्वामी ने असंन्निहितस्य परत्र प्रतीतिरध्यासः [१५] इस प्रकार अध्यास का लक्षण दिया है। असंनिधान का अर्थ है आरोप्य के अधिष्ठान में परमार्थतः आरोप्य का असत्व, न कि देशान्तरस्थित का असत्व। वैसा मानने पर अन्यथाख्याति का प्रवेश होगा जो कि अपसिद्धान्त है, अथवा असंनिधान पद से सत्ख्याति का वारण किया गया है।[१६]

अध्यासवाद शून्यवाद नहीं है, एतदर्थ भी 'परत्र' अर्थात् साधिष्ठान भ्रम स्वीकार किया गया है, शून्यवादी भ्रम के लिये अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं मानते, किन्तु अद्वैतवाद के अनुसार भ्रम सर्वदा किसी अधिष्ठान में ही होता है, निरधिष्ठान

१३, देहादावना मन्यात्माध्यासे च व्याप्तिः ! तन्न स्वरूपतोप्यध्यस्तो देहादिः सत्यः। शबलित-रूपमात्रेणाध्यस्त आत्मा त्वसत्य इत्येवं सत्ये लक्षणानुगमस्य कर्तुमयुक्तत्वात्।
……तस्मादधिष्ठानासमसत्ताकस्यावभासो अध्यास इत्येवानुगतलक्षणम्। कल्पतरु परिमल —पृ० १६, निर्णय सागर, १६३८।

१४. अद्वैतसिद्धि— मधुसूदन। निर्णय सागर, १६१७।

१५. वेदान्तकल्पतरु पृ० १६।

१६. असंनिधानं चारोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोसत्वं न देशान्तरसत्वमिति नापसिद्धान्तः। अथवा संनिधानेन सत्ख्यातिरिह वारिता। वेदान्त-कल्पतरु—पृ० १६, २१।

भ्रम संभव नहीं।[१७] स्मृतिज्ञान भ्रम नहीं है, स्मृतिज्ञान के लिये समक्षवस्तु अर्थात् अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। एतदर्थ अध्यास लक्षण में स्मृति-पद न रखकर 'स्मृतिरूप' पद का समावेश किया गया है, इसका अर्थ है स्मृति के समान, न कि स्मृति।[१८] अब विचार्य यह है कि स्मृति के साथ समानताएँ कौन-कौन सी हैं जोकि अध्यास में हैं? स्मृति जिस प्रकार संस्कारजन्य होती है, उसी प्रकार अध्यास में भी संस्कार की आवश्यकता होती है, क्योंकि जिसने पहले कभी सर्प न देखा हो, उसे सर्पभ्रम नहीं हो सकता, इसलिये पूर्वदृष्ट होने के लिये कहा गया है। पूर्वदृष्ट होने के साथ ही उसे संस्कार के रूप में रहना चाहिये, तभी रज्जु को देखकर रज्जु की समानता के निमित्त से सर्प संस्कार उद्‌बोधित होते हैं और संमुखस्थ रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है, अतः स्मृतिरूप में संस्कार-जन्यत्व ही स्मृति के साथ समानता है।[१९] वस्तुतः स्मृति और भ्रमज्ञान में बहुत भिन्नता है। संस्कारजन्यत्व होने से समानता है। भ्रम-ज्ञान में संस्कार के साथ-साथ आगन्तुक दोष की भी आवश्यकता है, शुक्ति-रजत-भ्रम में चक्षु में काचकामादि आगन्तुक दोष हैं, जोकि उक्त भ्रम में निमित्त बनते हैं, जिस प्रकार राम और श्याम दोनों को साथ में भ्रमण करते देखने पर बाद में यदि श्याम को देखते हैं तो राम का स्मरण हो आता है और उस स्मृतिज्ञान के उद्‌बोधक श्याम का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शुक्ति-रजत-ज्ञान स्थल में भी शुक्ति-खण्ड के चाक-चिक्यादिदर्शन उद्‌बोधक हैं और दूरत्वादि दोष हैं।

इस प्रकार अध्यास का 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' निर्दुष्ट लक्षण हुआ। इसमें 'सोऽयं देवदत्तः' अथात् पाटलिपुत्र में देखा हुआ आज बनारस में 'वही देवदत्त यह है,' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान में भी अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं, क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञान में वही देवदत्त, इस समय भी संमुख में हो, तभी प्रत्यभिज्ञान होता है। भ्रम में पूर्व दृष्ट सर्प रज्जु में नहीं होता, जिससे कि सर्प का प्रत्यभिज्ञान हो, अपितु सर्प स्मृति के समान होकर अर्थात् संस्कार से उद्‌बोधित होकर रज्जु में न होता हुआ भी दिखाई देता है, अतः प्रत्यभिज्ञान से भिन्न हैं भ्रमज्ञान।[२०] इस अध्यासलक्षण के अवभास पद के अतिरिक्त अन्य पदों द्वारा भ्रमस्थल में चार ख्यातिवादों का निराकरण करके अनिर्वचनीय ख्यातिवाद का समर्थन किया गया है क्योंकि अवभास कहने से सत्ख्या-तिवाद का और परत्र कहने से निरधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद का निवारण हो जाता है। सत्ख्याति और असत्ख्याति के निराकरण द्वारा अन्य ख्यातियों का भी निराकरण हो जाता है तथा अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना हो जाती है। पंच-पादिकादि ग्रन्थों में तथा भामती में भी अनेक दृष्टान्तों सहित इस आचार्योक्त अध्यास

१७. कल्पतरु-परिमल—पृ० २०

१८. स्मृतेः रूपमिव रूपमस्य, न पुनः स्मृतिरेव। पंचपादिका—पृ० ४१

१९. अदृष्टादिसमुद्‌बोधितसंस्कारविशेषसहकार्यनुरूपं मिथ्यार्थविषयं ज्ञानमुत्पादयति। पंचपादिका —पृ० ५६ (मद्रास १९५८)

२०. भाष्यभामती—पृ० १९, २०

लक्षण को घटाया गया है। पद्मपादाचार्य कहते हैं—जैसे कि जवाकुसुम के सान्निध्य से, स्फटिक स्वच्छ होने पर भी, उसके संसर्ग से उसके धर्म की प्रतीति स्फटिक में होने लगती है, स्फटिक में लोहितिमा मिथ्या है क्योंकि स्फटिक में लोहितिमा वस्तुतः है नहीं, इसी प्रकार आत्मा में अहंकारादि का उपराग भी अध्यास है।[21] इसी प्रकार दर्पण में मुख प्रतिबिम्ब दर्शन का भी उदाहरण दिया गया है।[22] भामतीकार ने अनेक दृष्टान्तों से अध्यास को समझाने का प्रयास किया है।

हमने इतः पूर्व यह कहा है कि भामतीकार 'अवभास' को ही अध्यास का लक्षण मानते हैं, किन्तु भाष्यरत्नप्रभाकार का इस विषय में भामतीकार से मतभेद है। रत्नप्रभाकार ने 'परत्र अवभासः' इतना ही अध्यास का लक्षण माना है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत लक्षण के अन्य पदों को इस लक्षण के उपपादनार्थ माना है।[23] भामतीकार के अनुसार अवभास के दो अर्थ हैं—भाववाच्य घञ्-प्रत्ययान्त, कर्मवाच्य घञ्-प्रत्ययान्त। जिसका तात्पर्य है मिथ्याज्ञान और मिथ्यावस्तु अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनों ही अध्यस्त हैं। शुक्ति-रजत-ज्ञान भी मिथ्या तथा शुक्तिरजतार्थ भी मिथ्या है, परन्तु भाष्यरत्न प्रभाकार ने अर्थ की मिथ्यात्वसिद्धि की है। उन्होंने अवभास में कर्मवाच्य घञ्-प्रत्ययमात्र माना है।[24] रत्नप्रभाकार का लक्षण भाष्य के साथ अधिक सामंजस्य रखता है, क्योंकि भाष्यकार ने सर्वथापि अन्यत्र अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति'[25] सभी अध्यास लक्षणों में अन्यत्र अन्य धर्म की अवभासता का व्यभिचार नहीं होता, इस कथन में 'परत्र' और 'अवभास' पर जोर दिया गया है। रत्नप्रभाकार ने स्वयं अध्यस्त अर्थात् मिथ्यावस्तु का लक्षण प्रस्तुत किया है—'एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम् अध्यस्तत्वम्[26]' अर्थात् एक ही अंश में निज के साथ संसृष्ट करके जो प्रतीत हो, फिर भी अत्यन्ताभावयुक्त जो वस्तु, उसमें जो अवभासित हो, वही अध्यस्त है। यह अध्यस्त विषय के स्वरूप का लक्षण है, न कि अध्यासज्ञान के स्वरूप का। शुक्ति रजत में 'इदं रजतम्' इस प्रकार ज्ञान में रजत 'इदं' के साथ संसृष्ट सा लगता है फिर भी 'इदं' में रजत का अत्यन्ताभाव है। वह अत्यन्ताभाव युक्त वस्तु 'इदं' में प्रतिभासित हो, वह है 'रजत', वही अध्यस्त, अतः मिथ्या है। यह लक्षण भी भाष्यकार के लक्षण के साथ सामंजस्य रखता है।

अध्यास के भेद और उनकी व्याख्या:—

पूर्वोक्त अध्यास के अनेक प्रकार हैं। भाष्यकार ने स्वयं अन्योन्याध्यास,

---

२१. पंचपादिका—पृ० १०० (मद्रास १९५८)
२२. वही—पृ० १००, १०५ ,, ,,
२३. अत्र परत्रावभास इत्येव लक्षणम्। शिष्टं पदद्वयं तदुपपादनार्थम्। भाष्यरत्नप्रभा—पृ०१८
२४. अवभास्यत इत्यवभासो रजताद्यर्थः. तस्यायोग्यमधिकरणं परत्रपदार्थः। वही।
२५. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य—पृ० ३२
२६. भाष्यरत्न प्रभा—पृ० १८

धर्माध्यास, विषयाध्यास आदि अध्यास के लिये शब्द प्रयोग किये हैं।[२७] इस प्रकार अध्यास के प्रथम दो भेद किये जा सकते हैं (१) ज्ञानाध्यास, (२) अर्थाध्यास। अर्थाध्यास पुनः षड्विध है:--

१. केवल सम्बन्धाध्यास--सम्बन्ध का अध्यास-अनात्मा में आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास होता है।

२. सम्बन्ध सहित सम्बन्धी का अध्यास--जैसे आत्मा में अनात्मा के सम्बन्ध और स्वरूप दोनों का अध्यास होता है।

३. केवल धर्माध्यास—आत्मा में स्थूल देह के धर्मों का अध्यास।

४. धर्म सहित धर्मी का अध्यास—अन्तःकरण के धर्मों और स्वरूप दोनों का अध्यास आत्मा में।

५. अन्योन्याध्यास—आत्मा में अनात्मा का और अनात्मा में आत्मा का अध्यास।

६. अन्यतराध्यास-–आत्मा में अनात्मा स्वरूपतः अध्यस्त है अनात्मा में आत्मा स्वरूपतः अध्यस्त नहीं।

अथवा स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास भेद से अर्थाध्यास दो प्रकार का है। ज्ञान द्वारा बाधयोग्य वस्तु स्वरूपतः अधिष्ठान में अध्यस्त होती है, जैसे देहादि अनात्म वस्तुएँ ज्ञानबाध्य हैं और आत्मा में स्वरूपतः अध्यस्त हैं। बाध के अयोग्य वस्तु का स्वरूपतः अध्यास नहीं हो सकता, हाँ उसका अधिष्ठान के साथ संसर्ग हो सकता है। आत्मा अबाध्य है, अतः अनात्मा में आत्मा का संसर्गाध्यास होता है, स्वरूपाध्यास नहीं। इन दो अध्यासों के अन्तर्गत पूर्वोक्त षट् प्रकारक अध्यास आ जाते हैं।

अद्वैतमत में भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं, कहीं पर सम्बन्धी की उत्पत्ति—जैसे शुक्ति में रजत की, कहीं पर सम्बन्ध की उत्पत्ति-जैसे-शुक्ति-रजत में शुक्तिवृत्तितादात्म्यसम्बन्ध की। अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति को ज्ञानाध्यास और ज्ञान के अनिर्वचनीय विषय को अर्थाध्यास कहते हैं। शुक्ति में रजत की प्रतीति ज्ञानाध्यास है और शुक्ति-रजत स्वयं अर्थाध्यास है। जहाँ पर अन्योन्याध्यास होता है वहाँ पर दोनों वस्तुओं का परस्पर स्वरूपाध्यास नहीं होता, वहाँ तो आरोपित वस्तु का ही स्वरूपाध्यास होता है। सत्यवस्तु के धर्म या सम्बन्ध का अध्यास होता है। सम्बन्धाध्यास दो प्रकार का है। कहीं-कहीं पर धर्मों के सम्बन्ध का अध्यास होता है और कहीं-कहीं पर केवल सम्बन्ध का ही अध्यास होता है। शुक्ति-रजतभ्रम में शुक्ति वृत्ति इदन्तारूप धर्म के सम्बन्ध का अध्यास रजत में है। 'रक्तः पटः' में रक्तरूप धर्म के सम्बन्ध का अध्यास पट में होता है, परन्तु दर्पण में केवल मुख के सम्बन्ध का अध्यास होता है। आत्मा में अन्तःकरण के स्वरूप का अध्यास होता है, अन्तःकरण में आत्मा का स्वरूपाध्यास नहीं होता, केवल संसर्गाध्यास माना जाता है।[२८]

---

२७. विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः। ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० १० अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्यन्योधर्माश्वाध्यस्य। वही पृ० १५।

२८. पंचपादिका—पृ० ११३ (मद्रास १९५८)

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किन्तु ज्ञान का सम्बन्ध अन्तःकरण में प्रतीत होता है, इस कारण से आत्मा के सम्बन्ध का अध्यास अन्तःकरण में होता है।' 'अहं काणः' आदि व्यवहार में इन्द्रिय धर्म काणत्वादि का अध्यास आत्मा में होता है। इन्द्रियादि का आत्मा में तादात्म्याध्यास नहीं होता, क्योंकि 'अहं नेत्रं' ऐसी प्रतीति नहीं होती, इसलिए नेत्रादि अध्यस्त नहीं, उनके धर्म अध्यस्त हैं। यह धर्माध्यास का उदाहरण है। यद्यपि नेत्रादि लिखित प्रपंच का अध्यास चेतन में है तथापि 'त्वं' पदार्थ में सम्पूर्ण प्रपंच का अध्यास नहीं होता। यद्यपि सम्बन्ध भी एक प्रकार का धर्म है और उसके अध्यास को धर्माध्यास ही कहना चाहिये, न कि पृथक् सम्बन्धाध्यास, तथापि, सम्बन्ध और धर्म में कुछ अन्तर होने के कारण सम्बन्ध के अध्यास को पृथक् किया गया है। धर्म अस्वतन्त्र अन्याश्रित वस्तु को कहते हैं, किन्तु यह धर्म दो प्रकार का है। कुछ धर्म प्रतियोगी अनुयोगी प्रतीति के अधीन प्रतीत होते हैं और कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो अनुयोगीमात्र की प्रतीति-अधीन प्रतीत होते हैं एवं कभी-कभी अनुयोगी की भी प्रतीति के बिना प्रतीति के विषय बनते है—जैसेकि घटत्वादि धर्म की प्रतीति में अनुयोगी प्रतीति की आवश्यकता नहीं है। जो धर्म अनुयोगी और प्रतियोगीरूप दो सम्बन्धों पर आश्रित है, तथा दोनों से भिन्न भी है, अथवा प्रतियोगी अनुयोगी की प्रतीति के बिना जिस की प्रतीति न हो, ऐसा धर्म है सम्बन्ध; इसलिए सम्बन्ध के धर्म होने पर भी धर्माध्यास से पृथक् सम्बन्धाध्यास स्वीकार किया गया है।

'सन् घटः', 'सन् पटः' इत्यादि स्थलों में चेतन और विषय के धर्मों का अन्योन्याध्यास अर्थात् धर्मान्योन्याध्यास होता है। चेतन और विषय घटादि का अन्यतराध्यास होता है, क्योंकि सत् का विषय-घट में स्वरूपाध्यास नहीं होता। सत् के साथ संसर्गाध्यास विषय का होता है, अतएव विषय घट भी 'घट है' ऐसा भासता है। यदि घटादि पदार्थ सत् में स्वरूपतः अध्यस्त न हों तो तब घटादि अस्तित्व और भातित्व एवं प्रियत्व की प्रतीति नहीं होती। अस्ति, भाति एवं प्रियत्व धर्म सत् के हैं, घटादि के साथ सत् का संसर्गाध्यास होने के कारण उन में भी उक्त धर्मों की प्रतीति होने लगती है।[२६] परस्पराध्यास के कारण ही 'घटः सन्' 'सन् घटः', इसी प्रकार कभी घट में सत्तासंसर्ग और कभी स्वरूपाध्यास होते हैं, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच चेतन ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अध्यस्त है। इसी कारण प्रपंच में चेतन के धर्मों की प्रतीति होने लगती है।

अध्यास में अधिष्ठानसामान्य-ज्ञान के विषय में साम्प्रदायिक मतभेद—

'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम में 'इदं' शुक्ति है और उस शुक्ति का शुक्तित्वप्रकारकविशिष्टभाव से यदि ज्ञान होता है तो भ्रम नहीं होता। तब तो 'इयं शुक्ति' ही ज्ञान होगा, किन्तु जिस समय किन्हीं कारणों से शुक्ति को विशेषरूप से न जानकर मात्र 'इदम्' रूप से जानते हैं, उस समय शुक्तिगत अज्ञान-अर्थात् शुक्त्यवच्छिन्न चेतन-

२६. सदवच्छेदेन घटादिकं वत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्यसत्वादिधर्मसंसर्गश्च जायते। लघुचन्द्रिका पृ० ४५, ब्रह्मानन्द सरस्वती निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१७।

गताज्ञान के आवरण भंग न होने के कारण उस में अविद्या के विक्षेप से रजत अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है, तथा 'इदं' को रजत कह देते हैं। इस प्रकार भ्रमस्थल में प्राचीनाचार्य अधिष्ठान के सामान्यज्ञान को आवश्यक मानते हैं। यद्यपि अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति भी कही गई हैं, तथापि अधिष्ठान के सामान्यज्ञान से नहीं क्योंकि 'इदं रजतम्,' में इदं का सामान्यज्ञान प्रत्यक्षतया होता हैं और इदं के प्रत्यक्ष ज्ञान के होने पर ही उक्त भ्रम होता हैं। यदि अज्ञान की निवृत्ति मानी गई तब तो अध्यास हो ही नहीं सकता, क्योंकि अध्यास का उपादान अज्ञान है। पंचपादिका-विवरणकार ने कहा है—कि अज्ञान के रहने से अध्यास होता है, न रहने से अध्यास नहीं होता, अतः अन्वयव्यतिरेक से मिथ्या अज्ञान ही अध्यास का उपादान कारण है।[30] विवरणकार के उक्त कथन से सामंजस्य स्थापित करने के लिये अन्य आचार्यों ने कहा है कि इदमाकारवृत्ति से इदमवच्छिन्न चेतनगत अज्ञान की निवृत्ति होती है, किन्तु शुक्त्यवच्छिन्न चेतनगत विशेषाज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। इस प्रकार शुक्त्यवच्छिन्न चेतननिष्ठ अज्ञान रजतरूप से परिणत हो जाता है और इदमवच्छिन्न चेतननिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति भी बनी रहती हैं, क्योंकि इदं के साथ इन्द्रिय संप्रयोग होने के कारण उसका सामान्यज्ञान तो होगा ही, अन्यथा सामान्यज्ञान के अभाव में अध्यास ही नहीं हो पायेगा। इसलिये रजत का उपादान इदमवच्छिन्न चेतनाज्ञान न होकर शुक्त्यवच्छिन्न चेतनगत अज्ञान है।[31]

संक्षेपशारीरककार का कहना है कि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही भ्रम का अधिष्ठान हैं, इदमवच्छिन्न चैतन्य तो आधार है, क्योकि विक्षेप से युक्त अधिष्ठान होता हैं और विक्षेप के साथ भासने वाला आधार होता हैं।[32] आधारनिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति मानने पर भी अधिष्ठाननिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण तदुपादानकाध्यास संभव है। कुछ अन्य आचार्यो का मत है कि इदमवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठाज्ञान ही अध्यास का अधिष्ठान है। इदं के साथ इन्द्रिय संप्रयोग से मात्र उक्त अज्ञान के आवरणांश की निवृत्ति होती है न कि विक्षेपांश की, अतः विक्षेपांश ही रजतरूप से परिणत होता है। जीवन्मुक्ति अवस्था में अधिष्ठान साक्षात्कार से अज्ञान की आवरणशक्ति की निवृत्ति होती है, विक्षेपशक्ति की अनुवृत्ति रहती है उसी प्रकार रजताध्यास में भी समझना चाहिये।[33]

नृसिंह भट्टोपाध्याय उक्त मत को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार 'इदं रजतम्' स्थल में अधिष्ठान के सामान्यज्ञान की आवश्यकता ही नहीं। उनका कहना

---

३०. तस्मिन् सति अध्यासस्य उदयात् असति च अनुदयात् इति ब्रूमः। पंचपादिका विवरण पृ० ६४, ६५, प्रकाशात्मयति, मद्रास १६५८।

३१. इदमाकारवृत्या इदमंशाज्ञाननिवृत्तावपि शुक्तित्वादि विशेषांशाज्ञानानिवृत्तेः तदेव रजतोपादानम्। सिद्धान्तलेशसंग्रह पृ० २१५ अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, सं० २०११।

३२. वही पृ० २१६

३३. वही पृ० २१७, २१८

है इदं रजतम् में दो ज्ञान है ही नहीं, क्योंकि इदं और रजतम् इस प्रकार का अनुभाव ही नहीं होता। अध्यास में मात्र दुष्टेन्द्रिय संप्रयोग ही कारण है, न कि अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान।[३४]

इस मत को विवरणाचार्यादि प्राचीन अद्वैत वेदान्तियों ने नहीं स्वीकार किया क्योंकि उपाध्याय का मत उनके विरुद्ध पड़ता है। उपाध्याय के मत में ज्ञानाध्यास अर्थात् रजतज्ञानरूप अध्यास नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इन्द्रियसंप्रयोगमात्र उनके मत में अध्यास का हेतु है। उनके मतानुसार अहंकारादि अध्यास की उपपत्ति नहीं होगी क्योंकि वहाँ पर अधिष्ठान साक्षीचेतन के नीरूप होने के कारण ऐन्द्रियसंप्रयोग संभव नहीं। इसी प्रकार उपाध्याय के मत में स्वप्नाध्यास भी संभव नहीं हो पायेगा, क्योंकि स्वप्न भी साक्षीभास्य है, अतः वहाँ पर भी साक्षी के साथ ऐन्द्रिय संयोग संभव नहीं। वस्तुतः इस विषय में अधिष्ठानसामान्यज्ञान सापेक्षत्व सिद्धान्त ही अधिकांश अद्वैताचार्यों को स्वीकार्य है।

(ख) भ्रमस्थल में विभिन्न ख्यातिवाद--

उक्त भ्रमस्थल में दार्शनिकों के बीच मतभेद हैं। विशेषकर अद्वैतवेदान्त से अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को अन्य दार्शनिक स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं। परमसत्ता के विषय में दार्शनिकों की धारणाएं भिन्न-भिन्न हैं। सत्तासम्बन्धी अपनी-अपनी धारणा के साथ ही भ्रम स्थान में भी सैद्धान्तिक मतभेद आवश्यक हैं। अद्वैतवेदान्त के प्राचीन ग्रन्थों में अर्वनिचनीय ख्याति सहित पंचख्याति का उल्लेख है। उन ख्यातियों के नाम है —

१—असत्ख्याति—शून्यवादी बौद्धों का मत।
२—आत्मख्याति--विज्ञानवादी बौद्धों का मत।
३--अख्याति--मीमांसक प्रभाकर का मत।
४--अन्यथाख्याति--न्याय का मत।
५--अनिर्वचनीयख्याति—अद्वैतवेदान्त का।

इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्ममुनि ने इष्टसिद्धि में संक्षेपतः ख्याति तीन प्रकार की बतलाई है। (१) सत्ख्याति, (२) असत्ख्याति एवं (३) सदसदनिर्वचनीय ख्याति।

अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना करते हुए विमुक्तात्मा कहते हैं कि यदि 'इदं रजतम्' इस भ्रान्तिस्थल में रजत असत् है तो उसकी ख्याति नहीं होनी चाहिये और यदि सत् है तो उसका 'नेदं रजतं' करके बाध नहीं होना चाहिये,[३५] ख्याति और

---

३४. वही पृ० २१८, २१६

३५. रजतं भाति यद् भ्रान्तौ तत्सदेके परे त्वसत्।
अन्येऽनिर्वचनीयं तदाहुस्तेन विचार्यते ॥
असतः ख्यात्ययोगात् सद्बाधायोगादसत्सत्।
अतोऽनिर्वचनीयं तदिति पक्षेषु युक्तयः ॥ इष्टसिद्धि १,२,३. पा० ३६ विमुक्तात्मा, बड़ोदा १६३३।

बाध दोनों सिद्ध करते हैं कि रजत अनिर्वचनीय है। भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में अष्ट-ख्यातियों का उल्लेख किया है—

१—अख्याति—निरालम्बन ख्याति ही अख्याति है (माध्यमिक)
२—असत्ख्याति—असदवलम्बन ख्याति असत् ख्याति है
(माध्यमिक एकदेशी)।
३—प्रसिद्धार्थख्याति—(चार्वाक)
४—अलौकिकार्थख्याति—(भट्टोम्बेक प्रमुख)
५—स्मृतिविप्रमोषख्याति (प्राभाकर)
६—आत्मख्याति—(सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार)
७—सदसत्वाद्यनिर्वचनीय ख्याति—(अद्वैतवेदान्ती)
८—विपरीतख्याति—(न्याय)।

परवर्ती काल में रामानुज सम्प्रदाय का सत् ख्यातिवाद, माध्व का असत्ख्यातिवाद (इसे साधिष्ठानक असत्ख्यातिवाद कहा गया है) प्रसिद्ध हुए हैं। साँख्यदर्शन द्वारा सदसत्ख्याति स्वीकृत है। इस प्रकार नव ख्यातिवादों की भ्रम स्थल में चर्चा मिलती है, परन्तु इनमें से अद्वैतग्रन्थों में पंचख्यातियों की ही अधिक चर्चा है।

भासर्वज्ञ ने निरालम्बन अख्याति की चर्चा की है जोकि अन्यत्र चर्चित नहीं है। भासर्वज्ञ ने उक्त मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए कहा है कि मरुस्थल में जल-ज्ञान में जल की सत्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जल का ग्रहण होना चाहिये। मरीचि भी जल का रूप धारण नहीं करती, क्योंकि वे उससे भिन्न हैं। अतः निरालम्बन ही मरुस्थल जल है। इसी प्रकार चार्वाक के प्रसिद्धार्थ ख्याति में भ्रम माना ही नहीं गया, क्योंकि उनके अनुसार भ्रमस्थल में भी तत्कालीन प्रमाणसिद्ध वस्तु की ही प्रतीति होती है। इन दोनों ख्यातिवादों के खण्डन में उन्होंने युक्तियाँ भी दी हैं।[३७] इन दोनों के अतिरिक्त बाकी ६ ख्यातिवाद बहुधा चर्चित हैं। उनकी चर्चा हम क्रमशः करेंगे।[३८]

अनिर्वचनीयवस्तुज्ञान की प्रक्रिया एवं अनिर्वचनीय ख्याति

अद्वैतवाद के अनुसार प्रमाज्ञानस्थल में अन्तःकरणवृत्ति नेत्रादि द्वारा बहिर्गत होकर विषय में जाकर विषयाकार में परिणत हो जाती है। वेदान्त परिभाषाकार ने कहा है कि अन्तःकरण वृत्ति कुल्यात्मना बहिर्देश को जाकर अन्तः-करण और विषय दोनों को सम्बन्धित करती है।[३९] उक्त प्रकार से वृत्ति के बहिर्गमन

---

३६. न्यायभूषणम् (टिप्पणी सहित) पृ० २६, भासर्वज्ञ, षड्दर्शन प्रका० वाराणसी, १९६८।

३७. न्यायभूषण पृ० २६,२७

३८. प्रमेयकमलमार्तण्डकार प्रभाचन्द्र ने अख्यातिवाद को चार्वाक का मत बतलाया है। सांख्यभास्करादि को प्रसिद्धार्थख्यातिवादी एवं प्रभाकर को स्मृतिप्रमोषख्यातिवादी कहा है।
प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४८ प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४१।

३९. वेदान्तपरिभाषा-पृ० २३, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, स० २०११।

एवं विषयाकार परिणति से ही विषय का अज्ञानावरण भंग होता है, तभी विषय ज्ञात होता है। किन्तु जब रज्जु में सर्पभ्रमस्थल में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बहिर्गमन करके रज्जु देश में पहुंच कर भी तिमिरादि दोष के कारण रज्जुगत अज्ञानावरण भंग करने में समर्थ नहीं होती, तब उक्त वृत्ति रज्जु आकार में परिणत नहीं हो पाती।[४०] जब अन्तःकरण वृत्ति रज्जु में आवरण भंग नहीं कर पाती तब रज्ववच्छिन्न चेतनगताज्ञान में क्षोभ उत्पन्न होता है और वह अज्ञान सर्पाकार से परिणत हो जाता है। रज्जुसर्पभ्रम जिस प्रकार सर्प अविद्या का परिणाम है उसी प्रकार उस रज्जुसर्पविषयक ज्ञान भी–अर्थात् वृत्तिज्ञान भी अविद्या का परिणाम है। इसी कारण सर्पज्ञान भी अनिर्वचनीय है। रज्जुज्ञान से सर्प और सर्पज्ञान दोनों का बाध हो जाता है। रज्जु—उपहित चेतनस्थ तमोगुणप्रधान अविद्या का परिणाम सर्प और साक्षी चेतनस्थ अविद्या के सत्वगुण का परिणाम वृत्तिज्ञान है। रज्जुचेतनस्थ अविद्या का परिणाम जब सर्पाकार होता है, तभी साक्षी आश्रित अविद्या का ज्ञानाकारपरिणाम होता है। इस प्रकार भ्रमस्थल में सर्पादि विषय और उसका ज्ञान दोनों एक ही समय में उत्पन्न होते हैं एवं रज्जु आदि अधिष्ठानज्ञान से एक ही समय में लीन भी हो जाते हैं, इस प्रकार सर्पादि भ्रम में बाह्य अविद्यांश सर्पादि का उपादान और साक्षीचेतनाश्रित अविद्यांश आन्तर वृत्तिज्ञान का उपादान है।[४१] स्वप्न में साक्षी–आश्रित अविद्या के तमोगुणांश का विषयरूप परिणाम होता है और उक्त अविद्या के सत्वगुण का ज्ञानरूप परिणाम होता है, अतः स्वप्न में अन्तःस्थ अविद्या ही विषय और ज्ञान दोनों का उपादान कारण होती है, इसी कारण बाह्य रज्जु सर्पादि पदार्थ एवं आन्तर स्वाप्निक पदार्थ साक्षी-भास्य कहलाते हैं। अविद्या वृत्ति द्वारा साक्षी जिसका भासक होता है उसे साक्षी-भास्य कहते हैं।

अनिर्वचनीय-ख्याति :—

अब तक के विवरण से यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैतवेदान्ती भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीयख्याति द्वारा करते हैं। अभी हमने यह दर्शाया है कि भ्रमस्थल का विषय एवं ज्ञान दोनों ही अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय वस्तु एवं तद् द्वारा उद्‌बोधित अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अनिर्वचनीय वस्तु एवं ज्ञान की उत्पत्ति भ्रमस्थल में क्यों मानी जाय—इस पक्ष में युक्तियाँ तत्तत् ख्यातिवादों के प्रत्याख्यान में एवं तदुपरान्त प्रदर्शित की जायेंगी। इस समय इस प्रसङ्ग में अनिर्वचनीयता क्या है—विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि परवर्ती अद्वैताचार्यों ने इस पर पर्याप्त विचार किये हैं।

चित्सुखाचार्य ने अनिवर्चनीयत्व का लक्षण करते हुए तत्वप्रदीपिका में पूर्व पक्ष की ओर से दो कोटियाँ प्रस्तुत की हैं। पूर्वपक्ष का कहना है कि "अनिवर्चनीयता' से सिद्धान्ती का तात्पर्य क्या (१) निरुक्ति विरहता से या (२) निरुक्ति निमित्त रहि-

४०. सिद्धान्तलेशसंग्रह पृ० २१५

४१. सिद्धान्तलेशसंग्रह पृ० २१७

तता से है ? [४२] दोनों ही पक्ष असंगत हैं, क्योंकि अद्वैतवादी जब रजत अनिर्वचनीय है, ऐसा कथन करते हैं तब निर्वचन होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता नहीं रह पाती। द्वितीय विकल्प में दो बातें हैं—निरुक्ति–निमित्तरहितता से तात्पर्य निरुक्ति के लिये ज्ञान का अभाव अथवा अर्थ का अभाव ? क्योंकि ज्ञानाभाव से भी कथन नहीं हो सकता। यदि घटज्ञान नहीं है तो घट का कथन सम्भव नहीं है। 'घटज्ञान नहीं' इतना कहने के लिए भी घटज्ञान की आवश्यता है, अन्यथा वदतोव्याघात होगा जैसेकि 'मम माता वन्ध्या'। अर्थ के अभाव से भी कथन नहीं बनता। यदि घट ही न हो तो उसका ज्ञान नहीं होगा, ज्ञान न होगा तो कथन नहीं हो सकता। इस प्रकार दो ही निमित्त हो सकते हैं, किन्तु ज्ञानाभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि अद्वैतवेदान्ती भी रजतादिविज्ञान की निरुक्ति-निमित्तता स्वीकार करते हैं।[४३] अर्थ का अभाव स्वीकार करने पर असत् ख्यातिप्रसंग होगा, [४४] क्योंकि विषयरूप से रजत का अभाव स्वीकार करने पर शून्यवादी के समान निर्विषयक रजतज्ञान स्वीकार करना होगा। इससे शून्यवाद में प्रवेश होगा। इसी प्रकार ज्ञानबाध्यत्व को अनिर्वाच्यत्व नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर संस्कार ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उत्तर संस्कार द्वारा पूर्वसंस्कार की निवृत्ति उत्तर संस्कारज्ञान से होती है। बाध्यत्व को बाधकज्ञान का विषय मानने पर अधिष्ठानभूत शुक्ति एवं ब्रह्म में भी लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। [४५] इसी प्रकार "प्रतिपन्नोपाधि में निषेध्यत्व ही अनिर्वचनीयत्व है", इस लक्षण में भी असंगति पूर्वपक्ष की ओर से दिखाई गई है, क्योंकि जब अधिष्ठानज्ञान द्वारा माया की निवृत्ति से रजत की भी निवृत्ति हो जाती है, तब निषेध्य नाम की वस्तु नहीं रह जाती, अर्थात् उसी उपाधि में निषेध का निषेध्य नहीं रहता।[४६] इसके अतिरिक्त चित्सुखाचार्य ने पूर्वपक्ष की ओर से अनुमानादि प्रमाणों का भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि में अभाव दिखाया है।[४७] आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अनिर्वचनीयत्व के लक्षण के प्रसङ्ग में पूर्वपक्ष के रूप में पूर्वोक्त विकल्पों को ही स्वल्प परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। साथ में अन्य भी विकल्प प्रस्तुत किये हैं।[४८] न्यायमकरन्दकार की व्याख्या भी इस प्रकार की है।[४९]

अनिर्वचनीयत्व में उक्त प्रकार पूर्वपक्ष करने के पश्चात् चित्सुखाचार्य ने इस का एक युक्तिसंगत लक्षण प्रस्तुत किया है। 'प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं

४२. ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वं किं निरुक्तिविरहः. किं वा निरुक्तिनिमित्तविरहः ? तत्वप्रदीपिका पृ०—७५

४३. रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादिभिरभ्युपगमात्। तत्वप्रदीपिका पृ० ७५

४४. अर्थस्य सतो विरहे सत्ख्यातिप्रसंगात् : वही।

४५, वही। चित्सुखाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५।

४६. तत्वप्रदीपिका पृ० ७६

४७. वही पृ० ७७

४८. अद्वैतसिद्धिः पृ० ६२०,६२१

४९. न्यायमकरन्द पृ० १११, आनन्दबोध, चौखम्बा, १९०७।

न यत् । गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिन :[५०], 'अर्थात् सत्व और असत्वरूप से जिस का विचार सम्भव नहीं, दोनों कोटियों को मिलाकर भी विचार जिस का सम्भव नहीं वह अनिर्वाच्य है ।'[५१] सभी प्रकार के भ्रम ऐसे ही हैं, अतः अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष नहीं हैं । निरुक्तिनिमित्तविरहता की भी आपत्ति असंगत है, क्योंकि निरुक्ति के निमित्त ज्ञान, अर्थादि के रहने पर भी सदसदादि प्रकारों से निरुक्ति संभव नहीं है, अतः अनिर्वाच्यता तो है ही । अद्वैतसिद्धिकार का लक्षण भी उक्त लक्षण के समान है ।[५२] चित्सुखाचार्य ने 'ज्ञानबाध्यत्व' लक्षण को भी अनिर्वाच्यत्व का निर्दोष लक्षण कहा है ।[५३] उन्होंने बाध का अर्थ 'प्रतिपन्नोपाधि में अभावबोधन' किया है ।[५४] इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने 'प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वं वा' [५५] कहा है । संस्कार ज्ञान का आत्मा में त्रैकालिक निषेध न होने के कारण उसमें अतिव्याप्ति नहीं है । अद्वैतसिद्धिकार ने 'सत्वरहितत्वे सति असत्वरहितत्वे सति सदसत्वरहितत्वमपि साधु'[५६] निष्कृष्ट लक्षण अनिर्वाच्यत्व का किया है, जिसके अनुसार सत्व असत्व दो कोटियों के अतिरिक्त दोनों को मिलाकर भी कथन सम्भव न होने के कारण अनिर्वाच्यत्व है । शुक्ति-रजत को यदि सत्रूप से नहीं कह सकते और असत् रूप से भी नहीं कह सकते तो सदसत् दोनों रूपों से कैसे कह सकते हैं ? जो 'अ' भी नहीं और 'ब' भी नहीं वह 'अ+ब' कैसे हो सकता है ? अतः वह अनिर्वचनीय ही होगा । सदसत् दोनों को साथ में मानने पर विरोध-नियम-भंग हो जायेगा ।[५७] अद्वैतसिद्धिकार ने मात्र 'बाध्यत्व' को भी अनिर्वाच्यत्व का लक्षण माना है ।[५८] क्योंकि अनिर्वचनीय रजतादि व्यावहारिक शुक्ति-ज्ञान द्वारा बाध्य हैं ही एवं च घटादि भी तदधिष्ठान-चैतन्य के ज्ञान द्वारा बाध्य हैं, अतः शुक्तिरजतादि एवं घटादि भी अनिर्वाच्य पदार्थ हुए । इसके अतिरिक्त सद्ब्रह्म का बाध तो कभी होता नहीं, जोकि बाध्य हो,[५९] जो अलीक है अर्थात् जिसकी प्रतीति तक नहीं उसका बाध कैसे ? अतः आकाशकुसुम भी बाध्य नहीं हुआ । मात्र घटादि एवं शुक्तिरजतादि मिथ्या पदार्थ ही बाध्य हुए, अतः यह लक्षण निर्दोष है । अनिर्वाच्यत्व के उक्त सभी लक्षणों का समर्थन प्राचीनाचार्य आनन्द

---

५०. तत्वप्रदीपिका पृ० ७६

५१. सत्वेवासत्वेन च विचारसहत्वे सति सदसत्वेन च यद्विचारं न सहते तदनिर्वाच्यम् । वही ।

५२, अद्वैतसिद्धिः एवं लघुचन्द्रिका पृ० ६२१

५३. तत्वप्रदीपिका पृ० ७८

५४. बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम् । वही

५५. अद्वैतसिद्धिः पृ० ६११

५६. वही ।

५७. It is obviously absurd to characterise it as both for that would go against the law of contradiction. Istasiddhi, introbuction. xxiv, Baroda. 1933

५७. बाध्यत्वमेव लक्षणमस्तु, अद्वैतसिद्धिः पृ० ६२६

५९. अद्वैतसिद्धि पृ० ६३८

भट्टारक ने भी किया है।[६०]

बाध, प्रतीति होने के पश्चात् ही संभव है। प्रतीति होने वाले सभी पदार्थ बाध्य नहीं हैं इस प्रकार अबाध्य ब्रह्म एवं अप्रातीतिक नरविषाण में बाध्यत्व नहीं जा सकता, अतः अनिर्वाच्यत्व ही बाध्यत्व है।[६१]

अनिर्वाच्यत्व में प्रत्यक्षादि प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। मिथ्यैव रजतभादित्यादि, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भ्रमस्थलीय रजत के अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि होती है।[६२] यहां पर अभावप्रत्यक्षवादी के लिये ही यह उदाहरण है, जो लोग (मीमाँसकादि) अभाव को अनुपलब्धि प्रमाण ग्राह्य मानते हैं उनके प्रति अनुपलब्धि द्वारा अनुमान प्रमाण समझना चाहिये।[६३] यहाँ पर 'यह रजत है' और पश्चात् 'रजत नहीं है' इस प्रकार अनुभव-विरोध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बाध काल में रजत का त्रैकालिकाभाव होने पर भी त्रैकालिक व्यावहारिक रजत का ही अभाव है। पूर्वकाल में प्रातिभासिक रजत का अभाव नहीं कहा जाता अतः किसी प्रकार की असंगति की बात नहीं हैं।[६४] आचार्य मधुसूदन ने एवं चित्सुखाचार्य ने अर्थापत्ति प्रमाण भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि में दिखाया है। यदि रजत सत् होता तो बाधित न होता। असत् होता तो प्रतीत न होता। बाधित और प्रतीत दोनों होते हैं, अतः सदसद्विलक्षण अनिर्वाच्य रजत है।[६५] इसी प्रकार आचार्य चित्सुख ने अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है—विवादास्पदीभूत रजत अनिर्वचनीय है (प्रतिज्ञा) बाध्य होने से (हेतु) जो ऐसा नहीं, वह वैसा नहीं यथा-आत्मा,[६६] (उदाहरण) आत्मा अनिर्वाच्य नहीं हैं, अतएव बाध्य भीं नहीं है। यह व्यतिरेकी उदाहरण है और व्याप्ति भी व्यतिरेकी है, अर्थात् अनिर्वाच्य से विपरीत वस्तु बाध्य भी नहीं है। बाध्यत्व एवं अनिर्वाच्यता की साहचर्यनियम व्याप्ति है। प्रातिभासिक शुक्तिरजत बाध्य है अतः अनिर्वाच्य भी होना चाहिये, क्योंकि व्याप्ति के एक के होने का अर्थ दूसरे का भी होना है। प्रातिभासिक रजत शुक्तिज्ञानानन्तर नहीं रह सकता, उसका बाध होना अनिवार्य है, क्योंकि उसका उपादान है शुक्ति-अज्ञान, वह शुक्तिज्ञान के होने के पश्चात् नहीं रह सकता हैं। ज्ञान होने पर भी अज्ञान के रह जाने का अर्थ दोनों के विरोध को मिटाना है, ऐसा नहीं हो सकता, अतः शुक्तिज्ञान अनन्तर शुक्ति-अज्ञानोपादित रजत का बाध निश्चित है। जब बाध निश्चित है, तब व्याप्ति बल से साध्य

---

६०. न्यायमकरन्द पृ० १२४, १२५

६१. न्यायमकरन्द पृ० ११६

६२. अद्वैतसिद्धि पृ० ६२६

६३. लघुचन्द्रिका पृ० ६२७

६४. न्यायमकरन्द पृ० ११७,११८

६५. विमतं रूप्यादि सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत, बाध्यते प्रतीयतेऽपि, तस्मात् सदसद्विलक्षणत्वादनिर्वचनीयम्। अद्वैतसिद्धि पृ० ६३

६६. चित्सुखी पृ० ८१, ८२

का होना भी निश्चित ही है। साध्य है अनिर्वाच्यत्व, वह शुक्तिरजत है। इसी प्रकार घटादि वस्तुएं भी ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध्य हैं, अतः हेतु-बल से साध्य अनिर्वाच्यत्व का उनमें भी होना आवश्यक है, अर्थात् घटादिवस्तुएं भी अनिर्वाच्य हैं। न्यायमकरन्द-कार ने भी इसी प्रकार अनिर्वाच्यत्व में अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया है।[६७] अद्वैत-सिद्धिकार ने श्रुतिप्रमाणों को उद्धृत करके भी अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि की है।[६८] गौड़ब्रह्मानन्द ने भी अपनी पुस्तक अद्वैतसिद्धान्त-विद्योतन में श्रुति प्रमाणों द्वारा अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि की है।[६९]

इस प्रकार अनिर्वाच्यत्व क्या है जान लेने पर, अब अनिर्वचनीयख्याति क्या है, विचार करना आवश्यक है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है। अनिर्वचनीयख्याति का अर्थ दो प्रकार है। प्रथम अनिर्वचनीय की ख्याति अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु का ज्ञान। अद्वैत मतानुसार ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण वस्तुएँ अनिर्वचनीय हैं, ऐसी अनिर्वचनीय वस्तुओं का ज्ञान भी अनिर्वचनीय है, अतः दूसरा अर्थ हुआ जो ज्ञान अनिर्वचनीय हो वही अनिर्वचनीयख्याति है, अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तुविषयक ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। जगत् की अनिर्वचनीय की व्याख्या के लिये भ्रमस्थलीय रजत की अनिर्वचनीयता की सिद्धि करनी है, क्योंकि दृष्टान्तरूप से प्रातिभासिक वस्तु को ही लिया जा सकता है। प्रातिभासिक वस्तु की अनिर्वचनीयता की सिद्धिपूर्वक व्यावहारिक वस्तु की भी अनिर्वचनीयता की सिद्धि हो सकती है। इस आशय से अद्वैतवेदान्तियों ने भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक वस्तु की व्याख्या के लिए अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार की है। इस मत के अनुसार भ्रमस्थलीय शुक्तिरजत असत् नहीं है, क्योंकि उसकी प्रतीति इदं रजतम् इस प्रकार होती है। असत् का अर्थ अद्वैतवेदान्त के अनुसार अलीक है जोकि आकाश-कुसुमादि हैं। आकाशकुसुमादि की प्रतीति इदंरूप से कदापि कहीं भी नहीं होती। 'बन्ध्यापुत्रोऽस्ति' 'बन्ध्यापुत्रो याति' ये वाक्य व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी तथ्यात्मक न होने के कारण तात्विक नहीं हैं। वाक्य या शब्द तथ्यात्मक होना चाहिये तभी तात्विक होंगे। इसी प्रकार भ्रमस्थलीय रजत सत् भी नहीं है, क्योंकि सत्व त्रिकालाबाध्यत्व है। भ्रमस्थलीय रजत की उत्पत्ति शुक्तिविषयक अज्ञान से हुई है और शुक्ति विषयक ज्ञान से उसका परक्षण में 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है करके बाध हो जाता हैं। अद्वैत के अनुसार जिसका बाध होता है वह सत् नहीं। अतः सत् नहीं असत् नहीं तब दोंनों भी नहीं, सुतरां भ्रमस्थलीय रजत अनिर्वचनीय हैं।[७०] जिस प्रकार रजत अनिर्वचनीय है उसी प्रकार शुक्ति एवं उसमें प्रतीत रजत का सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है तथा शुक्तिरजत ज्ञान भी अनिर्वचनीय है। यहां पर रजत नहीं है, नहीं कहा जा सकता। सत् है यह भी नहीं कहा जा सकता, अतः

६७, न्यायमकरन्द पृ० २२४

६८. अद्वैतसिद्धि पृ० ६४३, ६४४

६९. अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन—पृ० २५, ब्रह्मानन्द सरस्वती, सरस्वती भवन, बनारस, १९३४।

७०. भामती एवं वेदान्तकल्पतरुपरिमल— पृ० २३, २४, इष्टसिद्धि पृ० ३९।

शुक्ति-रजत की अख्याति, या असत्ख्याति द्वारा व्याख्या नहीं हो सकती, न ही अन्यथाख्याति द्वारा व्याख्या सम्भव है, क्योंकि देशान्तरीय सत्यरजत की यहां पर सम्भावना नहीं हो सकती। इस कारण अनिर्वचनीय मिथ्यारजत की शुक्ति में उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी।[७१] भ्रमस्थलीय प्रातिभासिक रजत के समान स्वप्न भी अद्वैत-मत में प्रातिभासिक है। प्रातिभासिकत्वेन स्वप्न एवं जाग्रत भ्रमस्थलीय रजत की सत्ता समान है। अद्वैतवेदान्त के इस अनिर्वचनीयख्यातिवाद को मण्डनमिश्र के अतिरिक्त सभी अद्वैताचार्यों ने स्वीकार किया है। मण्डनमिश्र ने भ्रम की व्याख्या में कुमारिल भट्ट स्वीकृत विपरीतख्याति प्राप्त की है। ऐसा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थ विभ्रम विवेक एवं ब्रह्मसिद्धि से पता चलता है।[७२]

विपरीतख्याति के अनुसार 'इदं रजतं' इस ज्ञान में इदं प्रत्यक्ष और रजत स्मृति ज्ञान हैं। स्मृतरजत को जोकि प्रत्यक्ष नहीं है 'इदं' में प्रत्यक्ष करने का भ्रम होता है। भ्रान्त व्यक्ति इस प्रकार स्मृति को प्रत्यक्ष के साथ अभिन्न मानकर इदं को रजत मान बैठता है, यही विपरीतज्ञान है, इसी को अन्यथाख्याति भी कहा है।[७३] मण्डनमिश्र के ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि के ऊपर वाचस्पति मिश्र ने टीका लिखी है। उसमें वाचस्पति मिश्र भी विपरीतख्यातिवादी से लगने लगते हैं परन्तु भामती के टीकाकार अमलानन्द स्वामी ने तत्कृत टीका कल्पतरु में वाचस्पति के अन्यथाख्यातिवादी होने का खण्डन किया है।[७४] भामती टीकाकार के रूप में वाचस्पति के ऊपर अन्यथाख्यातिवादी होने का आरोप निराधार है, क्योंकि भामती में अनेक युक्ति और तर्कों से उन्होंने अनिर्वचनीयख्याति का ही समर्थन और संवर्द्धन किया है। मण्डनमिश्र के विपरीत ख्यातिवादी होने के दो कारण हो सकते हैं, एक कारण यह हो सकता है कि वे कुमारिल के अनुयायी मीमांसक थे। दूसरा कारण यह है कि आचार्य शङ्कर ने भाष्य में कहा है—'सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति'। अर्थात् अन्य का अन्य में अवभास होना यह बात सभी ख्यातिवादों में है। इस आचार्य वाक्य का अर्थ मण्डन के अनुसार विपरीतख्याति के साथ भी किया जा सकता है, जिसमें जो धर्म नहीं, उसमें उस धर्म का आरोप विपरीत ही हुआ। इसी में संगति करते

७१, तस्माद् भ्रमस्थले रजतादिकं जायते इत्यवश्यं वाच्यम्। अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन—पृ० २५ २३।

७२. तस्मादवश्यं प्रतिषेध्यप्राप्तये विपरीतख्यातिरुपासनीया। ब्रह्मसिद्धि—पृ० १४३, मण्डनमिश्र मद्रास, १९३७।
वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (मण्डन प्रस्थान परीक्षा) पृ० १९१, सच्चिदानन्द-सम्पादक, नरसीपुरम १९६४।
विभ्रमविवेकभूमिका पृ० ii भी।
,, ,, ५७, ६२

७३. विभ्रमविवेक का ४६। मण्डनमिश्र, मद्रास, १९३२।

७४. स्वरूपेण मरीच्यम्भो मृषा वाचस्पतेर्मतम्।
अन्यथाख्यातिरिष्टास्येत्यन्यथा जगृहुर्जना:॥ वेदान्तकल्पतरु पृ० २४

हुए मण्डन ने विपरीतख्याति स्वीकार की है।[७५] जो भी हो अन्य सभी अद्वैतवेदान्ती "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" को अध्यास कहते हैं एवं अध्यस्तज्ञान और वस्तु की व्याख्या में अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करते हैं।

अनिर्वचनीयख्याति के अतिरिक्त अन्य ख्यातियों द्वारा भ्रम ज्ञान की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती। अनिर्वचनीयसर्वस्ववाद को सिद्ध करने के लिये अन्य ख्यातिवादों की भी व्याख्या एवं आलोचना वेदान्ताचार्यों ने की है, अतः अगले पृष्ठों में अन्य ख्यातिवादों पर विचार आवश्यक है।

आत्मख्यातिः—

बौद्धविज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान या विज्ञप्ति के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं है। जो कुछ भी देखते हैं वे चित्तमात्र है, बाह्यरूप में असत् है, विज्ञानवादी इसलिये आत्माख्यतिवादी है। आत्मा शब्द का यहाँ पर विज्ञान—अर्थ है। विज्ञानवादी के अतिरिक्त बौद्ध सौत्रान्तिक और वैभाषिक भी आत्मख्यातिवादी हैं, किन्तु सौत्रान्तिक और वैभाषिक बाह्यपदार्थास्तित्ववादी हैं, वैभाषिक मत में बाह्यपदार्थ प्रत्यक्ष हैं, सौत्रान्तिक मत में अनुमेय, इसलिये इन दोनों के मत में भ्रम का अधिष्ठान बाह्य पदार्थ और आरोप्य वस्तु ज्ञानाकार हैं।[७६] भाष्यकार ने अध्यास के लक्षण की तुलना अन्य दार्शनिकों से की है और उक्त आत्मख्यातिवादी तीनों बौद्ध सम्प्रदायों का तथा असत्ख्यातिवादी शून्यवाद का उल्लेख "तं केचित् अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः[७७], इस वाक्य से किया है। विज्ञानवादी बौद्धों का कहना है कि जो वस्तु जिस रूप में हमारे ज्ञान में प्रतीत होती है, वह वस्तु उसी रूप में है यही ज्ञान का साधारण नियम है। जहाँ पर इस नियम का व्यतिक्रम होता हैं अर्थात् किसी प्रबल बाधकप्रत्यय द्वारा पूर्वोत्पन्न ज्ञान का बाध हो जाता है, तब वह भ्रम सिद्ध होता है।[७८] अद्वैतवेदान्त के अनुसार भी बाधितविषयक ज्ञान भ्रम है। "यह रजत है" इस ज्ञान के पश्चात् "यह रजत नहीं है" इस बाधक-प्रत्यय से पूर्वोक्तज्ञान "यह रजत है" भ्रम सिद्ध होता है।[७९]

विज्ञानवादी बौद्धों के आत्मख्यातिवाद को प्रस्तुत करते हुए आनन्दबोध कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञानाकार रजत के बाहर अवभास को ही विभ्रम कहते हैं।[८०] माधवाचार्य ने भ्रमस्थल में विज्ञानवादी के दृष्टिकोण को कि 'शुक्तिरजत

---

७५. वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (मण्डन प्रस्थान परीक्षा) पृ० १९१
७६. वेदान्तकल्पतरु एवं परिमल—पृ० २६
७७. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० १८
७८. न्यायमकरन्द—पृ० ९९
७९. वही।
८०. केचित् ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासो विभ्रम इत्याहुः। न्यायमकरन्द—पृ० ९९

विज्ञान रूप है,' अनुमान द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। अनुमान इस प्रकार है—विमतरजत बुद्धि रूप है, क्योंकि यह इन्द्रिय संनिकर्ष के बिना ही प्रत्यक्ष होता है, जैसाकि बुद्धि'।[८१] जिस प्रकार बुद्धि के प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियसंनिकर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि बुद्धि का मानस प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार शुक्तिरजत भी बुद्धिरूप होने के कारण इन्द्रिय संनिकर्षनिरपेक्ष होकर प्रत्यक्ष होता है, अतः वह बुद्धि या विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस पर माधवाचार्य शंका करते हैं--विज्ञानवाद के अनुसार सहकारी प्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय और आलम्बन प्रत्यय इन चार प्रकार के हेतुओं से ही चित्त-चैत्यों की उत्पत्ति होती है। इसमें से सहकारी प्रत्यय आलोकादि से रजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि आलोकादि तो स्पष्टता के प्रति हेतु होते हैं। अधिपति प्रत्यय चक्षुरादि विषय नियमन में हेतु है, न कि उत्पन्न करने में। इसी प्रकार समनन्तर प्रत्यय पूर्वज्ञान से भी रजत उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि विजातीय घटादि के ज्ञान, उससे विजातीय रजतभ्रम उत्पद्ध करने में बाधक हो जायेंगे और आलम्बन प्रत्यय से भी शुक्तिरजत की उत्पत्ति नहीं मान सकते, क्योंकि विज्ञानवादी बाह्यवस्तु मानते नहीं, फिर विज्ञान को रजत का आकार कहाँ से प्राप्त होगा ?[८२] इसका समाधान देते हुए विज्ञानवादी का कहना है कि अनादि संस्कार के सामर्थ्य से ही विज्ञान रजताकार हो सकेगा।[८३] संस्कार आन्तर पदार्थ हैं, उनके लिये बाह्यवस्तु को मानने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान में जो बाह्यवस्तुओं के संस्कार हैं वे भी विज्ञानवादी के अनुसार बाह्यवस्तुओं से उत्पन्न नहीं हैं, वे संस्कार बाह्यवस्तु-निरपेक्ष हैं। मात्र-पूर्व-पूर्व संस्कार उत्तरोत्तर विज्ञान में हेतु हैं। यह परम्परा अनादि है। जो यह बात कही गई कि रजत संस्कार एवं रजतभ्रम के बीच में घटादि के ज्ञान व्यवधान उत्पन्न करेंगे, इस प्रकार व्यवहित होने पर रजत संस्कार रजतभ्रम को उत्पन्न नहीं कर सकेंगे ? इसका समाधान है कि जिस प्रकार व्रीहि का बीज अंकुरित होकर पुनः बीज को उत्पन्न करता है, बीज में अंकुर का व्यवधान उसमें बाधक नहीं होता, उसी प्रकार व्यवहित होने पर भी सजातीय संस्कार सजातीय ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। इस प्रकार अनादि वासना द्वारा उपस्थापित रजत ज्ञानरूप ही होता है, भ्रान्ति से बाहर का जैसा प्रतीत होता है।[८४] परवर्ती बाधक ज्ञान द्वारा 'यह रजत है' यह ज्ञान भ्रम सिद्ध होता है, यह बात तो ठीक है, किन्तु उक्त भ्रमज्ञान में बाध किसका होता है, जिस कारण कि वह भ्रम सिद्ध होता है ? ज्ञान यदि सत्‌विषयक होगा तो उसको भ्रम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संवादिप्रवृत्ति अर्थात् सफलप्रवृत्ति होने से ज्ञान सत्य होगा तथा सफल

---

८१. विवरणप्रमेयसंग्रह—पृ० १२३, विद्यारण्यमुनि, अच्युत ग्रन्थमाला, १९९६ सं०।

८२. वही—१२३, १२४।

८३. संस्कारसामर्थ्यादिति ब्रूमः, विवरणप्रमेय संग्रह। पृ० १२४।

८४. अनादिवासनाप्रापितं रजतं बुद्धिरूपमेव सद् भ्रान्त्या बहिर्वदवभासते। विवरणप्रमेय संग्रह पृ० १२४

प्रवृत्ति के लिये बाहर विषय को होना चाहिये। यदि विषय नहीं तो प्रवृत्ति सफल नहीं होगी, जैसेकि शुक्तिरजत में रजत समझकर प्रवृत्ति के पश्चात् रजत न मिलने पर निराश होकर भ्रान्त व्यक्ति समझ लेता है कि 'यह रजत नहीं है', मुझे भ्रम हुआ था। इससे यह सिद्ध होता है कि विषय के अभाव होने के कारण तद्विषयक ज्ञान भीं मिथ्या कहलाता है। एक के मिथ्या होने पर अर्थात् विषय के मिथ्या होने पर ज्ञान भी मिथ्या या भ्रान्त हो जाता है। इस कारण यहां पर आत्मख्यातिवाद के अनुसार बाध किसका होता है? यह विचारणीय है। बाध क्या रजत का होता है या इदं का? 'इदं रजतं' इसमें दो पद हैं और दो पद दो अर्थों की ओर संकेत करते हैं। एक सांकेतित अर्थ 'इदं' पद द्वारा और दूसरा 'रजतम्' द्वारा। इन दोनों पदों द्वारा सांकेतित अर्थों में अन्यत्र अन्य धर्माध्यास होना चाहिये, तभी भ्रम स्वीकृत हो सकता है। अन्यत्र जहां पर अन्य धर्म जिसका धर्म नहीं होना चाहिये उस के धर्म का होना, होने की प्रतीति होना ही भ्रम है। शुक्ति में रजत धर्म नहीं है और उसी अन्यत्र में अर्थात् शुक्ति में अन्यधर्म रजत धर्म की प्रतीति ही भ्रम है। इस प्रकार शुक्ति में रजतधर्म का एवं तद्विषयक रजत ज्ञान का मिथ्या होना निश्चित है। यह बात बाध के विचार द्वारा ही निश्चित होगी कि बाध किसका होता है। जिसका बाध होगा वही मिथ्या निश्चित होगा। आत्मख्यातिवादी कहते हैं कि 'इदं रजतम्' में इदमंश का ही बाध होता है। रजतांश का बाध नहीं होता। उसके लिये विज्ञानवादी गौरवदोष का तर्क प्रस्तुत करते हैं।[८५] उनका कहना है कि 'इदं रजतम्' में रजत विशेष्य या धर्मी है, एवं 'इदं' विशेषण या धर्म है। यदि 'न इदं रजतम्' इस प्रकार बाध में रजत का बाध मानें तो रजतरूपी धर्मी के बाध के साथ धर्म 'इदं' का भी बाध हो जायेगा, क्योंकि धर्मी वा विशेष्य के बिना धर्म या विशेषण रह नहीं सकता। इस प्रकार दो का बाध मानना पड़ेगा। यदि एक के बाध मानने पर कार्य सिद्ध हो तो लाघव होगा और लाघव होना हमारे पक्ष में एक समीचीन युक्ति है। दो के बाध मानने पर गौरव होगा। गौरव एक दोष है जोकि पक्ष को कमजोर करता है, अतः मात्र 'इदं' का ही बाध माना जाय।[८६] इससे इदंमश ही मिथ्या निश्चित हो जायेगा। इदमंश के विना रजत ज्ञानाकार ही रह जायेगा, क्योंकि वाह्यता इदन्तामात्र में ही थी। इदन्ता के बाध होने पर वाह्यता का बाध हो जाता है, तब रजत जोकि सामने नहीं है, ज्ञान में ही रह जाता है।[८७] सामने तो इदं ही होता है न कि रजत, वह तो पहले से ही ज्ञान में है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि बाध बुद्धि द्वारा इदन्ता का ही निराकरण होता है, न कि रजत का।[८८]

---

८५. नेदं रजतमिति बाधस्येदन्तामात्रगोचरत्वात् द्वयोर्बाधकल्पनायां कल्पनागौरवात् नेदं रजतमिति च रजते बाधादर्शनात्।। चित्सुखी—पृ० ७३

८६. नेदं रजतमिति च बाधस्येदन्तामात्रबाधेनोपपत्तौ—भामती—पृ० २६

८७. तथा च रजतं बहिर्बाधितमर्थान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत इति। वही

८८. इष्टसिद्धि—पृ० ४०, ४१

बौद्धविज्ञानवादी के इस सिद्धान्त का रहस्य है उनका आत्म-निष्ठविज्ञानवाद। विज्ञानवादी जिस प्रकार भ्रमस्थल में रजत को विज्ञान का आकार मात्र मानते हैं और बाह्य इदं का निराकरण करते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व भी उनके अनुसार उसके आन्तरविज्ञान में ही स्थित है, घट-पटादि पदार्थों में जो 'यह घट है' यह पट है' इत्यादि बाह्यतासहित प्रतीति, वह मिथ्या है, क्योंकि घट-पटादि भी आन्तर विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। सब कुछ आन्तर विज्ञान का प्रवाहमात्र है। इस प्रपंच की व्याख्या करने के लिये विज्ञानवादी इसीलिए स्वप्न के दृष्टान्त को प्रस्तुत करते हैं कि सम्पूर्ण प्रपंच और उस में ज्ञानज्ञेय-ज्ञातृ-व्यवहार सभी स्वप्न के समान हैं। स्वप्न में जिस प्रकार अचेतन मन में ही सम्पूर्ण घट-पटादिसहित ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृभाव भी देखे जाते हैं, परन्तु वहां पर आन्तर मन के अतिरिक्त बाह्यता होती नहीं, उसी प्रकार जाग्रत प्रपंच भी विज्ञान के ही विभिन्न आकार हैं। उसमें बाह्यता अलीक है, बाह्यता की प्रतीति भ्रम के कारण होती है। बाधबुद्धि द्वारा इसी बाह्यता का ही निराकरण होता है, जिससे कि सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच नाना विज्ञानाकार के रूप में रह जाते हैं। विज्ञानाकार के रूप में शुक्ति-रजत एवं घट-पटादि सभी सत् हैं और बाह्यता के रूप में वे सभी अलीक हैं।

बौद्धविज्ञानवाद के आत्मख्यातिवाद को वस्तुवादी दार्शनिकों ने स्वीकार तो किया ही नहीं, प्रत्ययवादी दार्शनिक अद्वैतवादियों ने भी इसका प्रत्याख्यान किया है। मीमांसक, नैयायिक आदि बाह्यवस्तुओं को यथार्थ स्वीकार करते हैं। इस कारण उन्होंने आत्मख्यातिवाद का अनेक तर्कों से खण्डन किया है। अद्वैत-वेदान्ती प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व-प्रपंच को अलीक नहीं मानते, इसी कारण आत्मख्याति के खण्डन में उन्होंने न्याय-वैशेषिक जैसे यथार्थवादी दार्शनिकों का साथ दिया। भामतीकार ने बौद्धविज्ञानवाद के खण्डन में मीमांसकों के मत को सामने प्रस्तुत किया और उन्हीं की युक्तिओं से आत्मख्याति का खण्डन किया है।[८९] भामतीकार ने मीमांसकों की ओर से बौद्धविज्ञानवादी से प्रश्न किया है कि 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल में रजत को विज्ञान का ही आकार निश्चित रूप से कहा गया है? इसमें प्रश्न यह उठता है कि किस प्रमाण से विज्ञानवादी रजत को ज्ञान का धर्म सिद्ध करते हैं? प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में सामने स्थित वस्तु का प्रत्यक्ष हो रहा है, न कि आन्तर विज्ञान का।[९०] इस प्रत्यक्ष में 'इदं' रजत के आधार के रूप में प्रतीत होता है, इसी कारण से रजतार्थी रजत को सत्य समझकर सामने उसे उठाने के लिये दौड़ता है। प्रत्यक्ष द्वारा यदि 'रजत' को ज्ञान का आकार जाना जाता तब तो यह रजत अनुभव न होकर 'मैं रजत' ऐसा अनुभव होता, क्योंकि विज्ञानवाद के अनुसार 'मैं' भी विज्ञानातिरिक्त कुछ नहीं है,[९१] इसलिए रजत जब ज्ञान में

८९ भामती पृ० २६,२७

९०. सहीदंकारास्पदं रजतमावेदयति, नत्वान्तरम्। वही

९१. अहमिति हि तदास्यात् प्रतिपत्तु: प्रत्ययादव्यतिरेकात। भामती और कल्पतरु भी।

भासता है तब इदन्ता करके बाह्यता का प्रतिभास नहीं हो सकता । बाह्यता असत्य है, इसलिए आनन्दबोध का पूर्वपक्ष की ओर से कहना है कि 'असत्य बाह्यता का प्रतिभास अयुक्त है' ।[६२]

यदि विज्ञानवादी यह कहे कि परवर्ती बाधक-प्रत्यय द्वारा अर्थात् यह रजत नहीं है' इस ज्ञान द्वारा रजतज्ञान का आकार जाना जाता है, क्योंकि इदं के लिये ही रजत का निषेध है न कि ज्ञान के लिये, अतः ज्ञान के रूप में रजत रह जाता है, इदं के रूप में इदं में रजत न था और न रहता है; इसलिए मानना पड़ेगा कि रजत आन्तर ज्ञान ही है न कि बाह्य वस्तु । इस पर विज्ञानवादी से यह पूछा जाय कि बाधक-प्रत्यय पुरोवर्ती वस्तु को रजत से भिन्न प्रतीत कराता है या 'रजत ज्ञान धर्म है', यह प्रतीत कराता है ? प्रथमपक्ष समीचीन है, क्योंकि इदं पदार्थ रजत नहीं है और बाधक-प्रत्यय से यह ज्ञान होता है, इसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? किन्तु बाधक-प्रत्यय द्वारा रजत को ज्ञानधर्म समझा जाना, यह पक्ष असमीचीन हैं, क्योंकि रजत इदं नहीं है । अनिदं कोई भी वस्तु अर्थात् अन्य बाह्य वस्तु भी हो सकती है । 'लाल नहीं है' ऐसा बाधक ज्ञान से 'नील है' इस प्रकार का निश्चय करना उचित नहीं, क्योंकि 'वह लाल नहीं' काला भी हो सकता है, सफेद भी; नील ही है, ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता, इसी प्रकार विज्ञानवादी जो बाधक-प्रत्यय द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जो इदं नहीं वह अनिदं अर्थात् ज्ञानरूप है, गलत है । मीमांसकों ने ऐसे तर्क इसलिए प्रस्तुत किये हैं कि उनके मत में भी रजत इदं तो नहीं है, किन्तु वह ज्ञानरूप भी नहीं है, वह तो ज्ञान के विषयरूप है । उनके मत में स्मृतिज्ञान का अनुभूत विषय ही रजत है, अतः ज्ञानाकार रजत नहीं हुआ । और भी यदि रजत आन्तर ज्ञानरूप होता तो बाध का रूप 'नेदं रजतम्' ऐसा न होकर 'यह बहिस्थ रजत नहीं है, अपितु आन्तर रजत है' ऐसा होता । शुक्तिज्ञान के पश्चात् 'मिथ्या रजत का ज्ञान हुआ था', ऐसा अनुभव होता है जबकि विज्ञानवाद के अनुसार—'मिथ्या-बाह्यता की प्रतीति हुई थी' ऐसा होना चाहिये । रजत के बाध के साथ इदन्ता का भी बाध होने से दो बाधरूपगौरवदोष है, अतः इदन्तामात्र का ही बाध होना उचित है––यह विज्ञानवादी का कहना भी अनुचित है, क्योंकि यह अनुभव-विरोधी बात है । चित्सुखाचार्य का कहना है कि 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् 'नेदं रजतम्' ऐसा विशिष्ट का बाध देखा जाता है, अतः अनुभव-विरोध होने से कल्पनालाघवन्याय का अवतरण नहीं हो सकता ।[६३]

विज्ञानवादी भ्रमस्थल के रजत और सत्यरजत दोनों को ही विज्ञानाकार अर्थात् बुद्धिरूप मानते हैं । चित्सुखाचार्य ने आपत्ति उठायी है कि यदि समस्त वस्तुएं बुद्धिरूप हैं और उन्हीं बुद्धिरूप पदार्थों से ही व्यवहार भी चलते हैं तब तो गुंजाफल-गुच्छा में अग्निबुद्धि होने पर उससे भी ताप मिल जाना चाहिये, क्योंकि वहां पर

६२. असत्याया एव बाह्यतायाः प्रतिभासस्यायुक्तम् । न्यायमकरन्द पृ० १००

६३. नेदं रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनालाघवन्यायानवतारात् । चित्सुखी पृ० ७४

भी बाहर अग्नि तो है नहीं ?[९४]

इष्टसिद्धिकार ने आत्मख्याति की आलोचना करते हुए इसे भी एक प्रकार की सत्ख्याति ही कहा है। उनके अनुसार जिसकी कहीं न कहीं प्रतीति होती है, वह वहां पर सत् है, अतः सत् की ही ख्याति होगी। विज्ञानवादी विज्ञानरूप में रूप्य को सत् मानते हैं, अतः विमुक्तात्मा उन्हें सत्ख्यातिवादी कहते हैं।[९५] अन्तर्ज्ञेयरूपरजत ही बाहर-सा लगता है, अर्थात् बाहर रजत नहीं है अपितु अन्तरस्थित है। आन्तर पदार्थ ही आन्तर के रूप में न प्रतीत होकर विपरीत बाह्यरूप में प्रतीत होता है, इस कारण जयन्तभट्ट ने इसे भी विपरीतख्याति कहा है।[९६] बाह्यता को पूर्णरूप से अस्वीकार करने के कारण यह असत्ख्याति भी है।[९७] वस्तुतः विज्ञानवाद के अनुसार शुक्ति-रजत और व्यावहारिकरजत दोनों ही बाह्यताशून्य हैं। उनमें बाह्यतांश भ्रम है, यह बात तो समझ में आती है, किन्तु विज्ञानवादी के अनुसार उक्त दोनों रजतों में अन्तर करने की कसौटी क्या है ? यदि दोनों ही एक प्रकार से विज्ञानरूप हुए अर्थात् भ्रमस्थल की वस्तु और व्यावहारिकवस्तु दोनों ही यदि विज्ञानकार ही हुईं, तब भ्रम और प्रमा में अन्तर ही नहीं हो सकेगा।[९८] इस प्रकार भ्रम की व्याख्या आत्मख्याति-वाद के अनुसार भी अपूर्ण है।

असत्ख्यातिः—

शून्यवादी माध्यमिक दृश्य प्रपंच को एवं विज्ञान को भी असत् कहते हैं अर्थात् उनके अनुसार विषय भी असत् और विषयविज्ञान भी। विषय और ज्ञान को असत् मानने पर ज्ञाता को भी असत् मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार माध्यमिक के अनुसार ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान तीनों ही असत् हैं।[९९] जिस प्रकार विज्ञानवादी ने बाह्य पदार्थों को असत् कहा है, उसी प्रकार माध्यमिकों ने विज्ञान को भी असत् कहा है। भ्रमस्थल में भी भ्रमअधिष्ठानशुक्ति असत् है एवं आरोप्य विषय रजत भी असत् है। शुक्ति-रजत भ्रम में अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति होती है। आचार्य शंकर के 'अन्यत्र अन्य धर्माध्यास' का यहां पर अर्थ है–अन्यत्र = असत् शुक्ति में अन्यधर्मस्य = असत्रजत-धर्मस्य अध्यास :—असत् रजत धर्म का अध्यास होता है। न्यायमकरन्दकार ने कहा है "शून्यवादी के अनुसार अत्यन्त असद् अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही विभ्रम

---

९४. किमारोपितं बुद्धौ चेत् गुंजापुंजादौ दहनसमारोपे देहदाहप्रसंगः। वही।

९५. विमुक्तात्मा के अनुसार आत्मख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति भी सत् ख्याति हैं क्योंकि इनमें किसी ने विज्ञान के रूप में, किसी ने स्मृति के विषय के रूप में, किसी ने रजत के रूप में रजत को सत् माना है। इष्टसिद्धि—पृ० ३९, ४०।

९६. अन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्वदवभासते इत्यभ्युपगमादियमपि विपरीतख्यातिरेव स्यात्। न्यायमंजरी—पृ० १६९

९७. वही। जयन्तभट्ट, चौखम्बा, १९३६।

९८. इष्टसिद्धिभूमिका—पृ० xxii

९९. सर्वदर्शन संग्रह (बौद्धदर्शन)—पृ० ६३, माधबाचार्य, चौखम्बा, १९६४।

है।"[१००] इस प्रकार माध्यमिक सर्वशून्यसिद्धान्त को मानते हैं; इसी कारण माध्यमिकों को शून्यवादी भी कहते हैं। न्यायवैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त के दर्शन ग्रन्थों में माध्यमिक को शून्य या असद्वादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नागार्जुन ने शून्य को माध्यमिक कारिका में कहीं-कहीं अलीक शशश्रृंगादि के समान निःस्वभाव कहा है।[१०१] कहीं-कहीं चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य को कहा है।[१०२] वैदिक दार्शनिकों ने शून्यवाद का असद्अलीकवाद मानकर ही प्रत्याख्यान किया है।

न्यायवैशेषिकों ने और अद्वैतवेदान्तियों ने इस असत्ख्यातिवाद का प्रत्याख्यान किया है। जयन्तभट्ट ने असत्ख्याति के लिये दो विकल्प करके प्रश्न किया है कि असत्ख्याति का अर्थ एकान्त असत् की ख्याति या देशान्तर में स्थित यहां परभ्रम-स्थल में असत् की ख्याति? एकान्त असत् की ख्याति असंभव है, क्योंकि आकाश-कुसुम की ख्याति नहीं देखी गई। देशान्तर में स्थित रजत की ख्याति मानने पर विपरीतख्याति ही होगी न कि असत्ख्याति।[१०३] अद्वैतवादियों ने भी इसी प्रकार की युक्तिओं से खण्डन किया है। अद्वैतवादियों का कहना है कि असत् का अर्थ सत्ता-शून्य है। उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। यदि असत् की प्रतीति होती है तो क्या वह सदात्मना प्रतीत होता है या असदात्मना? असत् आत्मना ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि अलीकार्थ असत् का ज्ञान संभव नहीं और सदात्मना ज्ञान होने पर सत्ख्याति होगी।[१०४] सत् एवं असत् का सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।[१०५] असम्बद्ध वस्तु प्रकाशित नहीं होती, जैसे बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग इत्यादि असत् बोधक शब्द द्वारा विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, फिर भी इन्द्रिय कभी भी असंन्निकृष्ट का ग्राहक नहीं होती। असत् यदि निष्प्रकारक है तो प्रत्यक्ष द्वारा 'रजत' ऐसे विशेष प्रतिभास का अभाव हो जाता है। यद्यपि उत्तरकाल में वह वस्तुरजत प्रतिभासित नहीं होती तथापि जिस समय वह प्रतिभासित होती है, उस समय उसे विद्यमान मानना पड़ेगा, अन्यथा स्वप्रतिभास समय में किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। यदि अत्यन्त असत् को आरोपणीय माना जायेगा तो प्रतिभास भेद और तदनुसार प्रवृत्ति भी अनुपन्न होगी। आरोपणीय और आरोपाधिष्ठान दोनों को असत् मानने पर असत् आरोपाधिष्ठान को जानने पर भी भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि माध्यमिकों ने

---

१००. अन्येतु अत्यन्तमसन्तमर्थमवभासयन्ती संविदेव विभ्रम इत्याचक्षते न्यायमकरन्द—पृ० १०२

१०१. आकाशं शशश्रृंगंच बन्ध्यायाः पुत्र एव च
असन्तश्चाभिव्यज्यन्ते तथा भावेषु कल्पना॥ माध्यमिकशास्त्र (सम्पा० पी० एल० वैद्य, दरभंगा, १९०७) पृ० १०५ का० १६६

१०२. सर्वदर्शनसंग्रह—पृ० ६३

१०३. न्यायमंजरी (प्रमाण प्रकरण)—पृ० १६४

१०४. इष्टसिद्धि—पृ० ११६

१०५. कः पुनरेष सदसतोः सम्बन्धः? न्यायमकरन्द—पृ० १०६

शुक्तिरजत एवं शुक्ति दोनों को असत् कहा है। सबसे अधिक कठिनाई इस सिद्धान्त में भी विज्ञानवाद के समान ही भ्रम और व्यवहार में अन्तर का न होना। घटज्ञान और शुक्तिरजतज्ञान में एक को भ्रम और अन्य को प्रमा कहने की कसौटी ही नहीं रहेगी, इसलिये भ्रम की व्याख्या असत्ख्याति को मान कर नहीं दी जा सकती।[१०६]

अख्यातिवाद :—

मीमांसक प्रभाकरसम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। शालिकनाथ ने प्रकरणपंजिका में प्रभाकरमत के ज्ञान सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है 'यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानम्।'[१०७] इसी सिद्धान्त के अनुसार 'इदं रजतम्' इसके पश्चात् जो 'नेदं रजतम्' इस प्रकार निषेध बुद्धि है, इससे रजत का निषेध नहीं होता और न ही 'इदं' का निषेध होता है, अपितु रजत के साथ इदं के असम्बन्ध के ज्ञान न होने के कारण 'यह रजत है' इस प्रकार शब्दादिप्रयोगरूप व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है।[१०८]

प्रभाकरसम्प्रदाय का कहना है कि भ्रमवादी जो शुक्ति में रजत का आरोप मानते हैं वह समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त शुक्ति-रजत भ्रमस्थल में रजत का आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा होने पर स्वानुभवविरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं, उनसे प्राभाकरों का प्रश्न है कि 'आलम्बन' से भ्रमवादियों का क्या अभिप्राय है ? क्या जिसकी सत्ता है, वहवस्तु ज्ञान का आलम्बन है ? ऐसा कहने पर अतिप्रसंग दोष होगा। संसार में सद्वस्तु जहां भी है वह किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी, अर्थात् शुक्तिरजतज्ञान का आलम्बन घट भी होगा। घट भी सत् है। कोई भी वस्तु किसी भी ज्ञान का आलम्बन होगी। यदि भ्रमवादी इदं को कारणत्वेन रजतज्ञान का विषय मानते हैं तो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ज्ञान के कारण इन्दियां भी होती हैं। प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इन्द्रियां भी कारण हैं, अतः इन्द्रियां भी रजतज्ञान का विषय क्यों न हों ? यदि कहा जाय कि ज्ञान में भासमानत्व ही ज्ञान का आलम्बनत्व है, तब तो शुक्ति रजतज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती, 'इदं रजतम' में 'शुक्ति रजतम्' की प्रतीति तो होती नहीं है, अर्थात् शुक्ति भासती नहीं है, अतः वह आलम्बन नहीं हो सकती।[१०९] उक्त भ्रमस्थल में 'रजत' इस प्रकार का अनुभव होता है, 'शुक्ति' ऐसा नहीं होता, अतः अनुभव-विरोध होगा। चक्षुरादिइन्द्रिय यथार्थज्ञान उत्पन्न करने में सहायक होती हैं न कि मिथ्याज्ञान को उत्पन्न करने में। दुष्टेन्द्रियां भी मिथ्याज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि

---

१०६. इष्टसिद्धि भूमिका—पृ० २६

१०७. प्रकरण पंजिका ४।१, शालिकनाथ, चौखम्बा, १९०३।

१०८. न चैष रजतस्य निषेधः, नचैदन्तायाः, किन्तु विवेकाग्रहप्रसंजितस्य रजतमिदमिति रजतव्यवहारस्य। भामती—पृ० २६

१०९. नहिरजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनं युक्तम् अनुभवविरोधात्, न खलु सत्तामात्रेणालम्बनम् अतिप्रसंगात्...इत्यादि भामती—पृ० २७

दोष से दूषित होने पर भी केवड़े का बीज बट के अंकुर उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण यह मानना पड़ेगा कि कारणगतदोष कारण में कार्यजननशक्ति को ही व्याहत करते हैं, कारण में नये कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति को नहीं उत्पन्न करते।[११०]

मीमांसक प्राभाकरों का और भी कहना है कि ज्ञान यदि निजविषयक व्यभिचारी होता है अर्थात् ज्ञान द्वारा जो वस्तु जिस रूप में प्रकाशित होती है वह यदि वैसी नहीं है, तब तो संसार में किसी भी ज्ञान के ऊपर निर्भर नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि उक्त प्रकार से सभी ज्ञानों में प्रामाण्यसंशय होगा। फलतः किसी भी वस्तु का स्वरूपनिर्णय करना असंभव हो जायेगा, इसलिये प्राभाकरों के अनुसार जितने प्रकार के ज्ञान हैं, वे सभी यथार्थ है।[१११] भ्रम के प्राभाकरसंमत स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य शंकर ने कहा है 'यत्रयदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम इति'।[११२] अर्थात् जिस वस्तु में जिस वस्तु का भ्रम या अध्यास है, उन दोनों वस्तुओं में जो परस्पर भेद है, उसका अग्रहण ही भ्रम है। भेद–अग्रहण के कारण ही भ्रम उत्पन्न होता है। दोनों वस्तुओं के भेद को भूलकर ही 'इदं रजतम्' दोनों को मिलाकर भाषा-व्यवहार करते हैं, यही भ्रम है।[११३] यदि सभी ज्ञान यथार्थ हैं तब मीमांसकों के अनुसार 'इदं रजतं' इस भ्रम की व्याख्या किस प्रकार होगी? इस पर मीमांसक प्राभाकरों का कथन है कि उक्त भ्रम स्थल में एकज्ञान नहीं है अपितु दो यथार्थ ज्ञान हैं। एक रजत विषयक ज्ञान और दूसरा इदं विषयक। इनमें से 'इदं' यह समुखस्थित वस्तु को प्रकाशित करता है और 'रजतम्' स्मृति स्थित रजत को प्रकाशित करता है।[११४]

इदं विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवज्ञान है, क्योंकि 'इदं' का विषय 'शुक्ति' सामने ही विद्यमान होती है। चक्षुदोष के कारण सम्मुख में स्थित वस्तु के विशेष रूप गृहीत नहीं हो पाते अर्थात् शुक्ति को शुक्तित्वावच्छिन्न शुक्ति के रूप में न जानकर मात्र सामान्यरूप से, 'इदं' रूप से जानते हैं। द्रष्टा को 'कुछ देख रहा हूं' एवं प्रकार से ज्ञान होता है।[११५] दृष्ट 'इदं' वस्तु में चाक्चिक्य आदि अविकलरजत के समान हैं। इस कारण 'इदं' के उक्त प्रकार से चाक्चिक्यादि सहित सामान्यदर्शन ही भ्रमदृष्टा के मन में पूर्वानुभूत रजत के सुप्तसंस्कार जाग्रत कर देते हैं और उद्बुद्ध

---

११०. भामती—पृ० २७,
न्यायमकरन्द—पृ० ६०

१११. तथा च—यथार्थाः सर्वे विवादास्पदीभूताः प्रत्ययाः प्रत्ययत्वात्संप्रतिपन्नसमीचीनप्रत्ययवद्।
न्यायमकरन्द—पृ० ६५ सर्वज्ञानं समीचीनमास्थेयम्—भामती—पृ० २७

११२. ब्र० शंकरभाष्य—पृ० १८—२७

११३. ब्र० भामती—पृ० २७

११४. तथा च रजतं इदमिति च द्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे। भामती—पृ० २७

११५. वेदान्तकल्पतरु—पृ० २७

रजत संस्कार ही रजत स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। रजत की स्मृति यथार्थ है, किन्तु यहां पर स्मृति का आकार होना चाहिये 'तद्रजतम्', क्योंकि जहां पर रजत का प्रत्यक्षानुभव पूर्व में हुआ था, उस देश में स्थित उस रजत की स्मृति भी 'वह रजत' करके होनी चाहिये, जैसाकि हम कभी दूर देश स्थित किसी मिलने वाले को स्मरण करते हैं, उस स्मरण में 'वह' सर्वनाम जुड़ा रहता है न कि यह । प्रस्तुत भ्रम की व्याख्या में मीमांसकों का कहना है कि यहां पर स्मृति के मात्र एकांश का ही उदय हुआ है अर्थात् 'रजत' इस प्रकार की स्मृति होती है न कि वह रजत' इस प्रकार की। इसमें 'वह' यह अंश भासता नहीं। इस प्रकार की स्मृति को मीमांसकों ने अस्फुट (प्रमुष्ट स्मृति) कहा है। जिस प्रकार 'इद' इस प्रत्यक्ष में इदं के विशेष धर्म शुक्तित्वादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियगत दोषों के कारण नहीं होता उसी प्रकार स्मृति में भी किन्हीं दोषों के कारण 'रजत' की स्मृति 'तद्' सहित न होकर मात्र 'रजत' इस रूप में ही होती है।

इसलिये मीमांसकों के अनुसार 'इदं रजतम्' यहां पर 'इदं' का प्रत्यक्ष भी सत्यज्ञान है और 'रजतम्' की स्मृति भी सत्यज्ञान है। दोनों एकजातीय ज्ञान न होकर दो प्रकार के ज्ञान हैं। इन दो प्रकार के ज्ञानों में जो जातिगत, आकारगत एवं विषयगत पार्थक्य है, भ्रान्त व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता। भ्रान्त व्यक्ति के लिए दोनों ज्ञानों की ख्याति दो ज्ञानों के रूप में नहीं होती,[११६] अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप में प्रतीति होती है। तदनुकूल वह व्यवहार भी करता है। 'इदं रजतम्' एवंप्रकार से इदं और रजत में अभेद उपलब्धि करके भ्रान्त व्यक्ति उसे उठाने के लिये दौड़ता है। इस ज्ञान को वह रजत में रजत के प्रत्यक्षज्ञान के समान सत्य समझ बैठता है।

भ्रमज्ञान के समर्थक दार्शनिक 'इदं रजतम्' में इदं और रजतम् इस प्रकार के दो ज्ञान नहीं मानते, अर्थात् दो ज्ञानों की अख्याति या अग्रह स्वीकार नहीं करते। भ्रमस्थल में वे लोग एक विशिष्ट-ज्ञान स्वीकार करते हैं। मीमांसक प्राभाकर इस की आवश्यकता नहीं समझते। उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष और स्मृति-इन दो ज्ञानों की अख्याति मानने से ही उक्त भ्रम की व्याख्या हो जाती है, इसलिये विशिष्टज्ञानरूप एक तृतीयज्ञान मानने की मीमांसक आवश्यकता नहीं समझते। यहां पर और भी एक बात समझने की है कि जिस प्रकार उक्त भ्रम में इदं और रजत-इन दो ज्ञानों की अख्याति होती है, उसी प्रकार ज्ञानद्वय के विषय 'इदम' और 'रजत' इन दोनों विषयों का पार्थक्य भी भ्रान्तदर्शी के ज्ञान में नहीं भासता। ज्ञानद्वय की अख्याति के समान दोनों ज्ञेयों की पृथक्ता की भी अख्याति होती है।

किन्तु 'पीतः शंखः' एवं प्रकार भ्रमस्थल में ज्ञानद्वय का भेदाग्रहमात्र होता है, ज्ञानद्वय के विषयों का भेदाग्रह नहीं होता, अर्थात् उन के विषयों का भेद ज्ञात

११६. रजतमिदमिति नैकं ज्ञानं किन्तु द्वे एते विज्ञाने। प्रकरणपंजिका—५। पृ० ४३

रहता है।[११७] इस प्रकार के भ्रम में पित्तरोग से दूषित नेत्रों से जब शंख पीला दिखाई देता है तब नेत्र रश्मिश्रों में स्थित पीतद्रव्य गृहीत नहीं होता, किन्तु उस पीत-द्रव्य का गुण पीतवर्ण गृहीत होता है। इसी प्रकार शंख के प्रत्यक्ष में भी शंख का ही प्रत्यक्ष स्वरूपमात्र से होता है। दोषवश शंख के श्वेतवर्ण का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार पीतताज्ञान और शंखज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं हो पाता, जिस कारण 'पीतः-शंखः' इस प्रकार का भ्रम होता हैं। यहां पर पीतताज्ञान और शंखज्ञान स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी दोनों का भेदाग्रह होता है, किन्तु दोनों में विषयगत भेद का ग्रहण होता है। मात्र ज्ञानगत भेदाग्रह होता है।[११८] 'पीतः शंखः' इस भ्रम में पीतताज्ञान और शंखज्ञान दोनों ही अनुभवस्वरूप हैं। 'इदं रजतम्' के समान एक अनुभव और दूसरा स्मृतिज्ञान नहीं हैं। 'पीतः शंखः' इस प्रकार के शब्द व्यवहार की व्याख्या करते हुए अख्यातिवादी मीमांसकों का कहना है कि यथार्थज्ञानस्थल में पीत पुष्प को देखते समय हम पीत और पुष्प को एक ही साथ तादात्म्य समझते हैं। वस्तुतः दोनों पर-स्पर भिन्न हैं, परन्तु भेद का ग्रहण नहीं होता। हम यह भूल जाते हैं कि पीत वर्ण इस पुष्प के साथ अभिन्न नहीं है। जिस प्रकार 'पीत पुष्प' इस यथार्थ ज्ञान में पीत-वर्ण और उसके आधार पुष्प के असम्बन्ध की प्रतीति हमें नहीं होती, उसी प्रकार 'पीतः शंखः' में भी पीतता एवं उसके प्रतीतिस्थलरूप आधार शंख के बीच में जो भेद है, जोकि किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं है, उसकी प्रतीति नहीं होती। नेत्रादि के दोष के कारण पीतता और शंख में सम्बन्ध की ही प्रतीति होती है। 'पीतपुष्प' इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान में जिस प्रकार दो ज्ञान हैं, उसी प्रकार 'पीत शंख' में भी दो ज्ञान हैं, अतः यथार्थ ज्ञान और तथाकथित भ्रम ज्ञान में अख्यातिवादी के अनुसार अन्तर नहीं है। असंसर्गाग्रहरूप सादृश्य दोनों ज्ञानों में है अर्थात् पीत वर्ण और शंख परस्पर भिन्न होने पर भी एक से लगने लगते हैं। इसी कारण अभेदबोधक 'पीतः शंखः' इस प्रकार के शब्द प्रयोग और व्यवहार होते हैं।[११९] 'पीतः शंखः' अख्याति वादी के अनुसार अनुभवात्मक ज्ञानद्वयों में भेदाग्रह का उदाहरण है।

अख्यातिवादी के अनुसार और भी वक्तव्य यह है कि भ्रमवादी जिसे भ्रम कहते हैं वह भ्रम नहीं, अपितु यथार्थज्ञान ही है। अख्यातिवाद में भ्रम है ही नहीं, यह बात पूर्व में कही गई है। विचार करने पर सभी भ्रमों के उदाहरण यथार्थज्ञान को ही सिद्ध करेंगे। 'नेदं रजतम्' इत्यादि बाध भी अख्यातिवादी के अनुसार 'इदं रजतम्' आदि शब्द प्रयोगमूलक व्यवहार का ही बाध करता है। ज्ञान सर्वदा सत्य और अबाधित रहता है। बाधकप्रत्यय को बाधक, ज्ञान के बाध करने के कारण नहीं कहा जाता, अपितु व्यवहार के बाधक होने के कारण बाधक-प्रत्यय कहा जाता है। भ्रमस्थल के इदं और रजत के अबाधित रहने पर भी व्यवहार के बाध होने के कारण गौणरूप

---

११७. सर्वदर्शन संग्रह—पृ० ८१६।
११८. प्रकरणपंजिका ४।४८-५१।, भामती पृ० २७
११९. भामती पृ० २७

से उक्त ज्ञानों को भी बाधित कहा जाता है।

अख्यातिवादी 'सभी ज्ञान यथार्थ हैं' इसके समर्थन में अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करते हैं 'यह रजत है, इत्याकारक व्यवहार का कारणीभूतज्ञान यथार्थ है (प्रतिज्ञा), क्योंकि यह ज्ञान है (हेतु) जो-जो ज्ञान होता है, वही-वही यथार्थ होता है, जैसे उभयवादी संमत घटादि का ज्ञान (उदाहरण)। उक्त भ्रमस्थल के ज्ञान में भी ज्ञानत्व हेतु है (उपनय) अतः 'यह रजत' इत्याकार व्यवहार का कारणीभूत ज्ञान यथार्थ है (निगमन)।"[120]

अख्यातिवाद का प्रत्याख्यान :—

प्रभाकर मीमांसकों के इस अख्यातिवाद की आलोचना नैयायिकों और अद्वैत वेदान्तियों ने की है। भामतीकार ने प्रथम नैयायिकों के पक्ष से ही अख्यातिवाद के खण्डन में युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। अख्यातिवाद के विरुद्ध युक्तियां देते हुए भामतीकार का कहना है कि भ्रान्तव्यक्ति सामने दृष्ट वस्तु की ओर प्रवृत्त होता है। उसे यह निश्चय है कि सामने रजत है, अतः अख्यातिवादी का यह कहना कि उक्त भ्रम में ग्रहण स्मरण दो ज्ञान हैं और दोनों का अग्रहण ही भ्रम है, समीचीन नहीं है।[121] माधवाचार्य ने कहा है कि भ्रान्त व्यक्ति 'इदं' के ज्ञान के वाद उसे रजत मानकर उठाने के लिये प्रवृत्त होता है। यदि इदं के रूप में उसे रजत ज्ञात न होकर शुक्ति का 'ग्रहण' होता तब वह व्यक्ति उसे उठाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि उसको रजत का ज्ञान हुआ है और उसी ज्ञात रजत को ही उठाने का प्रयत्न करता है, रजत ही उसका अभीष्ट है। शुक्ति न उस व्यक्ति के लिये साध्य है न साधन,[122] अतः यह बात सिद्ध है कि शुक्ति का 'ग्रहण' भ्रान्त व्यक्ति को रजत के लिये प्रवृत्त नहीं करा सकता, न ही रजत का 'स्मरण' सामने स्थित वस्तु में प्रवृत्ति करा सकता है, क्योंकि स्मरण सर्वदा अनुभवाधीन होता है। रजत का स्मरण पूर्वदृष्ट रजत में ही प्रवृत्ति करा सकता है न कि सामने। और जब रजत का स्मरण होगा उसके साथ 'तत्ता' (अर्थात् वह रजत जो कल दुकान में देखा था) का भी स्मरण होगा। 'तत्ता' पूर्वानुभूत रजत में ही प्रवृत्त करायेगी।[123] इस प्रकार अख्यातिवाद में प्रवृत्ति की व्याख्या नहीं बन पाती। पंचपादिकाविवरणकार प्रकाशात्मयति अख्याति का खण्डन करते हुए अख्यातिवादी से प्रश्न करते हैं कि यह अख्याति क्या है? क्या ख्याति का न होना अख्याति है अर्थात् ज्ञान का न होना ही अख्याति है? ख्याति अभाव

---

१२०. यथार्थाः, सर्वे विप्रतिपन्नाः सन्देहविभ्रमाः, प्रत्ययत्वात् घटादि प्रत्ययवत्। भामती--पृ० २७ सवदर्शनसंग्रह—पृ० ८२३ विवरण प्रमेयसंग्रह—पृ० ९८-९९

१२१. अस्ति तावद्रजतार्थिनो रजतमिदमिति प्रत्ययात्पुरोवर्तिनि द्रव्ये प्रवृत्तिः——तदेतन्न तावदग्रहणस्मरणयो स्तद्गोचरयोश्च मिथो भेदाग्रहमात्राद्भवितुमर्हति—भामती—पृ० २७, २८

१२२. सर्वदर्शन संग्रह—पृ० ८२४

१२३. नाऽपि रजत स्मरणं पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिकारणम्, तस्यानुभव पारतन्त्र्यतयानुभवदेश एव प्रवर्तकत्वात्। वही

को ही अख्याति नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिप्रसंग होगा अर्थात् उक्त कथन के अनुसार एकमात्र सुषुप्ति को ही भ्रम मानना पड़ेगा। सुषुप्ति में किसी प्रकार की ख्याति नहीं होती।[१२४] जाग्रत एवं स्वप्न में किसी प्रकार का भ्रम हो ही नहीं पायेगा। इस प्रकार अख्यानिलक्षण की अतिव्याप्ति सुषुप्ति में और अव्याप्ति जाग्रत-स्वप्न में होगी।[१२५] प्रश्न में विवरणकार ने दूसरा विकल्प किया है कि 'क्या अख्याति का अर्थ' अन्य वस्तु को चाहने वाले व्यक्ति की अन्य वस्तु में प्रवृत्ति का कारण विज्ञान, ही है? ऐसा मानने पर 'इदं रजतम्' इस भ्रम के अव्यवहित उत्तर-क्षण में 'नेदं रजतम्' ऐसा जिस का बाध हो जाता है, उस भ्रमस्थल में भ्रम का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि वहाँ पर प्रवृत्ति न होने के कारण प्रवृत्तिकारणत्व नहीं सिद्ध होता। अथवा जहां पर भ्रम होने पर आलस्य के कारण प्रवृत्ति नहीं होती वहाँ पर भ्रम नहीं माना जा सकेगा।[१२६]

तृतीय विकल्प करते हुए उन्होंने कहा है कि क्या तब अविविक्त अनेक वस्तुओं का विज्ञान ही अख्याति है? इसमें भी दोष है, क्योंकि इस विकल्प में विविक्तत्व के अभाव का प्रतियोगीभूत जो विविक्तत्व है, वह क्या भेदज्ञान है? अथवा अभेद का अज्ञान ही विविक्तत्व है? या इतरेतराभावभेद द्वित्वादिसंख्याविशिष्टज्ञान विविक्तत्व है?[१२७] इनमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है, क्योंकि 'इदं' सामान्य और 'रजतम्' विशेष इन दोनों का भेदग्रह स्पष्ट होने के कारण दोनों का अविवेक असंभव हो जायेगा। इसी प्रकार प्रथम विकल्प में भेदग्रह की सिद्धि होने पर उसके निषेधस्वरूप भेदाग्रह संभव नहीं। इसी प्रकार तृतीय पक्ष में भी विवरणकार ने अनेक दोष दिये हैं।[१२८]

यदि अख्यातिवादी असंसर्ग (सम्बन्धाभाव) का अग्रह को ही अविवेक कहते हैं तो भी अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि यदि असंसर्गअग्रह ग्रहण और स्मरण दो ज्ञानों का मानेंगे तो 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भ्रम नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यहाँ पर दोनों ही ज्ञान अनुभवात्मक हैं, अतः उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि किन्हीं दो ज्ञानों का असंसर्गअग्रह अविवेक है तब, 'खण्डो गौः' 'शुक्लः पटः' इन ज्ञानों में भी भ्रमत्व हो जायेगा, अतः अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि असंसर्ग की प्रतीति इन दोनों ज्ञानों में

---

१२४. अद्वैत के अनुसार सुषुप्ति में भी अज्ञान की ख्याति होती है, अतः यह दोष परमत के अनुसार दिया गया है। विवरणप्रमेयसंग्रह टिप्पणी—पृ० १०२

१२५. केयमख्यातिः इति, न तावत्ख्यात्यभावमात्रम्, अनभ्युपगमादतिप्रसंगाच्च। पंचपादिकाविवरण पृ० १३१, मद्रास १९५८ सुषुप्तेभ्रमप्रसंगात् जाग्रतश्च असम्भवात् नायंपक्षः सम्भवति। विवरणतात्पर्यदीपिका—पृ० १३१, मद्रास १९५८।

१२६. अन्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुः ज्ञानमिति चेत् यत्र तर्हि न प्रवृत्तिः झटिति बाधश्च तत्र कथं भ्रान्तिः। वही

१२७. अथ अविविक्तानेकपदार्थज्ञानम्। पं० विवरण पृ० १३२ (मद्रास १९५८)

१२८. पं० विवरण पृ० १३२ ,, ,,

नहीं होती।[१२९] इस प्रकार विवरणकार के अनुसार अख्यातिवाद भ्रमस्थल की व्याख्या नहीं दे सकता। मण्डनमिश्र का कहना है कि अख्यातिवादी ग्रहण और स्मरण में असंसर्ग अग्रह को ही भ्रम मानते हैं, यह समीचीन नहीं है, क्योंकि भ्रमस्थल में भ्रान्त व्यक्ति रजत को प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त होता है और रजत के न मिलने पर 'नेदं रजतम्' इस प्रकार का वह निषेध करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति और निषेध से सिद्ध होता है कि भ्रमस्थल में भाववस्तु ही प्रवर्तक है, अग्रहण व्यक्ति के लिये प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि अग्रहण अभाव है, अभाव प्रवर्तक नहीं होता और प्रतिषेध भी प्राप्त का ही होता है।[१३०]

नैयायिकों की ओर से अख्यातिवाद पर आक्षेप उठाते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'इदं' और 'रजतम्' इन दो ज्ञानों का और इन दो ज्ञानों के विषय 'इदं' वस्तु एवं 'रजत' इनके परस्पर भेदाग्रह ही भ्रान्त व्यक्ति को रजत प्राप्ति के लिये प्रवृत्त कराते हैं, यह युक्तिपूर्ण नहीं है: क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञानपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होता है। अज्ञानपूर्वक कोई भी कार्य नहीं करते।[१३१] सुषुप्ति में जीव को ज्ञान नहीं रहता, अतः ज्ञानाभाव के कारण उस अवस्था में जीव में किसी प्रकार प्रवृत्ति या चेष्टा भी नहीं देखी जाती। जाग्रत एवं स्वप्न में ज्ञान रहता है एवं प्रवृत्ति, चेष्टा आदि भी वहाँ देखी जाती हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान प्रयत्न का कारण है, अतः 'इदं' और 'रजतम्' इनके भेदज्ञान का अभाव किसी भी प्रकार से रजतार्थी के रजतग्रहण में प्रवृत्ति का कारण नहीं बन सकता। इस पर अख्यातिवादी का कहना है कि हम उक्त दो ज्ञानों और दोंनों के विषयों के परस्पर भेदज्ञान के अभाव को ही रजतग्रहण में प्रवृत्तिकारण नहीं कहना चाहते, अर्थात् अख्यातिवाद का कहना है कि ज्ञानाभाव को हम प्रवृत्ति में कारण नहीं मान रहे हैं, अपितु भेदज्ञान के अभावज्ञान को ही कारण मानते हैं। इससे अज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति-असंभववाला दोष हमारे में नहीं लगता, क्योंकि हम भी ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्ति कह रहे हैं। अख्यादिवादी और भी आगे कहते हैं कि उनके मतानुसार जिस प्रकार 'इदं रजतम्' इस प्रकार के सत्य रजतानुभवस्थल में इदं और रजत में भेदबुद्धि नहीं होती, भेदबुद्धि का अभाव ही रहता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्या रजत स्थल में भी वस्तुतः 'इदं और रजत' में भेद रहने पर भी चक्षु आदि के दोष के कारण वह भेद गृहीत नही होता, अपितु भेदाग्रह ही प्रतीत होता है। दोनों में भेदाग्रह होने के कारण एवं सत्य रजतज्ञान तथा मिथ्या रजतज्ञान में सादृश्य के कारण मिथ्याज्ञान भी सत्यज्ञान के समान व्यवहारहेतु हो जाता है।[१३२] इस प्रकार रजतार्थी रजतग्रहण करने में प्रलुब्ध हो जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त

---

१२९. पं० विवरण पृ० १३२,१३३, (मद्रास १९५८)
विवरण प्रमेयसंग्रह—पृ० १०४, १०५

१३०. नेदं रजतम् इति प्रसक्तप्रतिषेधरूपा प्रतीतिः नाग्रहणेऽवकल्पतेप्रसंगाभावात्। न खल्वग्रहणं कस्यचित् प्रसंजकम्, अभावो हि सः। ब्रह्मसिद्धि—पृ०१४३

१३१. भामती—पृ० २८

१३२. भामती—पृ० २८

आपत्ति अख्यातिवाद में उठायी नहीं जा सकती।

इस पर नैयायिकों की ओर से भामतीकार प्रश्न करते हैं कि अख्यातिवादी सत्यमिथ्याज्ञान के जिस सादृश्य के कारण भ्रमस्थल में रजतार्थी के व्यवहार और प्रवृत्ति आदि की सिद्धि दिखाना चाहते हैं, उस सादृश्य का स्वरूप क्या है ? यदि कहा जाय कि भ्रमस्थल के 'इदं' और 'रजतम्' इन दो ज्ञानों के साथ 'इदंरजतम्' इस प्रमाज्ञान का सादृश्य है, अतएव उक्त प्रमाज्ञान के सादृश्य होने के कारण भ्रमस्थल में भी शब्द व्यवहार एवं प्रवृत्ति आदि देखी जाती है, तो भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त सादृश्य कभी भी व्यवहारादि का सम्पादन करने में समर्थ नहीं होगा। इसके लिये वाचस्पति मिश्र और न्यायमकरन्दकार ने एक दृष्टान्त देकर समझाया है कि 'गवय नामक अरण्यप्राणी गौ के सदृश है' ऐसा सादृश्य ज्ञात होने पर भी गवय देखकर गवय को गौ समझ कर गौग्रहण की प्रवृत्तिया 'गौ' इस प्रकार के सत्य गौ के व्यवहार गवय में नहीं हुआ करते।[133] 'राम श्याम के सदृश है और इस प्रकार सादृश्यबोध होने पर भी राम को देखकर श्याम को जो बातें कहनी थीं वे राम को नहीं कहते, इसीलिये यह बात युक्तियुक्त है कि सादृश्यबुद्धि कभी भी व्यवहार-प्रवृत्ति आदि सम्पादन में पर्याप्त नहीं है।

अख्यातिवादी के अनुसार जब भ्रमस्थल में 'इदं' और 'रजतम्' ये दो ज्ञान एकत्र सत्यज्ञान 'इदं रजतम्' के समान हैं--वतलाये जाते हैं, तव उक्त भ्रमस्थल के उक्त दो ज्ञानों को दो ज्ञान समझ करके कहा जाता है। इस प्रकार जब अख्यातिवादी के अनुसार भ्रमस्थल में दो ज्ञानों को भ्रान्त व्यक्ति जानता है तब भेदाग्रह नहीं रहा और तन्निबन्धन भ्रम भी सिद्ध नहीं हो सकता।

सत्य और मिथ्याज्ञान में भेदज्ञान के अभाव के कारण जो सादृश्य है, वह सादृश्य अज्ञात रहकर व्यवहार और प्रवृत्ति आदि का संपादन नहीं कर सकता, क्योंकि बुद्धिमान व्यक्ति ज्ञानपूर्वक ही कर्म में प्रवृत्त होता है। भ्रान्त व्यक्ति भ्रमस्थलीय रजत को रजत समझ कर ही उसके आहरण में प्रवृत्त होता है। रजत यदि भ्रान्त व्यक्ति के ज्ञान का विषय न हो तो उसे प्राप्त करने की चेष्टा नहीं हो सकती, इसलिये यह कहना होगा कि भेदबुद्धि के अभावहेतु जो अज्ञात सादृश्य उत्पन्न होता है, वह अन्य किसी ज्ञान को उत्पन्न करके ही रजतार्थी के व्यवहार और प्रवृत्ति का संपादन करता है, और वह ज्ञान है अनुपस्थित रजत को सम्मुख में देखना। रजत का स्मरण ही प्रवृत्ति आदि का कारण है, ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि मात्र स्मरण प्रवृत्ति का जनक नहीं हो सकता। रजतार्थी व्यक्ति सम्मुख में स्थित इदं पदार्थ को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता देखा जाता है। वह सामने कुछ न देखकर मात्र स्मरण से ही सामने दौड़ता नहीं है। इस विषय में किसी को भी विवाद नहीं है।

१३३. न हि गोसदृशोगवय इति ज्ञानं गवार्थिनं गवये प्रवर्तयति, भामती—पृ० २८
नोखलु गोसन्निभो गवय इत्यवभासो गवार्थिनांगवये व्यवहारकारणभावं भजते।
न्यायमकरन्द, पृ० ६८।

पुरोवर्ती इदं को रजत के रूप में देखकर पाने की अभिलाषा भ्रान्त व्यक्ति की होती है, क्योंकि प्रवृत्ति के पूर्व इच्छा होती है, इच्छा और प्रवृत्ति का विषय एक होता है।[१३४] स्मरण का ज्ञान और इदं में इच्छा और प्रवृत्ति मानने पर अन्य का ज्ञान, अन्य की इच्छा, और अन्य में प्रवृत्ति प्रसंग हो जायेगा।[१३५] इसलिये अख्यातिवादी को यह मानना होगा कि पुरोवर्ती वस्तु में दो ज्ञान प्रवर्तक नहीं हो सकते, किन्तु एक स्वतन्त्र विशिष्टज्ञान ही उसमें प्रवर्तक है। यह बात 'इदं रजतम्' इस सामानाधिकरण्य से भी समझी जा सकती है। उक्त सामानाधिकरण्य में 'इदं रजतम्' करके इदं को ही रजत समझा गया है। पुनः अख्यातिवादी का कहना है कि पुरोवर्ती वस्तु को रजत करके न जानने पर भी, 'यह रजत नहीं है' एवंरूप से भ्रमकाल में नहीं जानते, अतः रजत शब्दव्यवहार तथा प्रवृत्ति आदि का संपादन हो जाता है। इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि जब भ्रान्त व्यक्ति पुरोवर्ती वस्तु को रजत करके नहीं जानता तब वह उसकी उपेक्षा ही करेगा, क्योंकि रजतरूप में जानना ही प्रवर्तक है, न कि न जानना। इस प्रकार 'इदं' को 'रजत नहीं है' न जानने पर भी 'रजत है' न जानने के कारण प्रवृत्ति नहीं बनेगी। वस्तुतः अनुभव में यही देखा जाता है कि रजत को लेने के लिये प्रवृत्ति होती है, अतः मीमांसकों का पक्ष समीचीन नहीं है,[१३६] अतः रजत पुरोवर्ती वस्तुविषयक है।

न्यायमकरन्दकार ने इस बात को अनुमान के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है--विवादास्पदीयभूत रजतविज्ञान सामने स्थित रजत-विषयक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि रजतार्थी उसमें नियम से प्रवृत्त होता है (हेतु) उभयवादीसंमत सत्यरजतविज्ञानवत् (उदाहरण)।[१३७]

भ्रान्तव्यक्ति के रजत का विषय सामने स्थित शुक्ति ही है न कि स्मरणात्मक रजत। इसी को माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में अनुमान के रूप में प्रस्तुत किया है—विवादास्पद शुक्तिभाग रजतज्ञान का विषय है (प्रतिज्ञा) क्योंकि रजतार्थी की प्रवृत्ति बिना व्यवधान के उसीकी ओर होती है (हेतु) क्योंकि रजत-शब्द का जो समानाधिकरण दूसरा शब्द इदं है उसका वाच्य शुक्ति ही है, जैसे वास्तविक रजत (उदाहरण)।[१३८]

इस पर मीमांसकों की ओर से शंका है कि रजत का ज्ञान यदि सीपी पर आधारित हो जाय तो अनुभव का विरोध होगा ? अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि

---

१३४. जानाति, इच्छति ततः प्रवर्तते इति न्यायेन ज्ञानेच्छा-प्रवृत्तीनां समानविषयत्वेन भाव्यम्। सर्वदर्शनसंग्रह—पृ० ८२६

१३५. न्यायमकरन्द—पृ० ७१

१३६. न्यायमकरन्द—पृ० ७१

१३७. विवादाध्यासितं रजतविज्ञा पुरोवर्तिवस्तुविषयं रजतार्थिनस्तत्रनियमेन प्रवर्तकत्वादुभयवादास्पदरजतविज्ञानवत्। न्यायमकरन्द—पृ० ७२। भामती—पृ० २८-३०

१३८. सर्वदर्शनसंग्रह—पृ० ८३३

अनुभव-विरोधवाली बात समीचीन नहीं है। मीमांसकों से यह पूछा जाय कि अनुभवविरोध कहाँ पर है ? उनका उत्तर होगा या तो शुक्तिशकल को आधार मानने पर अनुभवविरोध होगा या इदमंश को आधार मानने पर। शुक्तिशकल को शुक्तित्वावच्छिन्न शुक्ति के रूप में रजतज्ञान का आलम्बन अद्वैतवादी नहीं मानते, अतः उक्त पक्ष से दोष नहीं दिया जा सकता। दूसरा पक्ष इदमंश को रजतज्ञान का आधार मानना है। 'इदम्' को रजत-ज्ञान का आधार न मानने पर अद्वैत मत में नहीं अपितु अख्यातिवाद में ही अनुभव-विरोध होगा। इदं के चाक्चिक्यादि से जिसका ज्ञान होता है, भ्रान्त व्यक्ति उसका ज्ञान 'इदं' आधार में ही करता है, अर्थात् वह ज्ञान इदंविषयक ही होता है, यह अनुभव सिद्ध है, क्योंकि भ्रान्त व्यक्ति इदं की ओर ही रजत कह कर अंगुली से निर्देश भी करता है और लेने के लिये भी इदं की ओर ही जाता है।[१३९]

दोष कार्योत्पादन की स्वाभाविक शक्ति का केवल प्रतिबन्ध कर सकते हैं, विपरीत कार्योत्पादन में समर्थ नहीं होते—इस अख्यातिवादी द्वारा उठाये गये आक्षेप की भी अद्वैतवादियों ने आलोचना की है। अद्वैतवादी यह बात मानने को तैयार नहीं होते कि दोष नये कार्य का उत्पादन करने में असमर्थ है। इसके स्पष्टीकरण में अद्वैतवादी कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उन उदाहरणों के माध्यम से यह समझाने का प्रयास करते हैं कि दोष भी नये कार्यउत्पादन कर सकते हैं। उदाहरण के रूप में दावाग्नि से जले हुए वेत्र बीज से केले के पेड़ की उत्पत्ति देखी जाती है। दूषित अर्थात् जलकर दूषित वेत्र बीज में अन्य वस्तु केले के पेड़ को उत्पन्न करने की शक्ति होती है, ऐसा अद्वैतवादियों का कहना है।[१४०] यदि कहा जाय कि जल जाने पर वह वेत्र बीज रहा ही नहीं, अतः वेत्र बीज कदलीकाण्ड की उत्पत्ति में कारण नहीं सिद्ध हुआ, उचित नहीं, क्योंकि कच्चे घड़े को पकाने के बाद रक्त हो जाने पर उसे घड़ा ही कहते हैं। श्याम घट पक जाने पर अन्य नहीं हो जाता, क्योंकि घटत्व तो रक्त घट में भी है। इसी प्रकार वेत्रबीजत्व तो जले हुए वेत्रबीज में भी है, अतः जले हुए वेत्र बीज से ही कदली की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। उसी प्रकार दूसरा उदाहरण अद्वैतवादियों ने भस्मकदोष से दूषित जठराग्नि का दिया है। उसमें बहुत अन्न पचाने का सामर्थ्य हो जाता है। इससे भी अद्वैतवादी दोषों में नये कार्योत्पादनसामर्थ्य की सिद्धि करते हैं।[१४१] और भी मीमांसकमत में ज्ञान यथार्थ व्यवहार के कारण होने पर भी दोष के कारण अयथार्थ व्यवहार के प्रयोजक हैं, अर्थात् 'इदं' 'रजत' दोनों ज्ञान ग्रहण स्मरण के रूप में सत्य होने पर भी दोषवशः एक ज्ञान से व्यवहृत होने लगते हैं। इसका अर्थ हुआ दोष नया व्यवहार उत्पन्न कर सकते हैं, अर्थात् मीमांसकों को भी दोषों में विपरीत कार्यजननशक्ति माननी पड़ेगी।

---

१३९. सर्वदर्शनसंग्रह—पृ० ८३३, ८३४

१४०. दावदहनदग्धवेत्रबीजादपि कदलीकाण्डोत्पत्तिदर्शनात्। न्यायमकरन्द—पृ० ७५

१४१. भस्मकदोषदूषितस्य जाठरजातवेदसो बहुतराहारदाहहेतोरुपलम्भात्। न्ययामकरन्द—पृ० ७५

इस प्रकार 'यथार्थाः सर्वे प्रत्ययाः' इस मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान में भी अद्वैतवेदान्तियों ने बाधित नामक हेत्वाभास दोष दिया है, अर्थात् उक्त अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित हो जाता है—जैसा वह्नि अनुष्ण सिद्ध करने का अनुमान प्रत्यक्ष सिद्ध वह्नि की उष्णता के अनुभव से बाधित होता है, उसी प्रकार भ्रमस्थल का रजत शुक्ति के ज्ञान से 'यह रजत नहीं है' करके बाधित हो जाता है, अतः भ्रमस्थलीय रजत बाध्य होने से मिथ्या है। उसका प्रत्यय भी मिथ्या है।[१४२]

अख्यातिवादी मीमांसकों ने भ्रम स्वीकार नहीं किया है, जैसाकि पिछले पृष्ठों में हमने विचार किया है। सभी ज्ञान चाहे वह तथाकथित भ्रमस्थलीय शुक्ति-रजत ज्ञान हो, चाहे यथार्थरजत का ज्ञान हो, सत्य हैं। हमने पूर्व ही यह विचार किया है कि ज्ञान विषय के अभाव में मिथ्या हुआ करता है। विशेषकर यह सिद्धांत कि 'विषयाभाव के कारण ज्ञान मिथ्या है', वस्तुवादी दार्शनिकों का है, क्योंकि वस्तुवादी दार्शनिक बिना विषय के ज्ञान नहीं मानते। बिना घट के घट ज्ञान की कल्पना भी उनके अनुसार नहीं की जा सकती। यही तर्क इन दार्शनिकों ने आत्मख्यातिवादी के विरोध में प्रस्तुत किया है। मीमांसक भी तत्वमीमांसा में यथार्थवादी है, अतः ज्ञान के लिए उनके मत में भी विषय अवश्य होना चाहिये। यथार्थ प्रत्ययों में तो ज्ञान का विषय सामने होता ही है, अयथार्थ प्रत्ययों में भी दो सत्य ज्ञानों को और उनके सत्य ज्ञानों के विषयों को उन्होंने माना है, अर्थात् उनके अनुसार "इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल में रजतज्ञान स्मृतविषयक होने के कारण तथा स्मृतविषयक पूर्वानुभूत विषय होने के कारण, पूर्वानुभूत विषय यथार्थ विषय होने के कारण, सत्य है। इधर 'इदं' सत्य है, यह तो न्याय-वेदान्तादि दार्शनिक भी स्वीकार करते हैं, मीमांसक भी। अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या भ्रम और यथार्थ में कोई अन्तर है ही नहीं? अख्यातिवादी के अनुसार कोई भी सैद्धांतिक अन्तर नहीं है। तार्किक पक्ष में दोनों समानज्ञान हैं, किंतु व्यवहार में अन्तर है। व्यवहार में तथाकथित भ्रम का रजत काम नहीं देता, अतः वह भ्रम है। सत्य-रजत काम देता है, वह सत्य है। निस्सन्देह ज्ञान अपने तार्किक पक्ष में कभी भ्रामक नहीं हो सकता। लेकिन ऐसा हो सकता है कि वह व्यवहार में काम दे या न दे। यदि वह व्यवहार में काम देता है तो प्रमाण है और यदि काम नहीं देता तो अप्रमाण है।[१४३] अन्य भ्रमवादी दार्शनिक भी भ्रम की व्याख्या में व्यवहार को अर्थात् व्यवहार में विसंवाद और अविसंवाद को ही भ्रम और यथार्थ की कसौटी मानते हैं। मात्र अन्तर इतना है कि अद्वैतवेदान्त वस्तु और ज्ञान दोनों का बाध मानता है, जबकि प्राभाकर मात्र व्यवहार तथा भेदाग्रह का बाध मानता है। प्राभाकरों के अनुसार भेदाग्रह का बाध भेदग्रह से हो जाता है। उक्त दोनों ज्ञानों में या ज्ञान विषयों

---

१४२. सर्वदर्शन संग्रह—पृ० ८३७, भामती—पृ० ३०

१४३. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—पृ० ३१७ (आंग्ल चतुर्थ संस्करण-हिरियन्ना, एलेन एण्ड अनविन, १९५८)

में भेद तो था, तद्बुद्धि नहीं थी। भेदग्रह बुद्धि द्वारा भेदाग्रह बुद्धि के बाधित होने पर उस बुद्धि को (भेदाग्रह बुद्धि को) मिथ्या कह सकते हैं और उसका बाधपूर्वक व्यवहारादि का भी बाध हो जाता है, अतः भेद रहने पर भी भेदाभाव के रूप में दोनों ज्ञानों, विषयों को समझना, एक प्रकार से विपरीत समझना ही हुआ। इस प्रकार इसे विपरीतख्याति भी कह सकते हैं। भासर्वज्ञ ने न्यायभूषण में दो सद्वस्तुओं के भेद रहते हुए भी अभेदरूप में ग्रहण करने को विपरीतख्याति कहा है।[१४४] इस प्रकार संसर्ग न होने पर भी संसर्ग मानकर प्रवृत्त होना भ्रम को सिद्ध करता है और उस विपरीतता का बाध होने पर वस्तु-द्वयों या वस्तुद्वयविषयक ज्ञानद्वयों का बाध न होने पर भी संसर्ग के बाध होने पर तथा संसर्ग बुद्धि के भी बाध होने पर किसी हद तक अख्यातिवाद में भी भ्रम सिद्ध होता है, अतः अख्यातिवादी का यह दावा कि "सभी प्रत्यय यथार्थ है", यह कथन भ्रम की कसौटी–प्रवृत्ति और बाध में यथार्थ नहीं बैठता। या तो प्रवृत्ति और बाध को भ्रम की कसौटी स्वीकार न करें या फिर भ्रम स्वीकार करें—दोनों में से प्राभाकारों को एक स्वीकार करना होगा। प्राभाकरों के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं अर्थात् अयथार्थ ज्ञान हैं ही नहीं, किंतु अप्रामाणिक ज्ञान हैं, क्योंकि प्राभाकरों ने ज्ञान के दो भेद किये हैं—प्रामाणिक ज्ञान और अप्रामाणिक ज्ञान। प्रामाणिक ज्ञानों में प्रामाण्य स्वत: आता है और अप्रामाणिक ज्ञानों में अप्रामाण्य परतः आता है। इसका अर्थ हुआ सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं किंतु कुछ ज्ञान यथार्थ होते हुए भी अप्रामाणिक होते हैं, जबकि न्यायवैशेषिक वेदान्तादि दर्शनों में यथार्थानुभव को प्रमाण और अयथार्थानुभव को भ्रम कहा है। मीमांसक प्राभाकारों की यह बात समझ में नहीं आती कि अप्रामाणिक ज्ञान यथार्थ कैसे होते हैं ? व्यवहारिक दृष्टि में प्राभाकरों की अख्याति से भ्रम की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती, क्योंकि भ्रम की व्याख्या उसे अस्वीकार करके की गई।

अन्यथाख्याति :—

भ्रम को न्यायदर्शन में विपर्यय कहा है, विपर्यय का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ ने कहा है—"मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः"।[१४५] अर्थात् विपरीतार्थ निश्चय या जो जहां पर नहीं वहां उसको समझना ही विपर्यय है। नैयायिकों ने भ्रम की व्याख्या अन्यथाख्याति द्वारा की है। उनके अनुसार भ्रमस्थल में वस्तु अन्यथा या विपरीत रूप में प्रकाशित होती है। आचार्य शंकर ने नैयायिकों के अनुसार भ्रम की व्याख्या करते हुए अध्यासभाष्य में कहा है—"यत्र यदध्यासस्तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते।"[१४६] भामतीकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है "यत्र अर्थात्

१४४. यदि भिन्नयोः सतोरभेदेन ग्रहणं, तदा विपरीतख्यातिः स्यात्—न्यायभूषण—पृ० २९

१४५. न्यायभूषण—पृ० २५

१४६ वाचस्पति मिश्र के अनुसार भ्रम का यह लक्षण न्याय के अनुसार है। भाष्यरत्नप्रभाकार गोविन्दानन्द एवं न्यायनिर्णयकार आनन्द गिरि के अनुसार उक्त भ्रम का लक्षण शून्यवादी बौद्धों के अनुसार है। गोविन्दानन्द एवं आनन्द गिरि ने विपरीत शब्द का अर्थ सत्विपरीत किया है। वाचस्पति ने 'विपरीत शब्द का अर्थ अन्यवस्तु का धर्म किया है। भाष्यरत्न प्रभा-भामती-न्याय

जहाँ पर शुक्ति आधार में, जिसका रजत का अध्यास होता है, उसी शुक्ति के विपरीत धर्मकल्पना करना ही अध्यास है।"[१४७] न्याय के अनुसार शुक्ति में जो भ्रान्त व्यक्ति को रजतज्ञान होता है, वह केवल शुक्तिज्ञान नहीं, और न केवल रजतज्ञान ही। यहाँ पर इन दोनों से पृथक् एक तृतीय ज्ञान है। यह तृतीय ज्ञान एक विशिष्टज्ञान है। इस ज्ञान का विशेष्य है "इदं रजतम्" में से "इदमंश", और विशेषण "रजतम्" है। इसी को न्यायमत में भ्रमज्ञान कहा जाता है। एवं प्रकारक भ्रमज्ञान में प्रथम चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के साथ चक्षु का संयोग होता हैं। दोनों के रहने के कारण उक्त चाक्चिक्ययुक्त वस्तु के विशेष धर्म शुक्तित्व का ग्रहण नहीं हो पाता। इसके बाद रजत और पुरोवर्ती द्रव्य में सादृश्यज्ञान रजतस्मृति को उत्पन्न कर देता है। इसके पश्चात् स्मृति का विषय उस रजत के साथ पुरोवर्ती द्रव्य का एक तादात्म्यसम्बन्ध दोष के कारण गृहीत होता है। न्याय के अनुसार यही भ्रम है। भ्रम के कारण शुक्ति में तदभिन्नरूप से गृहीत रजत है। उसमें सत्य रजत के समान इष्टसाधनता ज्ञान होने लगता है अर्थात् 'इस रजत के पाने पर मुझे लाभ होगा', ऐसा ज्ञान होता है। इसके पश्चात् उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। इच्छा के बाद ग्रहण करने के लिए प्रवृत्ति होती है।[१४८] इस ज्ञान में पुरोवर्ती वस्तु एवं रजत दोनों ही सत्य वस्तुएं हैं। मात्र तादात्म्यसंसर्ग अर्थात् सम्बन्ध ही परस्पर में आरोपित है।[१४९]

अब प्रश्न यह होता है कि भ्रमस्थल में 'रजत को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ', इस प्रकार अनुभव होता है,[१५०] ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होता है, जैसे 'घट को देखता हूँ' में घट के साथ चक्षु का संयोग सन्निकर्ष होता है, तभी घट का प्रत्यक्षज्ञान होता है। इसी प्रकार यदि शुक्तिरजत प्रत्यक्ष होता है तो उसमें भी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आवश्यक होगा, परन्तु उक्त स्थान में रजत के साथ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तो है नहीं, क्योंकि रजत सामने नहीं है, फिर रजत का प्रत्यक्ष कैसे होता है? इसके समाधान में नैयायिकों ने ज्ञानलक्षणानामक अलौकिक सन्निकर्ष की बात कही है। नैयायिक भी यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के लिये

निर्णय पृ० २२, २३। सभी मतों में कुछ अंशों में समानता ही उक्त मतभेद का कारण है। 'विपरीत' शब्द का अर्थ विरुद्ध करने पर रत्नप्रभाकार का मत समीचीन लगने लगता है, किन्तु विपरीत शब्द का प्रयोग अन्यथाख्याति के लिए प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में विपरीतख्याति का प्रयोग किया है।—पृ० ५२, अतः आचार्य के उक्त लक्षण की व्याख्या में हमने वाचस्पति का ही अनुसरण किया है।

१४७. यत्रशुक्तिकादौ यस्य रजतादेरध्यासस्तस्यैव शुक्तिकादेर्विपरीतधर्मकल्पनां रजतत्वधर्मकल्पना-मितियोजना-भामती—३०।

१४८. न्यायमकरन्द—पृ० ८१, ८२

१४९. न्यायमतानुसार किसी भी सविकल्पकज्ञान में ये तीन भाग होते हैं विशेष्य, विशेषण (प्रकार), संसर्ग (सम्बन्ध) जैसे 'घटवत् भूतलम्' इसमें भूतलविशेष्य, घट विशेषण या प्रकार और दोनों में जो संयोग सम्बन्ध है, वह संसर्ग है।

१५०. वेदान्ततत्वविवेक—पृ० ६०, नृसिंहाश्रम, नारायण शास्त्री सम्पा० मैसूर, १९५५।

सन्निकर्ष आवश्यक है। शुक्तिरजत प्रत्यक्ष में लौकिक अन्य सन्निकर्ष संभव नहीं है, अतः इस समस्या का समाधान ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से ही संभव है। भ्रमस्थल में भ्रम उसी को होता है जिसने पहले उस पदार्थ को देखा हो। देखी हुई वस्तु संस्कार के रूप में आत्मा में होती है। जब तत्सदृश कोई वस्तु सामने दीखती है और उसका विशेष धर्मसहित ज्ञान नहीं हो पाता, किन्तु सामान्य ज्ञान हो पाता है, उस समय में आत्मा में स्थित संस्कारों के उद्बुद्ध होने के कारण पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। वह स्मृति ही ज्ञान है। पूर्वदृष्ट वर्तमान में स्मर्यमाण वस्तु का स्मृतिरूप एक प्रकार सम्बन्ध मन के साथ होता है। उसके बाद उस सम्बन्धयुक्त मन के साथ चक्षु आदि इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्मर्यमाण वस्तु के साथ इन्द्रिय का एक परम्परा सम्बन्ध होता है। इसको न्याय की भाषा में, 'स्वसंयुक्त मनोजन्यस्मृतिविषयत्वरूप सम्बन्ध' कहा जाता है। ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से, 'इदं रजतम्' में भी 'सुरभिचन्दनम्' के ज्ञान के समान स्मर्यमाण रजत संयुक्त मन और मन से संयुक्त चक्षु इन्द्रिय से रजत का प्रत्यक्ष हो जाता है।[१५१] इस विशिष्टज्ञान का विशेष्य 'इदम्' और विशेषण, 'रजतम्' तथा दोनों के सम्बन्ध को वैशिष्ट्य एवं उक्त ज्ञान को विशिष्टज्ञान कहा जाता है, अर्थात् 'इदं रजतम्' में रजतप्रकारक इदंविशेष्यक विशिष्टज्ञान है। यह विपर्यय इसलिये है क्योंकि इस ज्ञान में प्रमाज्ञान का लक्षण नहीं घटता। प्रमा यथार्थ ज्ञान को कहा गया है। यथार्थ ज्ञान का अर्थ है 'तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान', अथात् यथार्थ रजत में 'इदं रजतम्' का ज्ञान, क्योंकि इस में रजत विशेष्य में रजतत्ववाला रजत का ज्ञान होता है, किन्तु भ्रमस्थल में रजताभाववति शुक्ति में रजतत्ववाला ज्ञान होता है; इसलिये यह भ्रम है। 'तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान' को अयथार्थ या भ्रम ज्ञान कहा है।[१५२]

प्रमाज्ञान होने के लिये शुक्ति में शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान होना चाहिये, अतः रजताभावस्थल शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान विपर्यय या मिथ्याज्ञान है। उक्त प्रकार ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से जब भ्रमस्थल में 'इदं रजतम्' इस प्रकार रजत का प्रत्यक्ष होता है, तब पूर्वानुभूत रजत में इष्टसाधनता का स्मरण हो आता है, अर्थात् रजत जो काम की वस्तु है, स्मरण हो आता है। साथ में इदं में अभिन्नरूप से दृष्टरजत का भी इष्टसाधनत्व अनुमित होता है। अनुमान का रूप होगा—

१—रजत द्वारा संपादन करने योग्य कार्य सम्मुख में उपस्थित वस्तु से भी हो सकता है (प्रतिज्ञा)।

२—क्योंकि सम्मुख में उपस्थित वस्तु में भी रजत का कारण रजतत्त्व है (हेतु)।

३—जिसमें भी रजत का धर्म रजतत्त्व होता है, वही रजत द्वारा संपादन

---

१५१. अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन टीका—पृ० १

१५२. तर्कसंग्रह—पृ० १५, १६, अन्नंभट्ट, मुरादाबाद, सं० १९०७।

योग्य कार्यसंपादन में समर्थ होता है। जिस प्रकार मेरे हाथ में स्थित रजत (दृष्टान्त)।

४—इस रजत में भी रजतत्व है (उपनय)।

५—अतः सम्मुखस्थ वस्तु रजत का प्रयोजनसंपादनसमर्थ है, इसमें सन्देह नहीं (निगमन)।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि रजतार्थी व्यक्ति को जो पुरोवर्ती विषयकज्ञान होता है, वह रजतज्ञान से पृथक्ज्ञान नहीं है, अपितु वह ज्ञान पुरोवर्ती द्रव्याभिन्नतया रजतविषयक होता है। इस बात को अन्यथाख्यातिवादी एक अनुमान के द्वारा सिद्ध करते हैं। न्यायमकरन्द में आनन्द बोध ने जो अनुमान नैयायिकों की ओर से प्रस्तुत किया है, उसका रूप निम्न प्रकार है :

भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तु विषयक है (प्रतिज्ञा)।

क्योंकि यह रजतार्थी व्यक्ति को नियमित रूप से इसके ग्रहण में प्रवृत्त कराता है (हेतु)।

जो ज्ञान जिस व्यक्ति को जिस विषय में नियमतः प्रवृत्त कराता है, वह तद्-वस्तु विषयक होता है—जैसे उभयवादीसिद्ध यथार्थ रजतज्ञान। यह भी वैसा ही है (उपनय)।

अतः भ्रमस्थलीय रजतज्ञान पुरोवर्ती वस्तु विषयक है (निगमन)।[१५३]

अन्यथा ख्याति खण्डन :—

अद्वैत वेदान्तियों ने न्याय के अन्यथाख्यातिवाद को स्वीकार नहीं किया है। भामती प्रस्थान एवं विवरणप्रस्थान दोनों में युक्तितर्कों से अन्यथाख्याति का खंडन किया गया है। अद्वैतवादियों ने न्याय के अलौकिक सन्निकर्ष को खण्डन का केन्द्रबिन्दु बनाया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका प्रत्याख्यान किया है।[१५४] विवरणकार ने अन्यथाख्याति में अन्यथात्व क्या है? प्रश्न उठाया है। उन्होंने अन्यथा के तीन सम्भावित विकल्प किये हैं—ज्ञान में अन्यथात्व, ज्ञान की फलप्रकटता में अन्यथात्व या ज्ञानविषय का अन्यथात्व?[१५५] प्रथम पक्ष में ज्ञान रजताकार का ज्ञान है। उसके अन्यथात्व का अर्थ है आलम्बन दूसरा हो—अर्थात् रजतज्ञान का आलम्बन शुक्ति हो, ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्याकार ज्ञान का अन्य आलम्बन नहीं बन सकता; जिस प्रकार का ज्ञान होता है, वही ज्ञान का आलम्बन भी होता है।[१५६]

१५३. विवादपदं रजताकारेणावभासते तदर्थिनो नियमेन प्रवृतिविषयत्वाद् यदित्थं तत्तथा यथोभयवाद्यविवादस्पदं रजतम्। न्यायमकरन्द—पृ० ८३, ८४

१५४. इष्टसिद्धिकार ने इष्टसिद्धि के तृतीय और पंचम अध्याय में और ब्रह्मानन्द सरस्वती ने अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन में अन्यथाख्यातिवाद का विस्तार रूप से प्रत्याख्यान किया है।

१५५. केयमन्यथाख्यातिः ? अन्याकारं ज्ञानमन्यालम्बनं वा,
वस्तुनो वस्त्वन्तरात्मनावभासो वा, अन्यथा परिणते वस्तुनि ज्ञानं वा ?
पचंपादिकाविवरण—पृ० १४४। (मद्रास १९५८)

१५६. वही—पृ० १४४। (मद्रास १९५८)

इसी प्रकार फल में अन्यथात्व भी नहीं बन सकता, क्योंकि स्फुरण ही यहां पर फल है और वह वस्तुनिष्ठ होता है, अतः रजतज्ञान के स्फुरणरूप फल में रजत को ही होना चाहिये। ज्ञान विषय या वस्तु में अन्यथात्व मानने पर देशान्तरीय रजत जो कि शुक्तिवस्तु में अन्यथाभाव को प्राप्त करता है, उसमें क्या कारण है पूछा जायेगा। देशान्तरीय रजत और शुक्ति दोनो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं फिर भी देशांतरीय रजत शुक्ति में किस सम्बन्ध से भासता है ? इन समस्याओं का समीचीन समाधान अन्यथाख्यातिवादी के पास नहीं है, अतः विवरणकार के अनुसार अनिर्वचनीय ही रजत शुक्तिरजतभ्रम में स्वीकार कर लेना चाहिए।[१५७]

अद्वैतवादियों का कहना है कि विश्लेषण करने पर बोध द्वारा अन्यथाख्यातिवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि भ्रमस्थल में उक्त रजतज्ञान परोक्ष नहीं है यह पूर्व ही कहा गया है। उक्त स्थल में रजत का चक्षु द्वारा साक्षात्कार होता है और इसी कारण उसे देशांतरीय रजत का ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नेत्र द्वारा व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है।[१५८] विशेषण एवं विशेष्य इन दोनों के सन्निकर्ष बिना विशिष्ट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। विशेष्य के साथ सन्निकर्ष एवं विशेषणज्ञान दोनों के विशिष्टज्ञान की सामग्री रहने पर भी विशेषण के साथ इन्द्रिय संप्रयोग के अभाव में विशिष्टज्ञान मानने पर दण्डहीन पुरुष में भी "दण्डी" इस प्रकार का विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान होने लगेगा[१५९], ऐसा होता नहीं है, क्योंकि पूर्वकाल में दण्डविशिष्ट को देखने पर इस समय दण्डहीन पुरुष में "दण्डी" है ऐसा ज्ञान नहीं होता। इस समय "दण्डी" ज्ञान के लिए दण्ड विशेषण भी इस समय में पुरुष के साथ ही इन्द्रिय का विषय होना चाहिए, तभी "दण्डी" यह साक्षात्कार हो सकता है।[१६०] इसी प्रकार शुक्ति में देशान्तरीय रजत के प्रत्यक्ष होने के लिए देशान्तरीय के साथ इन्द्रियसंप्रयोग अवश्य आवश्यक होगा। ऐसा देशान्तरीय रजत के साथ संभव नहीं है, अतः अनिर्वचनीयरजतोत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी।

अद्वैतवादियों का कहना है कि वादी नैयायिक के अनुरोध से 'सुरभिचन्दनम्' इस ज्ञान में अलौकिक प्रत्यक्ष के समान 'इदं रजतम्' भ्रम की व्याख्या उक्त ज्ञानलक्षणों से नहीं हो सकती,[१६१] क्योंकि ज्ञानलक्षणा का उक्त दृष्टान्त समीचीन नहीं है। उक्त 'सुरभिचन्दनम्' दृष्टान्त में भी अद्वैतवादी ज्ञानलक्षणा स्वीकार नहीं करते, क्योंकि 'सुरभि' नासिका का विषय है। वह चाक्षुष नहीं हो सकती (चन्दन चाक्षुष

---

१५७. पं० विवरण—पृ० १४६ से १५०। (मद्रास १९५८)

१५८. देशान्तरीयरजतस्य क्लृप्तस्यैव तद्विषयत्वसंभवात् इतिचेत्
न तस्यासन्निकृष्टतया प्रत्यक्षविषयत्वायोगात्, वेदान्तपरिभाषा—पृ० ५४

१५९. न हि विशेषणसंप्रयोगं बिना विशिष्टप्रत्यक्षं संभवति-विवरणभावप्रकाशिका—पृ० १४२, मद्रास, १९५८।

१६०. वेदान्ततत्वविवेक पूरणी टीका—पृ० ९४।

१६१. न च ज्ञानं संस्कारोवा प्रत्यासत्तिरिति वाच्यम्।, वेदान्ततत्वविवेकं—पृ० ९३

है)। सुरभि विशेषण के साथ चाक्षुषता न होने के कारण उस का अनुमान होता है, कभी किसी समय में चन्दन को उठा कर सूंघा गया है और दूसरे समय में जब चन्दन को देखते हैं तो 'सुगन्धि चन्दम्' यह अनुमित होता है। यदि यहां पर ज्ञान लक्षणासन्निकर्ष माना जायेगा तो अनुमान का उच्छेद हो जायेगा।[१६२] 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमितिज्ञान अनुमान द्वारा होता है। हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति के स्मरण से अथवा साध्यव्याप्ति के उद्बुद्ध संस्कार से अनुमितिज्ञान होता है। साध्य की व्याप्ति के स्मरण होने पर व्याप्ति निरूपक साध्य की भी स्मृति होती है, अतः यहां पर अनुमिति सामग्री व्याप्तिज्ञान एवं प्रत्यक्ष सामग्री वह्नि के पूर्वानुभवजन्य स्मृतिरूप ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष ये दोनों विद्यमान हैं, अतः वह्नि की अनुमिति न होकर प्रत्यक्ष होना चाहिये। पर्वत के साथ नेत्रसंयोग और वह्निस्मृति के कारण 'पर्वतो वह्निमान्' एवं प्रकार प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिए। जहां पर एक ही विषय में अनुमिति सामग्री एवं प्रत्यक्ष सामग्री, दोनों हैं, वहां पर उस विषय का अनुमान न होकर प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री से बलवती होती है,[१६३] और सर्वत्र अनुमिति में पक्षादि कुछ भाग का प्रत्यक्ष होता ही है। स्मृतांश को यदि ज्ञानलक्षणा द्वारा इस प्रकार प्रत्यक्ष मान लिया जाय तब कहीं भी अनुमान को अवकाश नहीं मिलेगा। इस प्रकार न्याय के अनुसार अनुमान-प्रमाण स्वीकार अकारणक होगा। इस पर यदि अन्यथाख्यातिवादी कहे कि प्रत्यक्षज्ञान की विषयता से अनुमिति ज्ञान की विषयता विलक्षण है, क्योंकि प्रत्यक्ष विषय में परिमाणादि का सन्देह नहीं होता, अनुमिति के विषय में परिमाणादि का सन्देह होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान अपरोक्षताज्ञान है, अनुमिति ज्ञान परोक्षता का ज्ञान है। दोनों में अपरोक्ष ज्ञान का संपादक प्रत्यक्ष एवं परोक्षज्ञान का संपादक अनुमान हैं। इस पर अद्वैतवादियों का समाधान यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता अनुमिति से विलक्षण अवश्य है, किन्तु 'सुगन्धि चन्दनम्' इत्यादि ज्ञान सुगन्धादि अंश में अलौकिक है, अतः उसका ज्ञान अनुमिति के समान है। जिस प्रकार अनुमिति के ज्ञान में उत्कर्षादि भी अनिर्णीत होते हैं, उसी प्रकार सुगन्ध के भी उत्कर्षादि अनिर्णीत होते हैं। 'सुगन्धिचन्दनम्' में ज्ञानलक्षणा द्वारा सुगन्ध सहित चन्दन का प्रत्यक्ष मानने पर भी सुगन्ध चन्दन में कियत्परिमाण है? उक्त प्रकार प्रत्यक्ष से नहीं कहा जा सकता, अतः दोनों की विषयता में अन्तर नहीं है, अतः अनुमान का निष्फल होना निश्चित है। इसी प्रकार जहां पर पुरुष में 'पुरुषो नवा' एवं प्रकार सन्देह होता है एवं 'पुरुषत्व व्याप्यकरादिवानयम्' इस प्रकार परामर्शज्ञान होता है, और पुरुष के साथ नेत्रसंयोग भी है, अतः उक्त स्थल में अनुमानसामग्री परामर्श एवं प्रत्यक्षसामग्री पुरुषसहित नेत्रसंयोग दोनों हैं, परन्तु यहां पर अनुमिति न होकर प्रत्यक्षज्ञान ही होता है, अतः

---

१६२. पर्वतादौ विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षातिरिक्तवह्निविशिष्टप्रत्यक्षसामग्र्यास्सत्वेनानुमित्यनुत्पाद-प्रसंगात्। पं० विवरणभावप्रकाशिका—पृ० १४२ (मद्रास १६५८)

१६३. समानेविषयेप्रत्यक्षसामग्री बलवत्वात् पं० विवरण भा०—पृ०१४२ (मद्रास १६५८)

एक स्थान में दो ज्ञानों की सामग्री रहने पर प्रत्यक्ष सामग्री के प्रबल होने से 'पर्वतो वह्निमान्' में भी अनुमिति सामग्री के विद्यमान रहते हुए भी अलौकिक सम्बन्धरूप सामग्री द्वारा वह्नि का प्रत्यक्ष ही होगा; [१६४] अतएव ज्ञान लक्षणा अलौकिक सम्बन्ध से प्रत्यक्षज्ञानोत्पति स्वीकार करने पर अनुमानप्रमाण की व्यर्थता निश्चित है।

यहां पर नैयायिकों का कहना है कि यद्यपि भिन्न विषय स्थल में प्रत्यक्ष सामग्री अपेक्षा अनुमान सामग्री प्रबल है और समान विषय स्थल में अनुमिति सामग्री अपेक्षा प्रत्यक्षसामग्री प्रबल है, तथापि समान विषय स्थलों में लौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री अपेक्षा प्रबल होने पर भी अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अनुमिति सामग्री अपेक्षा सर्वथा दुर्बल है; अतएव पर्वत में अनुमिति सामग्री द्वारा अलौकिक सामग्री के बाध होने पर अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति संभव होने के कारण उसके व्यर्थत्व का प्रश्न नहीं उठता। इस पर अद्वैतवादियों का कहना है कि न्याय का यह पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर जहां पर स्थाणु में 'स्थाणुर्वा' एवं प्रकारक सन्देहानन्तर 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्' इस प्रकार भ्रम होता है और 'पुरुष एवायम्' इस प्रकार भ्रमप्रत्यक्ष होता है, वहां पर न्याय के अनुसार अनुमिति होनी चाहिये न कि प्रत्यक्ष, क्योंकि उक्तस्थल में स्थाणु में पुरुषत्व का प्रत्यक्ष होने के कारण यद्यपि भ्रमप्रत्यक्ष और भ्रमप्रत्यक्ष की अलौकिक सामग्री भी उनके मत में हैं, तथापि अनुमिति सामग्री अपेक्षा अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री को दुर्बल मानने पर उक्त स्थल में अनुमिति होनी चाहिये और यदि उक्तस्थल में पुरुषभ्रम अनुमितिरूप स्वीकृत हो जाय तब उत्तरकाल में 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इस प्रकार का जो अनुव्यवसाय होता है वह नहीं होना चाहिए। 'पुरुषं अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिये, अतः मानना होगा कि उक्तस्थल में भी लौकिकप्रत्यक्ष सामग्री के समान ही अलौकिकप्रत्यक्ष सामग्री भी अनुमिति सामग्री अपेक्षा प्रबल है। इस प्रकार अनुमिति स्थल में भी ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्षोत्पत्ति होने पर अनुमान प्रमाण निष्फल होना निश्चित है।

पुनश्च अद्वैतवादियों का कहना है कि 'इदंरजतम्' में ज्ञान प्रत्यासत्ति द्वारा रजत का प्रत्यक्ष सभव नही, क्योंकि उक्तस्थल के रजत का दर्शन उक्त स्थल में ही सर्वप्रथम हुआ है। इससे पूर्व उक्त शुक्तिरजत को देखा नहीं गया, अत पूर्व अननुभूत वस्तु का स्मरण नहीं हो सकता। स्मरण न होने पर ज्ञान प्रत्यासत्ति असंभव है। जो वस्तु जिस अवच्छेद से अनुभूत होती है, वह उस अवच्छेद से ज्ञानप्रत्यासत्तिरूप होगी। [१६५]

ज्ञानलक्षणा द्वारा भ्रान्तिज्ञान की व्याख्या संभव नहीं है, क्योंकि उससे

---

१६४. भ्रमरूपविशेषदर्शनात् पुरुषत्वादि भ्रम इव पर्वते भ्रमरूपपरामर्शानन्तरं चाक्षुषवह्निभ्रम-प्रसंगाच्च। पं० विवरण भावप्रकाशिका—पृ० १४२ (मद्रास १९५८)

१६५. वेदान्ततत्वविवेक दीपन—पृ० ९६, ९८ नारायण शास्त्री सं०, मैसूर,

प्रत्यक्ष होने के बाद जो अनुव्यवसाय होता है, उससे यह ज्ञात हो जाता है कि उक्त-स्थल में सुरभि के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का उल्लेख नहीं होता, अर्थात् 'चक्षु द्वारा सुरभि को देख रहा हूँ', ऐसा ज्ञान नहीं होता, अपितु सामान्य ज्ञान होता है, सुरभि को जान रहा हूँ, इस प्रकार। यह बात न्याय को भी स्वीकार है। यदि ज्ञान लक्षणा द्वारा प्रत्यक्ष के अनुव्यवसाय का रूप सामान्य है तब इससे 'इदं रजतम्' की व्याख्या कैसे संभव है? क्योंकि शुक्तिरजत भ्रम में रजत को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष कर रहा हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है। न्यायमत के अनुसार 'रजत को जान रहा हूँ', ऐसा अनुव्यवसाय होना चाहिये, अतः रजत की चक्षुर्ग्राह्यता की सिद्धि के लिये अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी, और दोष को भी प्रत्यासत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि विशेषण रजतांश में उसकी हेतुता नहीं है, वह यथार्थ है।[१६६] प्रवृत्ति द्वारा भी अन्यथाख्याति की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथाख्यातिवाद में देशान्तर में स्थित रजत के लिये देशान्तर में प्रवृत्ति होनी चाहिये, किन्तु प्रवृत्ति शुक्तिदेश में होती है, अतः शुक्ति में अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति स्वीकार किये बिना उपाय नहीं है। यदि नैयायिक यह कहें कि रजत-ज्ञान का विषय शुक्ति है तो यह समीचीन नहीं है, क्योंकि अन्याकार ज्ञान अन्यालम्बनज्ञानविरुद्ध है। ज्ञान हो रहा है रजत का और उसका आलम्बन शुक्ति नहीं हो सकती।[१६७] इसी प्रकार बाधबुद्धि द्वारा भी अन्यथा-ख्याति सिद्ध नहीं हो सकती। शुक्ति रजत ज्ञान के पश्चात् 'यह रजत नहीं' इस प्रकार बाधबुद्धि होती है। 'इदं रजतंन' इस निषेध ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है कि इस निषेध के पूर्व रजत का आरोप हुआ था। यदि संसर्ग का आरोप होता तो 'यहां रजतत्व नहीं' ऐसा बाध होता, परन्तु 'रजत नहीं है' ऐसा बाध होता है। इससे सिद्ध होता है कि रजततादात्म्यप्रतीति होती है और उसी का बाध होता है। बाध के लिये यहां पर अनिर्वचनीय रजतोत्पत्ति माननी पड़ेगी। नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान 'विवाद-पदं रजतम्' इत्यादि में न्यायमकरन्दकार ने सिद्धसाधनता दोष दिया है, क्योंकि इदंकारास्पदअनिर्वाच्य रजतावभास तो सामने अद्वैतवादी को भी अभीष्ट है।[१६८] यदि रजत को इदं में अविद्यमान माना गया तब तो उक्त अनुमान का दृष्टान्त साध्य-विकल है। इस प्रकार अद्वैतवादियों ने अन्यथाख्याति खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना की है।

न्यायदर्शन आत्मा, अनात्मा दोनों पदार्थों को सत्य मानता है, इसी कारण नैयायिकों ने भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति स्वीकार की है। न्याय के अनुसार भ्रमस्थल के अधिष्ठान एवं आरोप्य दोनों सत्य हैं। भ्रममात्र संसर्गविषयक है। अन्यत्र स्थित

---

१६६. दोषोऽपि न रतजांशज्ञाने हेतुः तस्ययथार्थत्वात् यथार्थज्ञाने दोषस्याहेतुत्वात्। पं० वि० भा० प्रकाशिका—पृ० १४३, १४४ (मद्रास १९५८)

१६७. अन्याकारज्ञानस्यान्यालम्बनत्वे संविदविरोधात्। वेदान्ततत्वविवेक—पृ० १०२

१६८. इदंकारास्पदस्यानिर्वाच्यरजततावभासगोचरभानाभ्युपगमात् सिद्धसाधनम्। न्यायमकरन्द—पृ० ९८

वस्तु को अन्यत्र जानना ही भ्रम है। भ्रमस्थल में ज्ञानलक्षणा की कल्पना से भी भ्रान्त व्यक्ति के रजतदर्शन की व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञानलक्षणा एक अलौकिक अप्रसिद्ध सन्निकर्ष है। इससे इन्द्रिय के साथ स्मृत वस्तु के दर्शन की बात अनुभवविरुद्ध है। अनुभव विरोधी बातें किसी भी दर्शन में स्वीकृत नहीं हैं। यदि हुई भी हैं तो उनकी अनुभव के साथ संगति बैठाने का प्रयास किया गया है।

आचार्य शकर ने भ्रमस्थल में अन्य मतों का उल्लेख करके उन सभी मतों में अन्य की 'अन्यधर्मावभासता व्यभिचरित नही है', यह सिद्ध किया हैं,[१६९] अर्थात् कुछ दार्शनिकों ने अन्य की अन्य में अवभासता को स्वसिद्धान्तों में स्वीकार किया ही है, जैसाकि बौद्धविज्ञानवादी और शून्यवादी भ्रम को अन्य की अन्य में अवभासता के रूप में ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि शून्यवाद में असत् शुक्ति में असत् रजत की ख्याति एवं विज्ञानवाद में अवस्तुशुक्ति में आत्मवस्तु या विज्ञान की ख्याति ही अन्य की अन्य में अवभासता है। अवभास का बाध हुआ करता है, अतः ख्याति और बाध द्वारा अनिर्वचनीय वस्तु की स्थिति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार न्याय में देशान्तरीय वस्तु की ख्याति असंभव होने के कारण प्रातीतिक वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी, अन्यथा भ्रम ही संभव नहीं होगा। मीमांसक प्राभाकर के मत में यद्यपि भ्रम स्वीकृत नहीं हैं, तथापि युक्तिद्वारा पराहत होकर उन्हें भी स्वीकार करना ही होगा।

भ्रमस्थलीय वस्तुस्वरूप एवं ज्ञान की व्याख्या करने के लिये पूर्वोक्त पंचख्यातिवादों के अतिरिक्त विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्य सदसद्ख्याति, रामानुज एवं निम्बार्क सत्ख्याति स्वीकार करते हैं। अगले कुछ पृष्ठों में इन की चर्चा की जाती है।

सदसत्ख्याति सांख्य :—

विज्ञानभिक्षु आदि सांख्याचार्यों ने भ्रम की व्याख्या में सदसत्ख्याति का समर्थन किया है।[१७०] उन सांख्याचार्यों के अनुसार 'इदं रजतम्' इस प्रकार भ्रमज्ञान के विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चक्षुदोष के कारण शुक्तित्वरूप विशेष धर्म की प्रतीति न होने के कारण इदंरूप से शुक्ति का जो ज्ञान होता है, वह प्रमाज्ञान है, क्योंकि वह ज्ञान सत्य वस्तु का ज्ञान है, अतः ज्ञान भी सत्य है। रजतज्ञान सत्य नहीं हैं, क्योंकि 'इदम्' में रजत अनुपस्थित है। जो जहां अनुपस्थित होता है, उसका वहां पर ज्ञान सत्य नहीं हो सकता। रजतज्ञान असत् का ज्ञान होने के कारण असत् है। भ्रमस्थल में सर्वत्र यही दशा है। सत् और असत् दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं, इसलिये भ्रमस्थल का रजत असत् और 'इदं' सत् हैं। रजत अन्यत्र सत् है यह ठीक है, किन्तु इदं में वह आरोपित हुआ है; इसलिये सत् नहीं हो सकता। नेदं रजतम्' करके बाधबुद्धि का विषय भी असत् रजत ही है। यदि कहा जाय कि सदसत् एकाधिकरण में दोनों कैसे रह सकते ? इसके उत्तर में विज्ञान भिक्षु का कहना है

---

१६९. सर्वथाऽपि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति, ब्र० शां० भाष्यभूमिका—पृ० ३२

१७०. पंचपादिका भूमिका—पृ० १०१, १०२। (मद्रास १९५८)

कि जैसे स्फटिक लौहित्य में विम्बात्मना लौहित्य सत् होता है और स्फटिकगत प्रतिबिम्बात्मना असत् होता है, वैसे ही यहाँ पर भी संभव है। जिस प्रकार रजत दुकान में स्थित सत् और शुक्त्यध्यस्तरूप से असत् है, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच भी स्वरूपतः सत् और चैतन्याध्यस्तरूप से असत् है।[१७१] सदसत्ख्याति में असत् का ज्ञान माना गया है, इसीलिये यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि असत् विषयकज्ञान स्वीकार करने पर आकाशकुसुम का भी ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा, इसीलिये असत् की ख्याति अद्वैत-वेदान्त के अनुसार असंभव कल्पना है। इदमांश में तो भ्रान्ति है ही नहीं। आचार्य मण्डन मिश्र ने कहा है 'एकान्तसत्वे का भ्रान्तिरसत्वे किं प्रकाशताम्'।[१७२] अर्थात् एकान्त सत्व हो तो भ्रान्ति ही नहीं। एकान्त असत्व हो तो ख्याति ही नहीं, इस प्रकार सांख्य का यह सिद्धान्त भ्रमज्ञान को ही उड़ा देता है। और विशेष बात यह है कि सांख्य के इस सिद्धान्त में नवीनता नहीं है। शुक्ति को सत् और रजत को असत् तो माध्वसम्प्रदाय भी मानता है। अन्तर इतना ही है कि सांख्याचार्यों ने दोनों ज्ञानों को मिलाकर 'सदसत् ख्याति, नाम रख दिया है। यह सिद्धान्त भ्रम की व्याख्या देने में असमर्थ है।

सत्ख्याति (रामानुज) :—

अख्यातिवादी मीमांसक जिस प्रकार 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थलों में एकविशिष्ट भ्रमज्ञान स्वीकार नहीं करते, उसी प्रकार रामानुज संप्रदाय भी भ्रमस्थलों में वस्तुतः भ्रम स्वीकार नहीं करता। मीमांसक उक्त भ्रमस्थल में एक प्रत्यक्ष और दूसरा स्मृति–इस प्रकार दो ज्ञानों की अख्याति अथवा अग्रह द्वारा ही भ्रम की व्याख्या करते हैं। मीमांसक के ही समान रामानुज ने भी श्रीभाष्य में 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्'[१७३] इस मत का अनुसरण किया है। 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थलों में सत्ख्यातिवाद के समर्थन में रामानुज का कहना है कि पंचीकरण के सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध है कि सभी वस्तुओं में सभी वस्तुएँ मिश्रित हैं। जिसे हम पृथ्वी कहते हैं उसमें जल, वायु, अग्नि, आकाश के भी अंश विद्यमान हैं।[१७४] पृथ्वी के अंश अधिक होने के कारण उसे पृथ्वी कहा जाता है, अतः पृथ्वी में अन्यभूतों का अभाव नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार समुपस्थित का ही ज्ञान होता है अर्थात् सत् की ही ख्याति होती है। मरीचिका में जल दिखाई देने के कारण उसे धोखा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि मरीचिका के रेत पृथ्वी हैं। उन रेतों में जल आदि अन्यभूतों का भी सम्मिश्रण है। अनुपात में अन्यभूतों के अंश कम हैं, पृथ्वी का भाग अधिक है; इस कारण मरीचिका में पानी का दिखाई देना किसी अनुपस्थित वस्तु का दिखाई देना

---

१७१. सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्।। सांख्यप्रवचनभाष्य—५।५५, ५६ विज्ञानभिक्षु. भारतजीवनकाशी, सं० १९४६।

१७२. विभ्रमविवेक का० ४६, पृ० ५

१७३. श्रीभाष्य (अविद्याभंगः) पृ० २६, रामानुज, गव० आफ इण्डिया, नई दिल्ली, १९६०।

१७४. वही—पृ० ३०

नहीं है, अपितु ऐसी वस्तु का दिखाई देना है जो नेत्रों के सामने उपस्थित है। रामानुज ने पंचीकरण के इस सिद्धान्त का और भी व्यापक अर्थ लिया है, क्योंकि पंचभूतों के परस्पर योगिक होने के साथ-साथ उनसे बने घट-घटादि पदार्थों में भी परस्पर २ के अंशों का योग माना गया। 'शुक्तिरजत' भ्रम में उनके अनुसार शुक्ति में रजत के अवयव विद्यमान हैं, परन्तु अनुपात में रजतावयव की अपेक्षा शुक्ति अवयव अधिक हैं। इसी कारण दोषरहित चक्षुवाले उसे शुक्ति ही समझते हैं। शुक्ति में रजत की सादृश्यता का कारण है उस में रजत के अंश होना। सादृश्य द्रव्य के अंश को ही कहते हैं;[१७५] इसलिये 'इदं रजतम्' भ्रम में भी अनुपस्थित का ज्ञान नहीं होता। चक्षुदोषादिवश शुक्ति के अवयवों के आधिक्य होने पर भी प्रतीति न होकर रजत की ही प्रतीति होने लगती है और रजतार्थी रजत को पाने के लिये प्रवृत्त भी होता है।[१७६] असफल प्रवृत्ति होने के कारण पश्चात् उसे मिथ्या समझते हैं। 'नेदं रजतम्' इस प्रकार बाध में रामानुज के अनुसार मात्र प्रवृत्ति का बाध होता है, न कि रजत का।[१७७]

पीतशंख-भ्रम की व्याख्या करते हुए रामानुज ने कहा है कि पीलापन नेत्रों में होता है। पीलिया रोगी के नेत्रों का पीलापन शंख तक किरणों के साथ पहुँच जाता है और शंख के श्वेतपन को ढक लेता है, इसीलिये शंख पीला दीखता है। यहाँ पर भी पीलापन सत्य है, अतः सत् की ख्याति होती है।[१७८] रामानुज का कहना है कि सिद्धान्ततः ज्ञान सत्य का होता है, और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है, किन्तु व्यवहार में अर्थात् गृहीत अर्थ में ज्ञान को सत्य होने के लिये उसे उपयोगी भी होना चाहिये। मरुभूमि में जल देखते हैं तो उसमें जल अवश्य है, किन्तु वह जल व्यवहारोपयोगी नहीं है, इस अर्थ में उसे मिथ्या कहा जा सकता है।

रामानुज यह स्वीकार करते हैं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से सभी ज्ञान सत्य हैं और उनके विषय भी सत्य हैं, किन्तु भ्रमज्ञान और सत्यज्ञान के व्यवहारिक अन्तर को भी मानते हैं। व्यवहार में भ्रमज्ञान को माने बिना कोई उपाय नहीं है, क्योंकि भ्रान्तिकालीन सर्प और सत्य सर्प में अन्तर किये बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता, अतः रामानुज के अनुसार भ्रमज्ञान व्यावहारिक शर्त को पूरा नहीं करता, इस कारण सत्यज्ञान से कुछ भिन्न है। इसका अर्थ यह हुआ कि सत्यज्ञान सत्य और व्यावहारिक है। भ्रमज्ञान सत्य और अव्यावहारिक है। रामानुज की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान सब समय यथार्थ सत्ता का ही होता है, ऐसी बात नहीं, ज्ञान आंशिक भी होता है, जैसे रज्जुसर्प का ज्ञान। आंशिक ज्ञान कभी भी सत्यज्ञान

---

१७५. तदेवसदृशं तस्य यत् तद्द्रव्यैकदेशभाक्। श्रीभाष्य (अविद्याभंग प्रकरण) पृ० ३१

१७६. कदाचित्चक्षुरादेस्तु दोषाच्छुक्त्यंशवर्जितः
रजतांशो गृहीतोऽतो रजतार्थी प्रवर्तते। वही

१७७. ज्ञानफलभूतप्रवृत्तेर्बाध्यत्वम्। श्रुतप्रकाशिका (अविद्याभंगप्रकरण) पृ० ३२, सुदर्शन सूरि, नई दिल्ली, १९६७।

१७८. श्रीभाष्य (अविद्याभंग प्रकरण) पृ० ३५

नहीं है, क्योंकि एक पूर्ण इकाई का ज्ञान यदि अंशतः हो तो उसे यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सौ रुपये को कोई एक रुपया कह दे तो यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, अतः ऐसा ज्ञान अपूर्ण होने के कारण अयथार्थ है।[१७९] ज्ञान को सत्य होने के लिये 'व्यवहारानुगुण्य' भी होना चाहिये। यह बात सिद्ध करती है कि सभी ज्ञान यथार्थ भी हैं और मिथ्या भी, क्योंकि सभी ज्ञान अपूर्ण हैं, अतः मिथ्या हैं। सभी ज्ञानों में आंशिक सत्यता है, अतः रज्जुसर्प भी सत्यज्ञान है।

इस प्रकार रामानुज मत में भी सत्यमिथ्याज्ञान में भेद होने के कारण रज्जुसर्प ज्ञान में किसी न किसी प्रकार मिथ्यात्व आ ही जाता है, चाहे वह व्यावहारिक शर्त पूरा न करने से ही क्यों न हो। यतीन्द्रमतदीपिका के अनुसार सत्य वह है जो यथार्थ वस्तु को प्रस्तुत करता है और जो क्रियात्मक रूप में उपयोगी (व्यवहारानुगुण) है।[१८०]

निम्बार्क सम्प्रदाय का सत्ख्यातिवाद :—

निम्बार्कीय आचार्य श्री पुरुषोत्तमप्रसाद ने भ्रम की व्याख्या में श्रुत्यन्तसुरद्रुम में रामानुज की प्रक्रिया का ही अनुसरण किया है। उन्होंने पंजीकरणप्रक्रिया द्वारा 'सर्वत्र सब हैं' इस सिद्धान्त की व्याख्या द्वारा सत्ख्यातिवाद का ही समर्थन किया है। तदनुसार शुक्ति में रजतभ्रम काल में असत् या अनिर्वचनीय रजत का भान नहीं होता, अपितु रजत का उत्पादान तेजसांश शुक्ति में विद्यमानतया उसमें रजत की प्रतीति होती है। शुक्ति का ज्ञान दोषों के कारण नहीं हो पाता। इस प्रकार सत् की ख्याति की व्याख्या में श्रुति कथित मृद् घटादि दृष्टान्त भी घटित हो जाते हैं। इसी कारण, कारण के ज्ञान से कार्य का भी ज्ञान सिद्ध हो जाता है। यदि सर्वत्र सब न हों तो कारण के विज्ञान से कार्य का ज्ञान संभव नहीं।[१८१] इनके अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है।[१८२] परन्तु पुरुषोत्तमप्रसाद की इस व्याख्या की निम्बार्कीय आचार्य श्रीकेशव काश्मीरी भट्ट एवं माधवमुकुन्द के मत से सगति नहीं बैठती। इन दोनों आचार्यों ने भ्रमस्थल में प्रतीत वस्तु को आरोपित कहा है।[१८३] माधवमुकुन्द ने कहा है कि एक स्थान में अवस्थित वस्तु का अन्यत्र आरोप ही भ्रम है।[१८४] आरोप के कारण दोषः—

---

१७९. भारतीयदर्शन (राधाकृष्णन) खण्ड दो, पृ० ६७६, अंग्रेजी संस्क० १, एलेन एण्ड अनविन, लण्दन, १९२७।

१८०. भारतीयदर्शन (राधाकृष्णन्) खण्ड दो, पृ० ६७६ (अंग्रेजी संस्क० १, एलेन एण्ड अनविन, लण्दन, (१९२७)

१८१. श्रुत्यन्तसुरद्रुम—पृ० २०,२७, पुरुषोत्तमप्रसाद, चौखम्बा, १९०७।

१८२. वही—२०

१८३. वेदान्तकौस्तुभप्रभा—पृ० २५, सू० १।१।१, केशवकाश्मीरी, दिल्ली, १९३८।

१८४. एकत्र सतोऽन्यत्रारोपत्वं भ्रमत्वम्, परपक्षगिरिवज्र—पृ० ५८ माधवमुकुन्द, वृन्दावन, सं० १९९३।

सादृश्यज्ञान, संस्कारादि हैं।[१८५] अनन्तरामदेवाचार्य ने वेदान्ततत्वबोध में कहा है 'सद्वैतुकाख्याति: सत्ख्यातिरिति'[१८६] अर्थात् भ्रम के निमित्त दोषादि सत्य हैं, अतः इसे सत्ख्याति कहा जाता है। यदि इस व्याख्या के अनुसार सत्ख्याति कहा जाय तब तो सभी ख्यातियाँ सत्ख्याति मानी जानी चाहिये, क्योंकि सभी ख्यातिवादी दोषादि निमित्तों से भ्रम होता है, मानते हैं, अतः मात्र दोषादि के होने के कारण सत्ख्याति नहीं मानी जा सकती, अपितु भ्रम के विषय के सत्य असत्य होने पर ही सत् या असत्-ख्यातिभेद संभव है, अतः अनन्तराम की सत्ख्याति की परिभाषा अयुक्त है।

वेदान्तकौस्तुभप्रभा एवं परपक्षगिरिवज्र के पूर्वोक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि निम्बार्क आचार्यगण भ्रमस्थलीयज्ञान का नाम चाहे सत्ख्याति दें, किन्तु भ्रम-स्थलीय वस्तु को आरोपित वस्तु एवं भ्रमज्ञान को आरोप कहते हैं। साथ में 'एक स्थान में स्थित वस्तु का अन्यत्र आरोप' इससे 'अतस्मिन् तद्बुद्धि' अथवा 'तदभाववति तत्प्रकारकज्ञान' सिद्ध होता है। अनिर्वचनीयता स्वीकार न करने पर भी इन आचार्यों के अनुसार अन्यथाख्याति अवश्य सिद्ध होती है। अन्यथाख्याति में भी 'आरोप' शब्द पर इतना बल नहीं दिया है, अतः अन्य का अन्यत्र आरोप का अर्थ अद्वैतमत-गृहीत अध्यास से ही संगत होता है।

अनिर्वचनीयतासर्वस्व :—

भ्रमस्थलीय शुक्तिरजत की व्याख्या असत् ख्याति और सत्ख्याति द्वारा नहीं की जा सकती, अतः अनिर्वचनीय ख्याति द्वारा उसकी व्याख्या करके तत्कालीन प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिये।[१८७] प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति मानने पर ही उक्त रजत की प्रतीति संभव है। भ्रमस्थल में रजत की उत्पत्ति न मानने पर शून्यवादी के समान असत् रजत स्वीकार करना होगा। असद् का अर्थ अद्वैतवेदान्तियों ने अलीक ही लिया है, सांवृतिकसत् नहीं लिया है। विज्ञान-वादी की आत्मख्याति के अनुसार भी रज्जु में रजत असत् ही है, यद्यपि वह आन्तर-विज्ञानरूप में अन्यत्र (भीतर) सत् है। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवादी के अनुसार भी उक्त स्थल में रजत् असत् है, अन्यत्र देशान्तर में सत् है, अतः उक्त प्रकार से विज्ञान-वादी असत्ख्यातिवादी + सत्ख्यातिवादी हुए एवं अन्यथाख्यातिवादी भी असत्ख्याति-वादी + सत्ख्यातिवादी हुए। दोनों के अनुसार ही रजत की प्रतीति संगत नहीं है। सत्ख्यातिवादी या सदसत्ख्यातिवादी की व्याख्या अव्यावहारिक है। अख्यातिवादी तो भ्रम को ही नहीं मानते, अतः उनका मत भी अव्यावहारिक है। इन कारणों से तथा निर्विषयकज्ञान न होने के कारण भ्रमस्थलीय रजत की प्रतीति ही उक्त स्थल में रजत विषय की उपस्थिति सिद्ध करती है। वह रजत प्रातिभासिक ही हो सकता है, व्यावहारिक

१८५, वही—पृ० ५६ एवं वेदान्त कौस्तुभप्रभा, पृ० २५,२६ सू० १।१।१

१८६. वेदान्ततत्वबोध—पृ० २५, अनन्तराम देवाचार्य, उदयपुर

१८७. पंचपादिका एवं विवरण—पृ० १६६ (मद्रास १६५८)

या पारमार्थिक नहीं। अद्वैत के अनुसार ज्ञान सर्वदा वस्तुतंत्र होता है,[१८८] अतः भ्रमकाल में होने वाला रजतज्ञान रजत विषय को सिद्ध करता है। मिथ्यारजत के बाध होने पर भ्रान्तिदर्शी व्यक्ति 'मिथ्या रजत देखा था', ऐसा अनुभव करता है। 'कुछ भी नहीं देखा था', ऐसा अनुभव नहीं करता। उक्त बाध के समय रजताभाव का प्रतियोगी वहीं का प्रातिभासिक रजत है।

इस प्रकार भ्रम की व्याख्या द्वारा अद्वैतवेदान्ती तत्वमीमांसीय समस्या का समाधान करते हैं। जिस प्रकार भ्रमस्थलीय रजत अलीक नहीं है, अपितु प्रातिभासिकत्वेन, एवं बाध्यत्वेन मिथ्या है, उसी प्रकार व्यावहारिक रजत भी ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध होने तक सत्य है, एवं बाध होने के पश्चात् असत्, है, अतः व्यावहारिक रजत भी सत् से भिन्न है, क्योंकि उसका बाध होता है। असत् (अलीक) से भिन्न है, क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। सदसत् दोनों साथ में विरोध के कारण संभव नहीं हैं। ऐसा मानने पर विरोध के नियम का उल्लंघन होगा, अतः व्यावहारिक रजत भी अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है, तथा शुक्तिरजत का ज्ञान जिस प्रकार अनिर्वचनीयतया मिथ्या है, उसी प्रकार व्यावहारिक रजतज्ञान भी मिथ्या है। व्यावहारिक ज्ञान में प्रामाण्य भी व्यावहारिक ही होता है।[१८९]

(ग) दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्ति द्वारा मिथ्यात्वसिद्धि :—

अद्वैतवेदान्त में दृक्दृश्य सम्बन्धानुपपत्ति द्वारा भी दृश्य प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि की गई है। विचार करने पर दृक्स्वरूपब्रह्म के अतिरिक्त दृश्य पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती और विश्वप्रपंच को स्वयंसिद्ध नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञाननिरपेक्ष पदार्थ की सिद्धि "मैं गूंगा हूँ" इस कथन के समान ही स्वव्याघातक है। जिसकी भी सिद्धि होगी ज्ञान द्वारा ही होगी, यहाँ तक कि ज्ञान की भी सिद्धि स्वयं ज्ञान द्वारा ही होती है। विश्वप्रपंच को ज्ञान द्वारा सिद्ध कहने पर ज्ञानज्ञेयसम्बन्ध की उपपत्ति करनी होगी। आध्यासिक मिथ्या सम्बन्ध के अतिरिक्त दृक्दृश्य की सम्बन्धोपपत्ति नहीं हो सकती, अतएव आध्यासिक सम्बन्धतया दृक्दृश्यों में से एक को मिथ्या कहना होगा। दृक् को मिथ्या नहीं कह सकते, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है, अतः दृश्य ही मिथ्या है।

तत्वप्रदीपिकाकार चित्सुखाचार्य ने दृक्दृश्य के सम्बन्ध को आध्यासिक ही सिद्ध किया है। पूर्वपक्ष की ओर से शंकाउत्थापित करते हुए उन्होंने कहा है— "करणसम्बन्ध अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्ध के द्वारा दृक्दृश्यसम्बन्ध की उपपत्ति हो सकती है", इस प्रकार की शंका नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वरज्ञान करणसामग्री की सहायता के बिना ही स्फुरित होता है, माना जाता है। इस प्रकार योगी लोग इन्द्रियसम्बन्ध के बिना ही अतीतानातागतादि बाह्य विषयों का ग्रहण अर्थात् ज्ञान

१८८, ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति ज्ञानम्—इष्टसिद्धि—पृ० १०५

१८९. अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। ब्रह्मसूत्रभाष्य—पृ० ४२

कर लेते हैं। पुनश्च इन्द्रियगत दोषादि के कारण भ्रमज्ञान में इन्द्रियासम्बद्ध (शुक्ति-रजत में रजत के साथ इन्द्रियसम्बन्ध नहीं होता) विषय का ग्रहण हो जाता है। एवं च "सोऽयं देवदत्तः" इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में "तत्ता" अर्थात् 'वह' इस अंश के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि 'वह' अंश अतीतकालीन होता है। ऐसा होने पर भी "सोऽयं देवदत्तः" इस ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष ही माना जाता है। इन युक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि करणसम्बन्ध द्वारा दृक्-दृश्यसम्बन्ध की उपपत्ति सम्भव नहीं।[१६०] दृक् और दृश्य में विषय-विषयिभाव सम्बन्ध की उपपत्ति भी संभव नहीं, क्योंकि विषय और विषयी का निरूपण ही नहीं हो सकता। "ज्ञानजन्यफलआधार" को विषय और विषय में जो फल होता है, तज्जनक को विषयी कहा जाता है, यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में यह पूछा जाय कि वह फल क्या ज्ञातता है? अथवा व्यवहार? प्रथम पक्ष में यह कहा जायेगा कि अतीतादि विषयों में ज्ञातता नहीं रह सकती, क्योंकि अतीतादि विषयों के साथ ज्ञान का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध ही ज्ञातता है। उस सम्बन्ध में यदि दो सम्बन्धियों में से एक विद्यमान नहीं है, तब सम्बन्ध उत्पन्न नहीं हो सकता। अतीतादि विषयों के ज्ञान में अतीत और अनागत अविद्यमान होंगे ही, इसलिए उक्त स्थिति में ज्ञातता उत्पन्न नहीं हो सकती। 'ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध ही ज्ञातता है और वह ज्ञेयनिष्ठ है' ऐसा मानने पर अनुपपत्ति अवश्य होगी, तथा च द्वितीय पक्ष में कि 'वह फल व्यवहार रूप है' ऐसा कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि हस्तादि के द्वारा आकर्षणादि व्यवहार आत्मा में सम्भव नहीं हैं। आत्मा विभु और असंग है। सभी प्रकार स्पर्शों से रहित है। आत्मा में होने वाली इच्छादि को ही व्यवहार मानने पर आत्मातिरिक्त सभी अविषय हो जायेंगे, क्योंकि इच्छादि का आधार एकमात्र आत्मा ही है, और 'ज्ञान द्वारा हानादियोग्य' को विषय कहें तो भी आत्माश्रय दोष होगा। इसी प्रकार 'व्यवहारयोग्यता' को विषय स्वीकार करने पर व्यवहारयोग्यता में फिर व्यवहारयोग्यता स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार अनवस्था होगी और व्यवहारयोग्यता में व्यवहारयोग्यता न मानने पर योग्यता द्वारा निर्धारित विषय का निर्धारण नहीं हो सकेगा।[१६१]

शालिकनाथ द्वारा दिया गया विषयलक्षण भी समीचीन नहीं है। उक्त लक्षण है—"संविदि योऽर्थोवभासते स तद्विषयः" अर्थात् जिस ज्ञान में जो वस्तु भासित होती है वही उस ज्ञान का विषय है। विषय के इस लक्षण में शंका की जा सकती है कि "संविदि" इस सप्तम्यन्त पद का अर्थ क्या है? अधिकरण अथवा विषय अथवा सम्बन्धिमात्र अथवा सति सप्तमी? यहाँ पर सप्तमी का अर्थ अधि-करण नहीं हो सकता, क्योंकि आन्तरसंविद् कभी भी बाह्य घटादि वस्तुओं का अधिकरण नहीं हो सकता, बाह्य द्रव्य बाह्य गुणादि का ही अधिकरण हो सकता

१६०. तत्वप्रदीपिका—पृ० ४४,४५
१६१. तत्वप्रदीपिका—पृ० ४५,४६

है। सप्तमी का अर्थ विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि विषय तो अभी अनिरूपित है, अर्थात् निरूपणाधीन है।[१६२] विषय के निरूपण के लिए यदि विषयज्ञान की आवश्यकता पड़ जाय तब तो आत्माश्रय दोष होगा और "संविदि" का अर्थ होगा संविन्निष्ठविषयत्व—जैसे "घटम्" कहने से द्वितीया का अर्थ कर्मत्व घटनिष्ठ होता है। इस स्थिति में संविद् स्वयं विषय हो जायेगा तथा संविद् के विषय का निरूपण न होकर संविद् स्वयं विषयरूप से निरूपित होगा, अतः वैपरीत्य होगा, विषयी संविद् ही विषय हो जायेगा।[१६३]

सप्तमी का अर्थ सम्बन्धिमात्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्बन्धिमात्रता चक्षुरादि करणों में भी है। विषय-विषयी की चर्चा में चक्षुरादि को विषय-विषयीसम्बन्ध में करण माना जाता है, इसलिए चक्षुरादि में विषयत्व नहीं है।

इसी प्रकार सति सप्तमी भी समीचीन नहीं है, क्योंकि सति सप्तमी मानने पर "संविद् के विद्यमान रहने पर जो भासता है", वही विषय है। इस पक्ष में भासमान शब्द का अर्थ निरूपण होना चाहिये। भासमान का अर्थ होगा "भानविषयत्व" ऐसा अर्थ करने पर पुनः विषयत्व का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। विषयत्व स्वयं निरूपणाधीन है, अतः आत्माश्रय दोष है।[१६४]

पूर्वोक्त प्रकार से चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्वप्रदीपिका में और आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में[१६५] दृक्दृश्यसम्बन्धोपपत्ति के लिए विषय और विषयी के अनेक लक्षण प्रस्तुत किए हैं, परन्तु विषय-विषयी का कोई भी निर्दोष लक्षण नहीं हो पाया, इसीलिए दृक्दृश्यसम्बन्ध को आत्मा में आध्यासिक ही मानना पड़ता है। दृक् और दृश्य अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय की सम्बन्धोपपत्ति करने के लिए दृश्य विषय को चेतन में अध्यस्त मानना ही होगा। जो चेतन में अध्यस्त नहीं, उसका ज्ञान हो ही नहीं सकता। विषय स्वभावतः जड़ है, अतएव चेतनसम्बन्ध के बिना विषय प्रकाशित नहीं हो सकता, और जड़ के साथ चेतन का सम्बन्ध अध्यासिक ही हो सकता है, क्योंकि सत्य और अनृत का मिथुनीकरण ही अध्यास है। चेतन सत्य, जड़ मिथ्या है। दोनों के अध्यासिक सम्बन्ध का अर्थ है मिथ्या सम्बन्ध। दो वस्तुओं में से एक मिथ्या होने पर उन दो वस्तुओं का सम्बन्ध भी मिथ्या ही होगा। दो सत्य वस्तुओं में सत्य सम्बन्ध सम्भव है, परन्तु अद्वैत में सत्य एक है, अतः इतर वस्तुएँ मिथ्या हैं। इस प्रकार दृक्दृश्यसम्बन्ध अन्यथोपपत्ति द्वारा प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि होती है।

इष्टसिद्धिकार का कहना है कि दृश्यवस्तुमात्र मिथ्या है। दृक् अर्थात् एक-

१६२. वही—पृ० ४६
१६३. संविदो विषयत्वं, घटादीनां च विषयित्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च। चित्सुखी—पृ० ४६
१६४. चित्सुखी—नयनप्रसादिनी—पृ० ४६
१६५. अद्वैतसिद्धि (दृक्दृश्यसम्बन्धभंगः) पृ० ४५३

मात्र ज्ञान ही सत्य है। वस्तुभेद मिथ्या है। यदि कहा जाय कि ज्ञानज्ञेयभेद, चित् जड़भेद तो सर्वजनविदित है फिर ज्ञानज्ञेयभेद या प्रपंचभेद मिथ्या कैसे ? इसके उत्तर में यही कहना है कि ज्ञान और ज्ञेय, चित् और जड़, प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्धस्वभाववाले हैं, इसलिए चित्जड़भेद समझा नहीं जा सकता, क्योंकि भेद भी अभाव ही है। अभावरूपभेद को जानने के लिए उस भेद के प्रतियोगी और अनुयोगी का ज्ञान पहले ही आवश्यक है। जिस वस्तु से जिस वस्तु का भेद होता है, उन दो वस्तुओं में से एक के भी अदृष्ट होने के कारण दोनों में रहने वाले भेद को जानने का कोई भी उपाय नहीं है।[१६६] चिद्वस्तु अज्ञेय, अदृश्य है अर्थात् चित् कभी ज्ञेय नहीं बनता, अतएव दृश्य भी नहीं। यदि वह दृश्य या ज्ञेय बनता है तो उस अर्थ में वह चित् नहीं है। वह दृश्यत्वेन मिथ्या ही होगा। वह स्वयंप्रकाश है, अतएव चित् कभी भी अप्रसिद्ध नहीं होता। दृश्यवस्तु का ज्ञान हो नहीं सकता। दृश्य का स्वभाव निर्धारण भी नहीं किया जा सकता, अतएव भेदप्रतियोगी दृश्य के ज्ञान के बिना भेद का ज्ञान नहीं होता; इसलिए ज्ञान से भिन्नरूप से ज्ञेयपदार्थ अर्थात् दृक् से भिन्नरूप से दृश्य की उपपत्ति नहीं हो सकती। भिन्न मानने पर किसी प्रकार सम्बन्धभान ही नहीं हो सकता। दृक् से स्वतंत्र दृश्य का उपपादन कैसे हो सकता है ? उपपादन भी तो ज्ञान से ही होगा ? जिन दो पदार्थों के स्वरूप परस्पर अनपेक्षित हैं वे दोनों ही पदार्थ असम्बन्धित माने जायेंगे, यदि प्रकृत स्थल में दृक्-दृश्य को असम्बन्धित मानें; तब उनमें दृकदृश्यभाव ही कैसे हो सकता है ? ज्ञेयपदार्थ सर्वथा ज्ञान से भिन्न होने पर ज्ञातृज्ञेयभाव की अप्रसिद्धि होगी। इस स्थिति में जगत की अप्रसिद्धि होगी; क्योंकि अज्ञेय पदार्थ की प्रसिद्धि होगी तो कैसे ? ज्ञान में तो प्रसिद्धि हो नहीं सकती; इसलिये दृक्-भिन्न दृश्य का निवर्चन नहीं हो सकेगा। ज्ञान और ज्ञेयभेद को स्वरूपतः मानने पर ज्ञेय की स्वतःस्फूर्ति माननी पड़ेगी,[१६७] ऐसा है नहीं, इसलिये ज्ञान से ज्ञेयभेद सिद्ध नहीं हो सकता। हमने पूर्व ही कहा है कि भेदरूपअभावज्ञान प्रतियोगीसापेक्ष होता है। जो अदृष्ट है, वह प्रतियोगीनहीं हो सकता—अर्थात् जिसका ज्ञान नहीं होता, वह प्रतियोगी नहीं हो सकता। यदि ऐसा मान लिया जाय तब तो सभी से सभी की भेददृष्टि एक साथ होने लगेगी, इसलिये भेददृष्टि परस्पर सापेक्ष होती है। दृष्ट और अदृष्ट दो पदार्थों में भेद अर्थात् दो अदृष्टों में भेददृष्टि संभव नहीं। प्रकृत में दृक् अदृष्ट और दृश्य दृष्ट है, इसी कारण दृक्-दृश्य भेदसिद्धि का मूल ही नहीं मिलता। भेद को यदि वस्तु का धर्मरूप माना जाय तब प्रश्न होगा वह भेद धर्मीवस्तु से भिन्न या अभिन्न है ? यदि अभिन्न मानें; तब तो वस्तु को जानते ही तदभिन्न धर्म का भी साथ में ज्ञान होना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये भेद को धर्मी अभिन्न नहीं कह सकते। भेद

१६६. न हि अदृष्टस्य दृष्टात् दृष्टस्य वा अदृष्टात् भेदो द्रष्टुं शक्यः धर्मिप्रतियोग्यपेक्षत्वात भेददृष्टेः।
इष्टसिद्धि—पृ० २

१६७, इष्टसिद्धि—पृ० ४

को धर्मी से भिन्न मानने पर उस भेद को जानने के लिये अन्य भेद के ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी । उक्त द्वितीय भेद धर्मी से भिन्न भेदरूप धर्म होगा, उसके ज्ञान के लिये भी अन्य भेदज्ञान की आवश्यकता होगी; इस प्रकार अनवस्थापत्ति होगी।[१६८]

दृश्य का निर्वचन दृगभिन्न रूप से भी नहीं हो सकता । चेतनाभिन्नरूप से जड़ का निर्वचन संभव नहीं है । चेतन परअनपेक्षसिद्ध, जड़ परतः सिद्ध पदार्थ है, इसलिये जड़ चेतन में अभेद संभव नहीं है । 'जड़ चेतनाभिन्न है,' इसका अर्थ होगा या तो जड़ में चेतन का अन्तर्भाव या चेतन में जड़ का अन्तर्भाव; अर्थात् दृक्-दृश्य का परस्पर अन्तर्भाव होने पर या तो दृश्य को दृक्मात्र स्वीकार करना होगा या दृक् को दृश्यमात्र स्वीकार करना होगा, परन्तु ऐसा संभव नहीं है । यदि दृश्य दृशि-अभिन्न होगा, उस स्थिति में दृश्य दृक् ही होगा, उसमें दृश्यता नहीं होगी । जब वह दृक् होगा और उसमें दृश्यता नहीं रहेगी, उस स्थिति में उसे दृश्य कैसे कहेंगे ? और दृश्य के साथ दृक् अभिन्न हो, ऐसा कथन भी उपपन्न नहीं होगा । इसी प्रकार दृक् को दृश्य कहने पर उसमें दृक्त्व रहेगा नहीं, उसमें दृश्यता आ जायेगी । ऐसी स्थिति में दृक् का सर्वथा लोप होगा तथा दृक् के बिना दृश्य की अनुपपत्ति होगी, इस प्रकार शून्यापत्ति होगी, इस कारण दृक्-दृश्य का अभेद संभव नहीं है ।[१६९]

अब पूर्वपक्ष की ओर से शंका की जाती है कि 'शुक्लोघटः' इस कथन में जिस प्रकार विशेष्य-विशेषणभाव होता है उसी प्रकार 'घटो दृष्टः' इस स्थल में विशेष्य-विशेषणभाव होता है और इसलिये परस्पर धर्मधर्मित्वभाव हो जायेगा ? धर्मधर्मिभाव अत्यन्त भेदस्थल में नहीं हो सकता, अतएव दृक् और दृश्य में अभेद मानना पड़ेगा । इसके उत्तर में यह कहा जायेगा कि दृक्दृश्य में धर्मधर्मिभाव उक्त प्रकार से भी संभव नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार घट और रूप एक ज्ञानगम्य हैं, उस प्रकार दृक् और दृश्य एकज्ञानगम्य नहीं । एकज्ञानगम्य वस्तुओं में धर्मधर्मिभाव संभव है । एकज्ञानगम्य न होने पर भी धर्मधर्मिभाव स्वीकार करने पर अतिप्रसंग होगा । हिमाचल एवं विन्ध्य में धर्मधर्मिभाव होने लगेगा, क्योंकि एकज्ञानागम्यत्व उसमें भी समान है । एक ही दृक् का दृश्यधर्मत्वरूप से दृश्यत्व और उसी दृश्य को जानने के लिये दृक्त्व एककाल में कैसे संभव हैं ? धर्मधर्मिभाव होने पर दृक्दृश्य का एकज्ञानगम्यत्व मानना ही पड़ेगा । यदि कहा जाय कि एक ही दृशि एकांश से दृक् बनेगा और अन्यांश से दृश्य बनेगा तो संभव नहीं, क्योंकि दृशि निरवयव है, इसलिये दृक्दृश्य में, जड़ चेतन में, अभिन्नता भी समीचीन नहीं है; क्योंकि जड़प्रपंच चेतनाभिन्नरूप से निर्वचनीय नहीं है ।

---

१६८. अपि च कोऽयं भेदोनाम ? भेदिनः स्वरूपंचेत्, भेददृष्टे : प्रतियोग्यपेक्षा न स्यात् । न हि स्वरूप दृष्टिः प्रतियोग्यपेक्षा । अन्यथा प्रतियोगिनोऽपि प्रतियोग्यपेक्षत्वात भेददृष्टेरनवस्था, अन्योन्याश्रयता वा स्यात ।

वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा—(इष्टसिद्धि प्रक्रिया परीक्षा) पृ०—४६८

१६९. इष्टसिद्धि—११, १२

इसी प्रकार जड़प्रपंच चेतन से भिन्नाभिन्नरूप से भी निर्वचनीय नहीं है। भेद अभेद दोनों विरुद्ध हैं। जिसके विषय में एकत्वप्रमिति होती है उसी के विषय में नानात्व की प्रमिति संभव नहीं। एक प्रमाण द्वारा युगपत् विधिनिषेधरूप दो व्यवहार संभव नहीं।

पुनश्च दृश्य कभी दृशिष्टरूप नहीं होता, न ही दृशि कभी भी दृश्य-रूप होता है। तृतीय रूप अर्थात् दृश्य-दृशि भिन्न तृतीय रूप भी नहीं हो सकता।[२००] चेतन के अंश नहीं होते यह पहले ही कहा जा चुका है, इसलिये भेदाभेद मानने में यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि दृक् में एकांश से भेद और अन्यांश से अभेद रहेंगे। अंश रहित होने के कारण सम्पूर्णरूप से भेद या सम्पूर्णरूप से अभेद कहना होगा; अतः भेदाभेद संभव नहीं सिद्ध हुआ।

पुनश्च एक वस्तु में भेदाभेद दोनों को मानने पर जो भेद है वही अभेद है, ऐसा ज्ञान होगा, क्योंकि भेद-अभेद दोनों के विषय भिन्न तो हैं नहीं, विषय एक है। भेद बुद्धि का विषय पृथक् और अभेद बुद्धि का विषय पृथक् होना चाहिये। प्रकृत में भेदाभेद का विषय एक है, अतः भेद-अभेद दोनों की स्वरूपहानि होगी। दोनों में विरोध नहीं रहेगा। अभेद से अतिरिक्त भेद सिद्ध नहीं होगा; किन्तु अभेद से अतिरिक्त भेद सर्वजनविदित है। इस प्रकार दृक्दृश्य में भेदाभेद सम्बन्ध की भी उपपत्ति नहीं हो सकती।[२०१]

आचार्य शंकर ने अध्यासभाष्य में कहा है कि विषय और विषयी का वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता, क्योंकि 'तमः प्रकाशवत्' दोनों परस्पर विपरीतधर्मवाले हैं। विषय जड़ है, विषयी आत्मा चेतन है फिर दोनों का मिलन कैसे ? जहां तक शुद्ध ब्रह्म की बात है, वहां पर विषय विषयीभेद नहीं है; क्योंकि वह सभी का अधिष्ठान-स्वरूप सत्य है। विषय और विषयी का सत्य सम्बन्ध नहीं बन सकता, इसीलिये आध्यासिक मिथ्या सम्बन्ध माना गया।

हमने अध्यास और ख्यातिवादों के विचार प्रसंग में देखा है कि किस प्रकार शुक्तिरजत वस्तुतः आरोपित है। वहाँ प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति मानी गई है, इसी प्रकार व्यावहारिक वस्तुएँ ब्रह्म में अनिर्वचनीयतया आरोपित हैं।

दृक्-स्वरूप आत्मा के साथ दृश्य-विषय के स्वरूपविश्लेषण द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि दृक् और दृश्य का सत्यसम्बन्ध नहीं बन सकता, अतः दोनों में से एक को अध्यस्त ही मानना होगा। दृक् स्वयंप्रकाश है, दृश्य स्वयंप्रकाश नहीं है। यह सर्ववादी सम्मत है, इसलिये दृश्य ही दृक्अध्यस्त है। अध्यस्त वस्तु का स्वरूप आवृत होता है। ज्ञान से जब भी किसी वस्तु को जाना जाता है, अध्यस्तरूप से ही जाना

---

२००. न हि दृशो दृश्यंरूपम्। नापिदृश्यस्य दृक्। न च तृतीयं रूपमस्ति। वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (इष्टसिद्धि प्रक्रियापरीक्षा।) पृ० ४६

२०१. वही।

जाता है। वस्तुस्वरूप को हमारा ज्ञान तत्वस्वरूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता, क्योंकि ज्ञान ज्ञातरूप से ही वस्तु को प्रस्तुत कर सकता है, अज्ञातरूप से नहीं। ज्ञान के रंग से रंजित वस्तु को ही हम जानते हैं। ज्ञान के आवरण के बिना वस्तु का नग्नरूप हम नहीं जान सकते। ज्ञान द्वारा जानने का अर्थ है–विषय का ज्ञान के संदर्भ में आना। ज्ञान से रंजित विषय को जानने का अर्थ हुआ कि हम विषय को अन्यथारूप से जानते हैं, तद्रूप से नहीं। इसका अर्थ यह नहीं कि विषय है ही नहीं। विषय है, किन्तु वह अन्यरूप में हमारे सामने भासता है। विषय स्वरूप में ब्रह्म ही है, किन्तु दृक् अध्यस्ततया अन्यथारूप से भासता है, इसीलिये विषय को मिथ्या कहा गया है। दृक्-दृश्यसम्बन्धविचार द्वारा अद्वैतवेदान्तियों ने दृश्य को अध्यस्त एवं अध्यस्ततया मिथ्या सिद्ध किया है। इसी बात की सिद्धि अध्यास विचार द्वारा की गई है।

——

३

मिथ्यात्व में लक्षणप्रमाण खण्डन (पूर्व पक्ष)

मिथ्यात्व-लक्षण-खण्डन :

अद्वैतवेदान्त के जगन्मिथ्यात्ववाद का खण्डन सभी द्वैतवादियों द्वारा किया गया है। वेदान्त के क्षेत्र में सभी वैष्णव और शैव वेदान्तियों ने इस सिद्धान्त का खण्डन अनेक युक्तिओं सहित किया है। इसके अतिरिक्त न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा तथा जैन-बौद्धों ने भी तथाकथित जगतमिथ्यात्ववाद का प्रत्याख्यान किया है। इस विषय में वैष्णववेदान्त सम्प्रदायों के साथ अद्वैतवेदान्त का संघर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस संघर्ष ने अद्वैतपरम्परा और वैष्णवपरम्परा—दोनों में ऐसे उद्भट् विद्वान उत्पन्न किये हैं जिनके कारण इस सिद्धान्त में पक्ष-प्रतिपक्षों के रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार होते गये एवं आज खण्डन-मण्डन के रूप में जगत्मिथ्यात्ववाद एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त बन गया है। वस्तुतः वस्तुवादियों द्वारा तथाकथित इस जगन्मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान कोई नयी बात नहीं, किन्तु प्रत्ययवादी दार्शनिकों (रामानुजादि) द्वारा इस सिद्धान्त का विरोध और भी महत्त्व रखता है।

न्यायदर्शन के आचार्यों ने इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान अपने सभी प्रधान ग्रन्थों में किया है। विशेषकर शंकर मिश्र ने 'भेदरत्नम्' की रचना द्वारा भेदसिद्धिपूर्वक अभेद का युक्तितः खण्डन किया है। इसी प्रकार विश्वनाथ न्यायपंचानन ने 'भेदसिद्धि' ग्रन्थ में अभेदवाद का प्रत्याख्यान किया है।

इधर वैष्णव वेदान्तियों में सर्वप्रथम रामानुज ने तथा पश्चात् मध्व-निम्बार्कादि आचार्यों ने शंकर के इस सिद्धान्त का बहुत ही सुन्दर और प्रौढ़ तर्कों सहित खण्डन किया है। परवर्ती अद्वैतआचार्यों ने अद्वैतवाद के पोषक जगन्मिथ्यात्ववाद को दृढ़ भित्ति देने के लिये रामानुज-माध्वादि सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का आलोड़नपूर्वक खण्डन किया है। इन आचार्यों में सुरेश्वर, पद्मपाद, मण्डन, प्रकाशात्मा, चित्सुख, वाचस्पति, मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती आदि प्रमुख हैं।

खण्डन की इस परम्परा में रामानुज सम्प्रदाय में जो उद्भट तार्किक हुये हैं उनका नाम वेदान्ताचार्य है। वेदान्ताचार्य ने अद्वैतवाद के खण्डन के लिये अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से न्यायपरिशुद्धि, शतदूषणी बहुत ही तर्कपूर्ण और उपादेय ग्रन्थ हैं। शतदूषणी में वेदान्तमहादेशिकाचार्य ने अद्वैतवाद में प्रधान शतदूषण दिखाये हैं। इस ग्रन्थ में जगन्मिथ्यात्ववाद का सुन्दररीति से खण्डन किया गया है। इसी

'ग्रन्थ के उत्तर में ही म० म० अनन्तकृष्ण शास्त्री ने शतभूषणी नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें अद्वैतवाद में दिखाये गये शतदूषणों को भूषण सिद्ध किया गया है।

माध्व-सम्प्रदाय में जगन्मिथ्यात्ववाद की खण्डनपरम्परा में दिग्गज पण्डित व्यासतीर्थ हुये जिन्होंने न्यायामृतम् ग्रन्थ में जगन्मिथ्यात्ववाद का खण्डन सुन्दर एवं प्रौढ़ तर्कों से किया है। इस ग्रन्थ के उत्तर में अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा है। अद्वैतसिद्धि का खण्डन न्यायामृततरंगिनीकार व्यासरामाचार्य ने किया एवं न्यायामृततरंगिनी का खण्डन लघुचन्द्रिकाकार ब्रह्मानन्द सरस्वती ने किया है।

निम्बार्क सम्प्रदाय परम्परा में भी जगन्मिथ्यात्ववाद का प्रौढ़तापूर्वक खण्डन हुआ है। केशवकाश्मीरी द्वारा 'वेदान्त कौस्तुभप्रभा' में एवं प्रकाण्ड पंडित माधवमुकुन्द के 'अध्यासपरपक्षगिरिबज्र' में उक्त वाद का विशेष रूप से खण्डन हुआ है।

पूर्वोक्त आचार्यों ने जिन युक्ति-तर्कों से जगन्मिथ्यात्ववाद का प्रत्याख्यान किया है उन तर्कों का उल्लेख पूर्वपक्ष के रूप में अद्वैताचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। मिथ्यात्ववाद की इस खण्डन-परम्परा में विशिष्टाद्वैतावादी आचार्य वेदान्त-महादेशिक, द्वैतवादी आचार्य व्यासराज तथा द्वैताद्वैतवादी आचार्य माधवमुकुन्द की देन अपूर्व है। इन तीनों सम्प्रदायों के तीनों आचार्यों ने जगन्मिथ्यात्ववाद के खण्डन में प्रायः समान युवित-तर्कों के प्रयोग किये हैं। माधवमुकुन्द ने तो परपक्षगिरिबज्र में व्यासराज के न्यायामृत के तर्कों को अविकल और अक्षरशः उद्धृत किया है।

वस्तुतः व्यासराज के खण्डन युक्तिओं के अध्ययन करने के बाद वेदान्त-देशिकाचार्य और माधवमुकुन्दाचार्य की युक्तियों में कोई नवीनता नहीं रह जाती, अतएव प्रस्तुत अध्याय में हम व्यासराज की खण्डनयुवितओं का अध्ययन करेंगे; साथ में पूर्वोक्त दोनों आचार्यों की युक्तियों की तुलना भी कहीं-कहीं करेंगे।

माध्वादि पूर्वपक्षियों का कथन है कि प्रपंच का मिथ्यात्व प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है, अपितु प्रपंचसत्यत्व एवं नानात्व ही प्रत्यक्षसिद्ध हैं। इस प्रकार प्रत्यक्षअसिद्ध मिथ्यात्व एवं एकत्व के लिये या तो श्रुतिप्रमाण और या अनुमान प्रमाण ही हो सकते हैं। अद्वैतवादी 'विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्'[1] एवं प्रकारक अनुमान मिथ्यात्व के लिये प्रदर्शित करते हैं। उक्त अनुमान में साध्य है 'मिथ्यात्व'। यह मिथ्यात्व क्या है? यह प्रश्न होगा ही, इसलिये 'मिथ्यात्व' की परिभाषा दी जाय। न्यायामृतकार व्यासराज स्वयं मिथ्यात्व के बारह लक्षण प्रस्तुत करके प्रत्येक को असम्भव सिद्ध करते हैं।

प्रथम लक्षण :

'अत्यन्तासत्वं मिथ्यात्वम्'[2] अर्थात् जो अत्यन्त असत् हो वही मिथ्या है—ऐसा

---

१. न्यायामृत—पृ० ९। व्यासराज, निर्णय सागर, १९०७।
२. वही पृ० १३।

मिथ्यात्व का लक्षण अद्वैतवादी नहीं दे सकते, कारण अद्वैतवादी जगत् को मिथ्या अवश्य कहते हैं, किन्तु आकाशकुसुमादि के समान अलीक नहीं कहते। अलीक कहने पर प्रपंच की व्यावहारिकसत्ता के साथ विरोध होगा, अतः अद्वैतवादी अत्यन्तासत्व यानी शून्यतारूप मिथ्यात्व नहीं मानते, क्योंकि ऐसा मानने पर अपसिद्धान्त-दोष होगा, जगत् के व्यवहारलोप का प्रसंग आ पड़ेगा।

द्वितीय लक्षण :

'अनिर्वाच्यत्वं मिथ्यात्वम्'[3] अर्थात् अनिर्वाच्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण हो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा लक्षण करने पर मिथ्यात्वानुमान में साध्याप्रसिद्धिदोष होगा। जगत्सत्यत्ववादी के मत में अनिर्वाच्य पदार्थ प्रसिद्ध नहीं है। सत् या असत् के अतिरिक्त अनिर्वाच्य वस्तु के न मानने के कारण द्वैतवादी अप्रसिद्ध-विशेषण दोष देंगे ही। इस प्रकार द्वितीय लक्षण भी असम्भव है।

तृतीय लक्षण :

'सद् विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्'[4] सद् से भिन्न अर्थात् सद्भेद जिसमें हो वह मिथ्या है—ऐसा भी लक्षण नहीं दिया जा सकता, क्योंकि एक सद् वस्तु से अन्य वस्तु का भेद तो सिद्ध ही है अर्थात् घट से घट भिन्न है, यह सिद्ध ही है, अतएव एवंभूत-लक्षण में सिद्धसाधनदोष होगा।

चतुर्थ लक्षण :

'सत्वानधिकरणत्वं मिथ्यात्वम्'[5] अर्थात् जो सत्व का अनधिकरण हो—अधिकरण न हो वह मिथ्या है। यह मिथ्तात्व का समीचीन लक्षण आपाततः लगता तो है, किन्तु विचार करने पर इस लक्षण में भी दोष हैं। ब्रह्म स्वयं निधर्मक है। ब्रह्म में सत्वरूप धर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्वरूप धर्म को ब्रह्म में स्वीकार करने पर ब्रह्म निधर्मक नहीं रह सकता। जब ब्रह्म में सत्व धर्म भी नहीं रहा, तब ब्रह्म को सत्वानधिकरण कहा जायेगा, अतः मिथ्यात्वलक्षण की अतिव्याप्ति ब्रह्म में हो गई। अद्वैतवादी का कहना है कि ब्रह्म सत्व का अनधिकरण होकर भी तद्रूप है, इसलिये ब्रह्म में मिथ्यात्व नहीं जायेगा। इस पर द्वैतवादी का कथन है कि प्रपंच भी सत्व का अनधिकरण होकर ब्रह्म के समान सद्रूप होगा, तथाच प्रपंच का मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होगा। यद्यपि अद्वैतवादी ब्रह्म के समान प्रपंच में निर्धर्मकता स्वीकार नहीं करते, इसलिये ब्रह्म के समान प्रपंच में सत्व नहीं है, तथापि ब्रह्म को निर्धर्मक मानते हुए उसमें सत्व स्वीकार करना अथवा 'ब्रह्म सत्वानधिकरणं न भवति निधर्मकत्वात' इत्यादि प्रयोग करना व्याघातजनक होगा। जिसे निर्धर्मक माना जायेगा उसमें धर्म स्वीकार नहीं हो सकता। यदि उसमें धर्म स्वीकार किया गया तो वही उसका व्याघातक होगा।

---

३. न्यायामृत—पृ० १३ तथा १४।
४. वही—पृ० १४।
५. वही—पृ० १४

निर्धर्मक ब्रह्म में निर्धर्मकत्व धर्म नहीं रह सकता, क्योंकि निर्धर्मकत्व भी सत्व के समान ही धर्म है।

इसी प्रकार ब्रह्म में 'सत्वानधिकरणत्वाभावरूप' साध्य यदि माना गया तो निर्धर्मकत्व के साथ पुनः व्याघात होगा। कम से कम ब्रह्म में अभावरूप धर्म तो स्वीकार करना ही होगा। अभावरूप धर्म स्वीकार करने पर निधर्मकता की हानि होगी, अतः ब्रह्म में अतिव्याप्ति के भय से चतुर्थ लक्षण का भी परित्याग करना होगा।

पंचम लक्षण :

'प्रमित्यविषयत्वं मिथ्यात्वम्'[६] अर्थात् प्रमिति का अविषयत्व ही मिथ्यात्व है—ऐसा लक्षण भी सम्भव नहीं है। वेदान्त वाक्यजन्य वृत्ति भी प्रमिति है। तद् विषय ब्रह्म हुआ, इसलिये ब्रह्म में अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ, किन्तु शुक्तिरूप्यादिओं में प्रमिति का अविषयत्व नहीं है, अतः लक्षण में असम्भव दोष है। शुक्ति-रजत यद्यपि साक्षात् प्रमिति का विषय नहीं होता है, साथ में शुक्ति-रजत का व्यावसायात्मक ज्ञान भी प्रमा नहीं है, तथापि अनुव्यवसायात्मक ज्ञान तो प्रमा है ही। भ्रमज्ञानविषयक ज्ञान भ्रम नहीं होता, प्रमा होता है। भ्रमज्ञानविषयक ज्ञान भ्रम होने पर भ्रम को जानने वाला पुरुष भी भ्रान्त होगा। शुक्ति-रजत के व्यवसायात्मक ज्ञान के बाद जब 'मैं शुक्ति-रजत ज्ञानवान हूँ' इस प्रकार अनुव्यवसात्मक ज्ञान होता है, तब शुक्ति-रजत व्यवसाय द्वारा अनुव्यवसाय का विषय होता है, और यह अनुव्यवसाय प्रमा है, अतः शुक्तिरजत में प्रमित्यविषयत्व नहीं रहा, अतः लक्षण में असम्भव दोष है।

षष्ठ लक्षण .—

'भ्रान्तिविषयत्वंमिथ्यात्वम्'[७] भ्रान्तिज्ञान का जो विषय-वही मिथ्या है—ऐसा लक्षण भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के लक्षण की अतिव्याप्ति ब्रह्म में होगी। भ्रमज्ञान में अधिष्ठान का भी भास होता है। ब्रह्माधिष्ठानक भ्रम में ब्रह्म भी अधिष्ठानरूप से भासित होता है, अतः अधिष्ठानरूप से ब्रह्म भी भ्रमज्ञान का विषय हुआ, इसलिये लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। अतिव्याप्ति वारण के लिये 'भ्रान्तिमात्र विषयत्वं मिथ्यात्वम्'[८] इस प्रकार लक्षण करें तो भी लक्षण निर्दोष नहीं होगा। उक्त प्रकार से 'मात्र' पद देने पर ब्रह्म वेदान्तवाक्यजन्य वृत्तिरूप प्रमा का भी विषय होता है, इसीलिये ब्रह्म में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी, किन्तु शुक्तिरजत में, जो लक्षण का लक्ष्य है, लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि शुक्ति-रजत 'शुक्ति-रजत ज्ञानवानहं' इस अनुव्यवसायरूप प्रमाज्ञान का विषय होता है, अतएव शुक्ति-रजत, मात्र भ्रांतिज्ञान का ही विषय नहीं हुआ, प्रमाज्ञान का भी विषय हुआ, अतः लक्ष्य में लक्षण के न जाने पर अव्याप्ति-दोष हुआ।

---

६. न्यायामृत—पृ० १४।
७. ब्रह्मणोप्यधिष्ठानत्वेनतद्विषयत्वात्। न्यायामृत—पृ० १४।
८. न्यायामृत—पृ० १५।

इस प्रकार षष्ठ लक्षण भी निर्दोष नहीं है।

सप्तम लक्षण :—

'बाध्यत्वं मिथ्यात्वम्'[९] जो बाध्य है वही मिथ्या है, अतः बाध्यत्व मिथ्यात्व का लक्षण हो सकेगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रश्न होगा—बाध्यत्व का अर्थ क्या है ? यदि सम्यक् अन्यथा विज्ञात् वस्तु का सम्यक्-विज्ञान ही बाध्यत्व का अर्थ है तब तो सिद्ध-साधनता होगी, क्योंकि अद्वैतवादी के मत में यह प्रपंच मिथ्या रूप से एवं विज्ञानवादी बौद्धों के मत में क्षणिकत्वरूप से ज्ञात होता है। यह द्वैतवादी के मत में एक प्रकार से अन्यथा विज्ञान ही हुआ। द्वैतवादी को यही प्रपंच स्थायी और सत्य रूप से विज्ञात होता है। इस प्रकार अन्यथा विज्ञात प्रपंच सत्यत्व और स्थायित्वरूप से सम्यक् विज्ञात हुआ, इसलिये सिद्ध साधनता होगी, क्योंकि एवंभूत सम्यक्ज्ञानरूप बाध्यत्व तो प्रपंचसत्यत्व का अविरोधी हुआ।

अष्टम लक्षण :—

'बाधकज्ञानविषयत्वम् मिथ्यात्वम्'[१०] एवं प्रकार लक्षण भी निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि यह लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्त है।[११] ब्रह्मविषयक ज्ञान ही तो प्रपंच बाधकज्ञान है, एवंभूत बाधक-ज्ञान का विषय ब्रह्म है, अतः ब्रह्म में लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। यदि निषेध्यत्वरूप से बाधकज्ञानविषयत्व को मिथ्यात्व कहा जाय तो भी लक्षण में दोष बना ही रहता है, क्योंकि निषेध्यत्वरूप से बाधक ज्ञान का विषय शुक्ति-रजत भी नहीं होता। शुक्ति में रजतभ्रम के अनन्तर 'नात्र रजतम्' इस प्रकार का बाध होता है और इस बाधकज्ञान का विषय आपणस्थ रजत ही हो सकता है न कि प्रातिभासिक-रजत, क्योंकि प्रातिभासिक रजत का बाध होने पर 'रजतं नासीत, नास्ति, न भविष्यति', ऐसा त्रैकालिक निषेध नहीं हो सकता। कम से कम प्रतिभासकाल में तो रजत को मानना ही पड़ेगा। प्रतिभासकाल में अद्वैतवादी भी प्रतिभासिक रजत की सत्ता मानते हैं, अतः एवंभूत रजत का त्रैकालिक निषेध नहीं हो सकता है। आपणस्थ रजत ही त्रैकालिक निषेध का विषय हो सकता है, अतः निषेध्यत्वरूप से शुक्ति-रजत बाधकज्ञान का विषय नहीं है, इसलिये लक्षण में असम्भव दोष हैं।

नवम लक्षण :—

इस प्रकार 'ज्ञाननिर्वर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'[१२] ज्ञान द्वारा जो निवर्त्य हो वही मिथ्या है—एवं प्रकार लक्षण भी संगत नहीं, क्योंकि इसमें अर्थान्तरतादोष होता है। पूर्वज्ञान भी उत्तरज्ञान द्वारा निवर्त्य है, परन्तु उसमें मिथ्यात्व व्यवहार नहीं होता।

---

९. वही
१०. न्यायामृत—पृ० १५।
११. ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः—वही।
१२. न्यायामृत—पृ० १५। तुलनार्थ-परपक्षगिरिबज्र—पृ० ११८, ११९। माधवमुकुन्द, वृन्दावन सं० १९९३।

दशम लक्षण :—

"स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वंमिथ्यात्वम्"[१३] अपने अधिकरण में विद्यमान जो अत्यन्ताभाव उसका प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। यह लक्षण भी असंगत हैं, क्योंकि इसमें भी अर्थान्तरतादि दोष हैं। अव्याप्यवृति-संयोगादि में लक्षण का समन्वय नहीं हो पाता।

एकादश लक्षण:—

अव्याप्यवृत्ति-संयोगादि में अर्थान्तरता वारण के लिये इस लक्षण में 'अव्याप्यवृत्तित्वानाश्रयस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'[१४] कहा गया है, परन्तु इस लक्षण की भी आरोपित संयोगादि में अव्याप्ति है। आरोपित संयोगादि मिथ्या है, अतः मिथ्यात्व लक्षण का लक्ष्य होना चाहिये। एवंभूत लक्ष्य में लक्षण नहीं गया, इसलिये अव्याप्ति दोष है।

द्वादश लक्षण :—

'अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वंमिथ्यात्वम्'[१५] अविद्या अथवा अविद्या-कार्य ही मिथ्या है। यह लक्षण भी संगत नहीं है, क्योंकि अद्वैतवादी के अनुसार जीव, ईश्वर, जीवेश्वर-भेदादि पदार्थ अनादि हैं। अनादि होने के कारण ये अविद्या के कार्य नहीं हो सकते, क्योंकि कार्य तो सादि होता है। उक्त अनादि पदार्थ अविद्या भी नहीं हैं। अथच जीवेश्वरभेदादि को मिथ्या कहा गया है। उक्त जीवेश्वरभेदादि में इस लक्षण का समन्वय नहीं होता, इसलिये लक्षण की अव्याप्ति हुई। द्वैतवादी माध्वादि के मतानुसार अज्ञान और अज्ञानकार्य भी सत्य हैं। भेद भी सत्य हैं, इसलिये अविद्या और तत्कार्य मिथ्या नहीं हैं; सत्य ही हैं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त भी चित्सुखाचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में मिथ्यात्व के लक्षण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें बहुत से लक्षण इन्हीं लक्षणों के अन्तर्गत आ जाते हैं, जो अतिरिक्त हैं, उन्हें संक्षेप में नीचे दिया जाता है।

'प्रमाणागम्यत्वं मिथ्यात्वम्'[१६] प्रमाण अगम्य अर्थात् प्रमाण का अविषय मिथ्या है—यह लक्षण दोषपूर्ण है, क्योंकि इस लक्षण से तो ब्रह्म में भी मिथ्यात्व आ पड़ेगा। अद्वैतवादी ब्रह्म को स्वप्रकाश स्वीकार करते हैं और स्वप्रकाशतया सर्व प्रकार प्रमाणों से अगोचर माना जाता है, अतः प्रमाणागोचरतया ब्रह्म में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

'अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं मिथ्यात्वम्'[१७] अप्रमाण ज्ञान का विषय मिथ्या है—

---

१३. न्यायामृत्—पृ० १५।
१४. न्यायामृत—पृ० १६,
१५. वही।
१६. तत्वप्रदीपिका—पृ० ३२।
१७. वही

और 'अयथार्थज्ञानगम्यत्वं मिथ्यात्म्'[१८] अयथार्थ ज्ञानविषयत्व मिथ्यात्व, इस प्रकार के दोनों ही लक्षण अर्थान्तरादि दोषों से कलुषित हैं। क्षणिकवादी बौद्धों का सिद्धान्त कि 'सभी क्षणिक हैं' अन्य सम्प्रदाय के लिये यह अप्रमाण-ज्ञान ही तो है। इस प्रकार तो सत्य सभी प्रपंच एवं ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेंगे। साथ में स्मृति विषय में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि स्मृति को भी प्रमाण बहुत से दार्शनिक नहीं मानते।

'सद्विलक्षणत्वम् मिथ्यात्वम्'[१९] जो सत् से विलक्षण हो वह मिथ्या है—ऐसा लक्षण करने पर शशविषाण में जो कि सत् से विलक्षण है—लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अद्वैतवादी का अभीष्ट मिथ्यात्व का अलीक शशविषाणादि लक्ष्य नहीं हैं।

'सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वम्' [२०] जो सद् से विलक्षण और असत् से भी विलक्षण हो, अर्थात् जो सत् भी नहीं, असत् भी नहीं वही मिथ्या है। इस पर आक्षेप है कि जो सत् नहीं है, वह असत् होगा और जो असत् नहीं है, वह सत् होगा। सद-सत् परस्पर विरुद्ध हैं। परस्पर विरोधी वस्तुओं में से एक के मिथ्या होने पर दूसरी सत्य होगी। अद्वैतवादी जो सदसद्विलक्षण वस्तु की बात करते हैं, वह अप्रसिद्ध है। उदयनाचार्य ने कहा है—दो परस्पर विरोधी वस्तुओं में अन्तराल नहीं हो सकता, उनमें से एक सत्य होगी तो दूसरी असत्य होगी ही।[२१]

चित्सुखाचार्य ने उक्त प्रकार से मिथ्यात्व के नौ लक्षण पूर्वपक्ष के प्रस्तुत किये हैं और अन्त में दशवां एक निर्दुष्ट लक्षण उत्तर पक्ष के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसका विस्तृत विचार हमें चतुर्थ अध्यास में करना है।

न्यायामृतकार व्यासराज ने पूर्व-पक्ष के रूप में इतने लक्षणों को दूषित करके अन्त में पंचपादिकाकारादि अद्वैत आचार्यों के द्वारा स्वस्वग्रन्थों में प्रदर्शित मिथ्यात्व के पंच लक्षणों में भी दोषप्रदर्शन किया है। इन पांचों लक्षणों पर विस्तृत विवेचन हम चतुर्थ अध्याय में करेंगे। यहां पर न्यायामृतकार द्वारा प्रस्तुत आक्षेपों का सार ही रखा जाता है—पद्मपादाचार्य द्वारा प्रस्तुत लक्षण में अप्रसिद्ध दोष है। वस्तु या तो सत् होती है या असत्। सदसद्विलक्षण वस्तु कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। इसी प्रकार विवरणकार के दोनों लक्षणों में तथा चित्सुखाचार्य के लक्षण में भी एक ही दोष है। इन तीनों लक्षणों के अनुसार दृश्यमान विश्वप्रपंच का अत्यन्तासत्व ही सिद्ध होता है। पंचम लक्षण से विश्व का अनित्यप्व ही सिद्ध होता है न कि मिथ्यात्व, अतएव मिथ्यात्व के पांच प्रधान लक्षणों में से एक लक्षण भी जगत की मिथ्यात्वसिद्धि में सफल

---

१८. वही पृ० ३२, ३३।

१९. तत्वप्रदीपिका—पृ० ३३। तुलनार्थं परपक्षगिरिवज्र—'पृ० ११९।

२०. वही—पृ० ३३।

२१. न्यायकुसुमांजलि। उदयन।— ३। ८॥ हरिकृष्णदास प्रका०, बाराणासी।

नहीं हो सकता। अद्वैतवादी द्वारा अभिप्रेत मिथ्यात्व इन लक्षणों से सिद्ध नहीं हो सकता।[२२]

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के वेदान्तमहादेशिकाचार्य ने भी इसी प्रकार मिथ्यात्व के लक्षणों में दोषोद्भावनद्वारा शतदूषणी में उनका जोरदार खण्डन किया है।[२३]

मिथ्यात्वानुमानप्रमाणखण्डन

चित्सुखाचार्य ने पूर्वपक्ष की ओर से मिथ्यात्व में अनुमानप्रमाण दिखाकर द्वैतवादी दार्शनिकों के तर्कों का विश्लेषण किया है। पूर्वपक्ष की ओर से निम्न अनुमान में दोषोद्भावन किया गया है।

'अयं पट: एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी दृश्यत्वात् घटवत्।'[२४] अर्थात् इस पट के अवयव तन्तुओं में इस पट का अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी यह पट ही है। इस पट के अवयवरूप तन्तुओं में इस पट का अत्यन्ताभाव है, क्योंकि यह दृश्य है जैसे घट। दृश्य पदार्थ मात्र के सूक्ष्म उपादान में स्थूल दृश्य वस्तु का अभाव होता है। घट के उपादान मृत्तिका में दृश्य घट का अभाव है ही। पट में दृश्यत्व है, इसलिये दृश्यत्व हेतु का पक्षवृत्तित्व सिद्ध हुआ। घट दृष्टान्त है। दृष्टान्त में हेतु और साध्य दोनों को सिद्ध होना चाहिये। घट में दृश्यत्व हेतु है, साथ में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व भी है, क्योंकि तन्तुओं में घटात्यन्ताभाव है ही, अत: व्याप्तिग्रहण हो जाता है।[२५] यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि दृष्टान्त में जब साध्य की सिद्धि की जाती है, उस समय तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव द्वारा घटात्यन्ताभाव ही लेना है, क्योंकि दृष्टान्त घट है। और जब पक्ष में साध्य की सिद्धि की जाती है, उस समय तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव द्वारा पटात्यन्ताभाव लेना है, क्योंकि पक्ष पट है। पटोपादान तन्तुओं में पट के अन्योन्याभाव, प्रागभाव और ध्वंसाभाव हैं, इसलिये केवल 'अभाव प्रतियोगी', ऐसा कहने पर अर्थान्तरतादोष होता, अतः अत्यन्ता

---

२२. अनिर्वाच्येऽप्रसिद्धयादि: प्रतीते प्रतिषेध्यता।
स्वाश्रयेऽत्यन्तविरह: सद्विलक्षणता तथा
इति पक्षत्रयेऽत्यन्तासत्वं स्यादनिवारितम्
धीनाश्यत्वे त्वनित्यत्वमेव स्यान्न मृषात्मता।
न्यायामृत—पृ० ४१।

२३. तत्र किमिदं मिथ्यात्वम् ? किं तुच्छत्वं, उतान्यथाख्यातिविषयत्वं, उत सदसद्विलक्षणत्वं अथ प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वरूपं बाध्यत्वं अथवा...नाद्य: प्रतीतिविरोधादपसिद्धान्ताच्च। अतएव न द्वितीय: मिथ्यात्वाध्यासादि विषयतया सिद्धसाधनत्वाच्च 'इत्यादि। शतदूषणी—पृ० २८६। वेदान्ताचार्य, अनन्ताचार्य द्वारा सम्पादित, सुदर्शन प्रेस, कांची, १९०४।

२४. चित्सुखी—पृ० ३५।

२५. यद्यद्दृश्यं तत्तदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति व्याप्तिरेष्टव्या। चित्सुखी, नयनप्रसादिनी व्याख्या—पृ० ३५।

भावप्रतियोगी कहा गया है।[२६] अन्य पट के अवयव तन्तुओं में एतत्तन्तुनिष्ठ पट का अत्यन्ताभाव तो रहता ही है, इसलिये 'एतत्' पद दिया गया है, अर्थात् रक्त पट के अवयव लाल तन्तु हैं, उन लाल तन्तुओं में नीलपट का अत्यन्ताभाव तो होगा ही। इसका अर्थ यह नहीं कि नीलपट उक्त कारण से मिथ्या होगा। नील पट के अवयव नील तन्तुओं में नीलपट का अत्यन्ताभाव हो, तो उक्त नीलपट मिथ्या होगा। लक्षण में तन्तु पद न देने पर भी अर्थान्तरतादोष होता।

इस अनुमान के विरोध में आक्षेप करते हुये प्रतिवादी का कहना है कि इस अनुमान में 'अनैकान्तिक' नामक हेत्वाभासदोष है।[२७] उक्त अनुमान में व्याप्ति का रूप है—"जहां-जहां दृश्यत्व है, वहां-वहां एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व होगा।" लक्षण में जो अभाव है वह एतत्तन्तुओं में इस पट का अत्यन्ताभाव है। और यह अत्यन्ताभाव दृश्यत्व है, अर्थात् दृश्यत्व एतत्तन्तुओं में पटात्यन्ताभाव में भी है, इसलिये दृश्यत्व हेतु के बल से पटात्यन्ताभाव को भी पटात्यन्ताभावाभाव का प्रतियोगी कहा जायेगा, अर्थात् अत्यन्ताभाव का अभाव हो जायेगा। ऐसा होने पर पटात्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी पट है, उसकी सत्वापत्ति होगी, क्योंकि अभावाभाव प्रतियोगी-सत्व की स्थापना करता है, अर्थात् अत्यन्ताभावात्यन्ताभावप्रतियोगीस्वरूप होगा। घट के अत्यन्ताभाव का अभाव प्रतियोगी घटस्वरूप होता है। यह सर्वजन विदित है, इसलिये उक्त अनुमान में दृश्यत्व हेतु साध्यसिद्धि में सहायक न होकर व्याघातक ही सिद्ध हुआ, अर्थात् दृश्यत्व हेतुमूल से अत्यन्ताभावप्रतियोगी की सत्ता सिद्ध होने लगी। इस प्रकार दृश्यत्व हेतु असद् हेतु अर्थात् हेत्वाभास सिद्ध हुआ। इस पर यदि अद्वैतवादी यह कहें कि एतत्तन्तुनिष्ठपटात्यन्ताभाव का अभाव नहीं होता, अर्थात् अत्यन्ताभाव में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व नहीं है, तब तो हेतु व्यभिचारी हो जायेगा। पटात्यन्ताभाव में दृश्यत्व है, परन्तु पटात्यन्ताभावाभाव रूप प्रति योगित्व नहीं है, अर्थात् हेतु है, साध्य नहीं है, इसलिये हेतु साध्यव्यभिचारी हुआ। और दृश्यत्व में भी दृश्यत्वरूप हेतु है, इसलिये दृश्यत्व में भी एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ता-भावप्रतियोगित्वरूप साध्य होना चाहिये। ऐसा होने पर अर्थ होगा कि एतत्तन्तुओं में दृश्यत्व का अभाव अर्थात् अदृश्यत्व है।[२८] एतत्तन्तु अदृश्य नहीं, यह सर्ववादि अभिमत है। दृश्यत्व हेतु अदृश्यत्व साध्य का व्यभिचारी होगा। इसी प्रसंग में और भी वक्तव्य यह है कि अद्वैतवादी जो विश्व-प्रपंच के मिथ्यात्व की व्याख्या करते हैं वह विश्व-प्रपंच प्रमाणसिद्ध है या नहीं? प्रपंच यदि प्रमाणसिद्ध है, तब तो पूर्वोक्त अनुमान द्वारा पट को पक्ष करके पट की मिथ्यात्वसिद्धि नहीं हो सकेगी। अनुमान

२६. प्रागभावप्रध्वंसाभावस्वीकारेणार्थान्तरता तदर्थमत्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्तम्। चित्सुखी, नयनप्रसादिनी—पृ० ३५

२७. तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावे दृश्यत्वहेतौ चानैकान्तिकत्वात्। चित्सुखी—पृ० ३५।

२८. चित्सुखी—पृ० ३५।

का धर्मी या विशेष्य पट यदि प्रमाणसिद्ध है, तब तो वही प्रपंच के मिथ्यात्वानुमान में बाध उपस्थित करेगा।[२९] इसी प्रकार अनुमान के साध्य, हेतु और दृष्टान्त यदि प्रमाणसिद्ध हैं, तब प्रमाणसिद्ध अर्थात् प्रामाणिक साध्य, हेतु, दृष्टान्तादि में दृश्यत्व के रहने के कारण, एवंच साध्य मिथ्यात्व के न रहने के कारण, हेतु साध्यव्यभिचारी होगा। सत्य वस्तु ही प्रामाणिक होती है। उस प्रामाणिक वस्तु में मिथ्यात्व कैसे रह सकता है? परन्तु दृश्यत्व है, अतः व्यभिचार है। यदि अनुमान के पक्ष को प्रमाणसिद्ध न माना जाय तब असिद्ध पक्ष को लेकर अनुमान कैसे प्रसरित होगा? अतः आश्रयासिद्धिदोष होगा। इसी प्रकार अनुमान के अवयव साध्य, हेतु और दृष्टान्त को भी प्रमाणसिद्ध न स्वीकार किया जाय, तब पूर्वोक्त प्रकार से साध्याप्रसिद्धि, हेतुअसिद्धि और दृष्टन्तासिद्धि आदि दोषों के कारण हेत्वाभास दोष होंगे। जिस अनुमान के अवयव अप्रामाणिक हों, उस अनुमान से किसी प्रकार प्रामाणिक ज्ञान हो ही नहीं सकता।

अद्वैतवादिप्रदर्शित मिथ्यात्वानुमान के विरोध में द्वैतवादी ने विविध हेत्वाभासादि दोष दिखाकर प्रतिपक्षानुमान की सहायता से जगत् की सत्यता प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। प्रतिपक्षानुमान—

विवादास्पदीभूतः प्रपंचः (पक्ष) सत्यः (साध्य) प्रमाणसिद्धत्वात् (हेतु) आत्मवत् (दृष्टान्त)।[३०]

अर्थात् विवादास्पद प्रपंच सत्य है, क्योंकि वह आत्म के समान प्रमाणसिद्ध है।

माध्वादि द्वैतवादी भी शुक्ति-रजत को मिथ्या स्वीकार करते हैं। शुक्ति रजतादि भी प्रपंच के अन्दर ही आ जाते हैं। इस अवस्था में केवल प्रपंच को पक्ष करने पर शुक्ति रजतादि में सत्यत्व न रहने के कारण अनुमान बाधहेत्वाभासग्रस्त होगा।[३१] घटादि में अनुगत सत्तांश को लेकर सिद्ध साधन दोष दिया जा सकता है। इन्हीं कारणों से पक्षविशेषण 'विवादास्पदीभूत' दिया गया है।[३२] इसका अर्थ यह हुआ कि जिन वस्तुओं के विषय में 'सत्य या मिथ्या', इस प्रकार वितर्क का अवकाश सम्भव है, उन्हीं वस्तुओं को ही पक्ष बनाना है, प्रपंच मात्र को नहीं। व्यावहारिक घटादि में प्रमाण सिद्धत्व हेतु है, अतः साध्य सत्यत्व भी होना चाहिए। दृष्टान्त

---

२९. किं च प्रपंचस्य प्रामाणिकत्वे मिथ्यात्वानुमानानांधर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधः।
वही।

३०. चित्सुखी—पृ० ३७।

३१. शुक्तिरूप्य संसर्गादौ बाधः स्यात्।
चित्सुखी, नयनप्रसादिनी—पृ० ३७।

३२. घटानुगत सत्तांशे सिद्धसाधनता
तन्निवृत्यर्थं विवादास्पदग्रहणम्।
वही।

आत्मा में हेतु प्रमाणसिद्धत्व और साध्य सत्यत्व दोनो हैं, अतः पक्ष में भी साध्य की सिद्धि में बाधा नहीं। इसी प्रपंच के अन्तर्गत भेद भी सत्य है। अद्वैत के अनुसार भेद मिथ्या है।भेद की सत्यता प्रतिपादन करने के लिए द्वैतवादी माध्व प्रभृति निम्न प्रकार से अनुमान प्रस्तुत करते हैं—

'अयं घटः (पक्ष) तन्निष्ठबाध्य भेदातिरिक्त भेदाश्रयः (साध्य) दृश्यत्वात् (हेतु) पटवत् (दृष्टान्त)।[33]

अर्थात् यह घट घटनिष्ठ बाध्यभेद से अतिरिक्त भेद का आश्रय है, क्योंकि यह पट के समान ही दृश्य है। इसी प्रकार अनुमान से वियदादि में भी परस्पर अबाध्य-भेद-सत्यभेदसिद्ध होता है। एक आत्मा से अन्य आत्मा का अबाध्य भेद भी इसी प्रकार अनुमानसिद्ध है। साध्य को केवल मात्र भेदाश्रयी कहते तो सिद्धान्ती के मतानुसार घटादि में कल्पित भेदाश्रयता को लेकर सिद्धसाधनता होती, इसलिये बाध्य भेदातिरिक्त भेदाश्रय कहा गया। बाध्य भेदातिरिक्त भेद हुआ अबाध्य भेद। वह कल्पित नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पित भेद बाध्यभेद ही होता है।[34] उक्त अबाध्यभेद का आश्रय घट है। अप्रसिद्ध विशेषणता दूर करने के लिये 'एतन्निष्ठ' पद दिया गया है। पटरूप दृष्टान्त में घटनिष्ठ बाध्यभेदभिन्न, अन्य अर्थात् अबाध्य भेद है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु में स्वातिरिक्त प्रतियोगिक भेद होता ही है। पट में दृश्यत्व भी है, अतः दृष्टान्त में हेतु एवं साध्य दोनो ही विद्यमान हैं। पक्ष में भी हेतु दृश्यत्व है, अतएव पक्ष में साध्य को भी अवश्य होना चाहिये, क्योंकि हेतु और साध्य की साहचर्यनियमव्याप्ति गृहीत है।[35]

उपरोक्त प्रकार से द्वैतवादी अनुमान प्रमाण के बल पर अद्वैतवादी के मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान करते हैं। द्वैतवादी न्यायामृतकार ने न्यायामृत में जगन्मिथ्यात्वानुमान में अनेकों दोष दिखाये हैं, साथ में द्वैत एवं भेद को सत्य भी सिद्ध किया है। द्वैतवादी के जगत्सत्यत्वानुमान का प्रत्याख्यान अद्वैतचार्यों ने जोरदार शब्दों से किया है। विशेषकर चित्सुखाचार्य एवं मधुसूदन सरस्वती ने उक्त अनुमान का युक्ति-तर्कों सहित प्रत्याख्यान किया है। मिथ्यात्वानुमानप्रकरण में उनके तर्कों का विश्लेषण पृथक्रूप से किया जायेगा।

आगम-प्रमाण-खण्डन

मिथ्यात्व में अनुमान प्रमाण के समान आगम प्रमाण भी नहीं है। आगम द्वारा

---

३३. चित्सुखी—पृ० ३७।

३४. बाध्यभेदातिरिक्तसत्यभेदसिद्धिः।
चित्सुखी : नयनप्रसादिनी—पृ० ३७।

३५. द्वैतवादी न्यायामृतकार ने 'न्यायामृत' के बिश्वसत्यत्वानुमान १। १९ में विश्व को सत्य सिद्ध करने के लिये अनेक अनुमानों का युक्ति और तर्कों सहित प्रदर्शन किया है।

प्रपंच की सत्यता की ही सिद्धि होती है । यदि अद्वैतवादी 'एकमेवाद्वितीयम्' 'सत्यंज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिओं को ही मिथ्यात्व में प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं तो यह संगत नहीं होगा, क्योंकि अद्वितीय श्रुति का अर्थ है—ब्रह्म अद्वितीय है, अर्थात् ब्रह्म के समान द्वितीय कोई भी पदार्थ नहीं है ।[36] अद्वैतवादी का यह अर्थ कि ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय वस्तु है ही नहीं, द्वैतवादी स्वीकार नहीं करते । जिस प्रकार 'इस ग्राम में यह व्यक्ति अद्वितीय है' इसका अर्थ उस ग्राम में अन्य द्वितीय व्यक्ति का अभाव नहीं, अपितु उक्त वाक्य का तात्पर्य है, उस ग्राम में उस व्यक्ति के समान और कोई व्यक्ति नहीं [37]; और व्यक्ति है ही नहीं, ऐसा अर्थ नहीं होता । इस स्थल में स्व-जातीय अर्थात् तत्समान अन्य का अभाव ही अभिप्रेत होता है, अन्यथा एक व्यक्ति के अद्वितीय कथन से ग्राम भर के सभी व्यक्तिओं के मिथ्यात्व का प्रसंग हो जायेगा । वस्तुतः बात यह है कि द्वैतवादी ब्रह्म के अतिरिक्त जीव, जगत् को भी सत्य मानते हैं । रामानुज के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त चित् और अचित् भी पदार्थ हैं, जो कि ईश्वर के गुण हैं, इसलिये वे मिथ्या नहीं हैं, इसी कारण एकमेवाद्वितीय श्रुति के अर्थ में वे स्वगत भेद को स्वीकार करते हैं ।[38] जिस प्रकार वृक्ष में शाखा-प्रशाखादि के स्वगत भेद होने पर भी वृक्ष समष्टि में एक है, उसी प्रकार विश्व में जीव जगत् के होने पर भी समष्टिरूप में ईश्वर एक है । शाखादि वृक्ष के अंग या अवयव हैं । अवयव व्यक्ति नहीं होते, अतः रामानुज के अनुसार ईश्वरजीवजगत्विशिष्ट है ।

माध्वादि के अनुसार भी ईश्वर स्वतन्त्र पदार्थ है । वह सर्वशक्तिमान सर्व प्रभु है । इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर के अतिरिक्त और पदार्थ हैं ही नहीं । ईश्वर के अतिरिक्त जीव-जगत् पृथक पदार्थ हैं, परन्तु जीव-जगत् ईश्वर के समान स्वतन्त्र नहीं हैं । ईश्वर इनका नियन्ता है । इस प्रकार विशिष्टाद्वैतवादी और द्वैतवादी 'एकमेवाद्वि-तीयम्' का अर्थ जीवजगत के अतिरिक्तत्व को बनाये रखते हुये करते हैं । इस दृष्टिकोण को समझाने में 'इसी ग्राम में यही एक अद्वितीय व्यक्ति है', दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर है । अनन्त पद के द्वारा अद्वैतवादी जो देशकृत, कालकृत एवं वस्तुकृत परिच्छेदाभाव की व्याख्या करते हैं—असंगत है । अद्वैतवादी अनन्त ब्रह्म को अन्योन्याभाव का अनधि-करण कहते हैं, ऐसा अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभाव अनधिकरण वस्तु असम्भव है । संसार की सभी वस्तुएं अन्योन्याभाव अधिकरण हैं । इसी प्रकार द्वैतवादी ब्रह्म को भी जीव-जगत् के साथ परस्पर अन्योन्याभावाधिकरण मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार जीव, जगत् सत्य पदार्थ हैं, इसलिये जीव ब्रह्म नहीं है, न ही जगत ही मिथ्या

---

३६. स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठात्रन्तरनिवारणेन विचित्रशक्तियोगप्रतिपादनपरत्वादद्वितीयपदस्य ।
श्रीभाष्य (प्रथम खण्ड) —पृ० १६२ । रामानुज,गव० आफइण्डिया, नई दिल्ली, १९६७ ।

३७. चित्सुखी—पृ० ३६ ।

३८. श्रीभाष्य श्रुतप्रकाशिका—पृ० १६२ ।

है, इसीलिये अनन्त पद का अर्थ है पूर्वकाल और परकालरूप अन्तद्वयरहित ।[३९] अनन्त पद का व्युत्पत्तिगत अर्थ यही होता है, इसलिये उक्त श्रुतिओं द्वारा जगतमिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती । 'नेह नानास्ति किंचन' इस श्रुति से अद्वैतवादी ब्रह्म भिन्न वस्तु का निषेध अर्थात् मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं । अद्वैतवादी का कहना है कि ब्रह्म के अतिरिक्त नानात्व का निषेध ही इस श्रुति का अर्थ है । इस पर द्वैतवादी का कहना है कि उक्त श्रुति द्वारा ब्रह्म में नानात्व का निषेध होता है, यह द्वैतवादी को भी स्वीकार है । ब्रह्म में नानात्व के निषेध का अर्थ है ब्रह्म नाना नहीं है, अपितु एक ब्रह्म है । इसका अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त और नानात्व है ही नहीं । ब्रह्म के अतिरिक्त नानात्व का निषेध श्रुति नहीं करती । इस कारण श्रुति से भी प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि नहीं होती ।[४०]

'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' इत्यादि श्रुति द्वारा नानात्व का निषेध होता है—ऐसा अद्वैतवादी का कहना है । अद्वैतवादी भेद-दर्शन का निषेध इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित करते हैं, परन्तु इस श्रुति का तात्पर्य भेद या नानात्व का अभाव सिद्ध करना नहीं, अपितु अभेदरूप से उपासना में इस श्रुति का तात्पर्य है,[४१] अर्थात् अभेदरूप से उपासना की स्तुति के लिये भेददर्शन की निन्दा की गयी है, और आगम प्रमाण से अभेद की सिद्धि होने पर भी प्रत्यक्षदृष्ट भेद या नानात्व का अपलाप नहीं हो सकता, क्योंकि सभी प्रमाणों में बलवान प्रत्यक्ष प्रमाण है । प्रत्यक्ष और श्रुति में विशेष विरोध उपस्थित होने पर द्वैतवादी नाना प्रकार की युक्तिओं से प्रत्यक्ष को ही बलवान स्वीकार करते हैं । द्वैतवादी का कहना है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण आगम-प्रमाण निरपेक्ष है, किन्तु आगम-प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण निरपेक्ष नहीं है । अन्य सभी प्रमाणों को प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा अवश्य रहती है । आगम-प्रमाण प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा रखता हुआ यदि प्रत्यक्ष का विरोध करेगा तो उपजीव्य-विरोध दोष होगा । प्रत्यक्ष उपजीव्य है, इसलिये आगमापेक्षा प्रत्यक्ष की बलवत्ता स्वीकार करनी होगी ।

प्रत्यक्ष में विरोध नहीं होता । सामने 'घटः' है, 'अयं घटः' या जो भी कहा जाय, इस विषय में प्रत्यक्षानुभूति सभी को समान ही होगी, किन्तु वेद-वाक्यों में परस्पर विरोध भी देखा जाता है । 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' विधान है, साथ में इसके विपरीत 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' वाक्य भी विहित है । कहीं पर ब्राह्मणो न हन्तव्यः' कहीं पर 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' ऐसा विधान देखा जाता है । कहीं पर 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' तो कहीं पर 'नाति रात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वेद-वाक्यों में परस्पर विरोध पाया जाता है ।[४२]

---

३९. चित्सुखी—पृ० ३६ ।
४०. कारणेब्रह्मणिनानात्वनिषेधपरत्वात् ।
वही ।
४१. वही—पृ० ३६. ३७ ।
४२. चित्सुखी—पृ० ३७ ।

प्रत्यक्ष और आगम में विरोध होने पर आगम का गौण अर्थ भी किया जा सकता है, किन्तु प्रत्यक्ष का तो गौण अर्थ नहीं किया जा सकता। यदि प्रत्यक्ष बाधित होगा तो प्रत्यक्ष निरर्थक हो जायेगा, किन्तु प्रत्यक्ष द्वारा आगम बाधित होने पर उसको गौणार्थ में चरितार्थ किया जा सकता है, इसलिये निरवकाश प्रत्यक्ष ही सावकाश आगमापेक्षा बलवान होगा। श्रुति प्रमाण द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती अपितु 'मृत्तिकेत्येवसत्यम............विश्व सत्यम्, सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादि श्रुति द्वारा विश्व की सत्यत्वसिद्धि होती है।[४३]

यहां पर पूर्वपक्ष का विचार संक्षेप में ही किया गया। चतुर्थ अध्याय में तत्तत्प्रसंगों में सिद्धान्त पक्ष के साथ-साथ पूर्वपक्ष का भी विस्तृत विचार किया जायेगा।

——

४३. न्यायामृत—पृ० १५५।

४

मिथ्यात्वनिरूपण तत्वमीमांसीय दृष्टि से मिथ्यात्व लक्षण (सिद्धान्तपक्ष)

मिथ्यात्व का प्रथम लक्षण :—(पंचपादिकाकार का मत)

आचार्य शंकर के 'अध्यासोमिथ्येति भवितुं युक्तम्'[1] इस वचन को आधार मान कर ही पद्मपादाचार्य ने पंचपादिका में कहा है 'मिथ्या शब्दो द्वयर्थः अपह्नववचनो ऽनिर्वचनीयतावचनश्च'[2] अर्थात् मिथ्या शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—अपह्नववचन, क्योंकि मिथ्या शब्द का लोक में अपह्नव अर्थ में भी प्रयोग देखा जाता है, तथा अनिर्वचनीयतावचन अर्थात् सदसदादि रूपों से अकथनीय । यहां पर मिथ्या शब्द का अर्थ अनिर्वचनीयता ही है, 'मिथ्येत्यनिर्वचनीयतोच्यते'[3] अतः मिथ्यात्व का लक्षण हुआ सदसदनधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व, अर्थात् सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, सदसद्रूप भी नहीं, तीनों प्रकारों से विलक्षण । जो सद्रूप से असद्रूप से और सदसद् उभयरूप से भी कथनीय नहीं, वही अनिर्वचनीयरूप मिथ्या है । नृसिंहाश्रम ने वेदान्त-तत्त्व-विवेक में पंचपादिका का यह लक्षण उद्धृत किया है, और उन्होंने 'सदन्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्' अनिर्वचनीयत्व का लक्षण किया है । तुच्छ आकाश कुसुमादि में अन्यत्वादि धर्म भी सम्भव नहीं हैं, अतः तुच्छ में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, अन्यत्वादि धर्म तुच्छ में मानने पर तो वह भी प्रपंच के ही अन्तर्गत होगा । दूसरी बात यह है कि तुच्छ तो निःस्वरूप है ।[4]

अब शंका हो सकती है कि अनिर्वचनीयत्वरूप से तो फिर भी निर्वचनीय हो ही रहा है ? इसके उत्तर में अद्वैतवादियों का कहना है कि निरुक्तिविरहता मात्र को तो हम अनिर्वचनीय नहीं कहते, अपितु सत्वासत्व उभयरूप से निरुक्तिविरहता ही अनिर्वचनीय है ।[5]

पंचपादिका का यह लक्षण चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका में पंचम लक्षण के रूप में उपन्यस्त किया है ।[6] उक्त सदसदनधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व अप्रसिद्ध

---

१. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य भूमिका पृ० १५ ।
२. पंचपादिका पृ० ६७, ६८ । कलकत्ता संस्करण सं० अनन्तकृष्ण शास्त्री, १९३३ ।
३. वही पृ० ८८ । ,, ,, ,, ,, ,, ।
४: वेदान्ततत्वविवेक पृ० १६८ ।
५. न हि निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्वाच्यत्वं ब्रूमः किन्तु सत्वादिना निरुक्तिविरहेण— अद्वैतसिद्धि पृ० ४७३ ।
६. सदसद्विलक्षणत्वे वा । चित्सुखी पृ० ३३ ।

है, ऐसा आक्षेप द्वैतवादी न्यायामृतकार ने किया है और उक्त सदसदनधिकरणत्वरूप साध्य के तीन विकल्प करके तीनों में अर्थान्तरतादि दोष प्रदर्शित किये हैं।[७] उक्त तीन विकल्पों में से द्वितीय 'सत्वात्यन्ताभावासत्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वय' विकल्प को मान लेने पर पूर्वोक्त दोषों की सम्भावना नहीं हैं।[८] अप्रसिद्धि विशेषणता अर्थात् साध्याप्रसिद्धि की आपत्तिनिरसन के लिये अनुमान प्रयोग से सामान्यतया साध्य की प्रसिद्धि की जाती है, यथा सत्व और असत्व एतदुभय धर्मों का किसी एक धर्मी में अभाव अवश्य होगा, धर्मी होने से, रूपरस के समान, जैसे रूप और रस पृथ्वी और जल के धर्म हैं और इन दोनों का अभाव वायु में सिद्ध है। रूप और रस में धर्मत्व-रूप हेतु है, तथाच एकधर्मी वायु में रूप और रस का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार अनुमान के अंग-हेतु, साध्य और हेतु एवं साध्य की व्याप्ति भी प्रसिद्ध हैं। पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष है सदसत्व। उसमें हेतु धर्मत्व सिद्ध ही है अर्थात् हेतु की पक्ष-वृत्तिता सिद्ध हुई, अतः अनुमान बल से सत्वासत्व धर्मों का अत्यन्ताभाव किसी एक धर्मी में अवश्य होगा। इस प्रकार सत्वासत्वानधिकरणत्वरूप साध्य सामान्यतः सिद्ध होने पर साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं दिया जा सकता।

इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि रूप और रस का अभाव वायु में है, यह हमें भी स्वीकार्य है, परन्तु सत्व और असत्व दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, इसलिए एक के अभाव से दूसरे का भाव और एक के भाव से दूसरे का अभाव अवश्य होगा। जो सत् न होगा, वह असत् होगा और जो सत् होगा, वह असत् न होगा, क्योंकि मध्व के मत में बाध्यत्व ही असत्व है और अबाध्यत्व सत्व। शुक्ति-रजतादि बाध्य होने के कारण अत्यन्तासत् हैं। उनके अनुसार प्रपंच परिणामी तो है ही, परन्तु वह मिथ्या नहीं है। प्रपंच सत्य है, परन्तु वह परिणामी सत्य है। इस प्रकार माध्वादि के अनुसार अत्यन्तबाध कभी नहीं होता, अतएव शुक्तिरजत के समान बाध्य न होने के कारण प्रपंच भी सत्य है। शुक्तिरजत इस मत के अनुसार आकाशकुसुम के समान अलीक है। इस मत में सत्वासत्व के बीच में प्रातीतिक सत्व स्वीकार्य नहीं है, अतएव सत्वासत्वानधिकरणत्वरूपमिथ्यात्व मानने पर भी व्यहति है ही। इस आशंका के के उत्तर में अद्वैतवादी पूर्वपक्षी से यह पूछते हैं, कि व्यहति के हेतु क्या हैं? अर्थात् वह व्याघात सत्वासत्व के परस्परविरहरूपतया, परस्परविरहव्यापकतया अथवा परस्परविरहव्याप्यतया है?[९] लघुचन्द्रिकाकार ने उक्त तीन विकल्पों के दो-दो विभाजन करके छः विकल्प प्रस्तुत किये हैं— १–सत्वका अभावरूप असत्व २–असत्व का अभावरूप सत्व ३–सत्व अभाव असत्व का व्यापक ४–असत्व का अभाव सत्व का व्यापक ५–सत्व का अभाव असत्व का व्याप्य तथा ६–असत्व का अभाव सत्व का

७. सत्वे सत्यसत्वरूपविशिष्टस्याभावोऽभिप्रेतः। किंवासत्वात्यन्ताभावासत्वात्यन्ताभावरूपधर्मद्वयम्। यद्वासत्वात्यन्ताभावत्वेसति असत्वात्यन्ताभाववत्वरूपं विशिष्टम्। न्यायामृत पृ० २२।

८. अद्वैतसिद्धि पृ० ५०।

९. अद्वैतसिद्धि पृ० ५०।

व्याप्य ।[१०] इस प्रकार व्याघात में छः प्रकार प्रतिकूल तर्क हेतु हो सकते हैं । सिद्धान्ती का उत्तर यह है कि व्याघात के हेतुभूत प्रथम दो प्रतिकूल तर्क हमारे प्रति अनिष्टकारक नहीं हैं, क्योंकि अद्वैतवादी सत्व-असत्व दोनों को परस्पर विरह रूप नहीं मानते । अद्वैतमत में यह नियम नहीं है कि कोई पदार्थ सत् नहीं है तो असत् हो जाये, या असत् नहीं है तो सत् हो जाये । ऐसा भी पदार्थ सम्भव है जोकि सदसद् अनुभयरूप हो, क्योंकि सिद्धान्तपक्ष में त्रिकालाबाध्यत्वरूप ही सत्व है । एवंभूत सत्व का अत्यन्ताभाव ही असत्व है, ऐसी बात नहीं । असत्व का स्वरूप है— 'जो किसी भी धर्मी में सत्वरूप से प्रतीत न हो' ।[११] जो भ्रमरूप से, प्रमारूप से किसी भी प्रकार किसी भी उपाधि में प्रतीति का विषय न हो, वही प्रतीयमानत्वानधिकरण शब्द से विवक्षित है । आकाशकुसुमादि कभी भी, किसी भी प्रकार से प्रतीति के विषय नहीं बनते । 'यह आकाशकुसुम सुरभियुक्त है' 'यह बन्ध्यापुत्र जाता है' इत्याकारक अनुभव, भ्रम से, प्रमा से, किसी भी प्रकार से नहीं होते । घटादि पदार्थ प्रतीयमान होते हैं, परन्तु किसी भी वस्तु की प्रतीति मात्र से ही वस्तु सत् नहीं बन जाती, क्योंकि प्रतीति भ्रमवशात् भी होती है । वस्तुतः त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत् एकमात्र ब्रह्म ही है । असत्व के लक्षण में 'क्वचिदप्युपाधौ' पद गुरुत्वादि में अतिव्याप्तिवारण के लिये दिया गया है, क्योंकि गुरुत्व भी निरुपाधिक स्वयं प्रतीति का विषय नही बनता । 'गुरुत्वं सत्' ऐसा अनुमान भी गुरुत्व की सिद्धि में असमर्थ है, क्योंकि अनुमान का पक्ष गुरुत्व ही असिद्ध है, अतः घटादि उपाधि में अर्थात् आश्रय में आश्रितरूप से गुरुत्व का अनुमान करना होगा । 'घटगुरुत्वं सत्' ऐसा अनुमान घटाश्रय को लेकर किया जा सकता है । उपाधि पद के देने से और घटरूप उपाधि में गुरुत्व की प्रतीति होने से गुरुत्व में असत्वलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हुई,[१२] क्योंकि असत् किसी भी प्रकार उपाधि में भी प्रतीति का विषय नहीं होता । निरुपाधिक प्रतीति का विषय तो बनता ही नहीं । घटादि अपने आप में सद्रूप से प्रतीत होने का सामर्थ्य नहीं रखते, अतः सद्रूप ब्रह्म में तादात्म्यतया अध्यस्त होकर ही घटादि 'घट है', 'वस्त्र है' इत्यादि रूपों से सद्रूपेण प्रतीत होते हैं ।[१३] शुक्ति-रजत के समान ब्रह्मज्ञानरूप बाधकज्ञान से घटादि अज्ञानकार्य बाधित हो जाते हैं । इस कारण अर्थात् बाधित होने से और प्रतीयमान होने से घटादि सदसदनधिकरणत्वरूपेण मिथ्या हैं, अतः सत्वासत्व धर्मों को परस्परविरहरूप न स्वीकार करने के कारण पूर्वोक्त व्याघातदोष नहीं दिया जा सकता ।

---

१०. लघुचन्द्रिका पृ० ५० ।

११. त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्वव्यतिरेको नासत्वम् किन्तु क्वचिदप्युपाधौ सत्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वम् । अद्वैतसिद्धि—पृ० ५० तथा ५१ ।

१२. लघुचन्द्रिका—पृ० ५१

१३. घटादयः स्वानुगतप्रतिभासे वस्तुनि कल्पिताः विभक्तत्वात् ।
अद्वैतसिद्धि—पृ० ३१६ ।

इसी प्रकार सत्वासत्व दोनों की परस्परविरहव्यापकता भी स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि दोनों परस्परविरहव्यापक होने पर असत्व यदि सत्वाभाव का व्यापक हो तब तो सत्वाभाव जहाँ पर होगा, असत्व वहाँ पर होगा ही, और यदि असत्वाभाव का व्यापक सत्व होगा तब जहाँ पर असत्व का अभाव होगा वहाँ पर सत्व होगा ही, परन्तु पूर्वोक्त असत्व के लक्षण द्वारा और शुक्ति-रजतादि में प्रत्यक्ष द्वारा 'सत्वाभाव-व्यापकमसत्वं असत्वाभावव्यापकंसत्वं' यह व्याप्ति व्यभिचारिणी सिद्ध हो चुकी है। शुक्ति-रजत में सत्वाभाव है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्व शुक्ति-रजत में नहीं है। वह शुक्ति-ज्ञान द्वारा बाधित होता है। अथच शुक्ति-रजत को असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् का पूर्वोक्त लक्षण 'किसी भी उपाधि में प्रतीयमानत्वानधिकरणत्व', उसमें नहीं है। शुक्ति-रजत अथवा रज्जु-सर्प स्वाधिकरण में—शुक्ति आदि में प्रतीयमान होते हैं, इसलिए आकाशकुसुमादि के समान शुक्ति-रजत की सत्ता को उड़ाया नहीं जा सकता। प्रतीतिकालिक सत्ता तो उसकी माननी ही होगी। अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि 'सत्वाभाववति शुक्तिरूप्ये विवक्षितासत्वव्यतिरेकस्य विद्यमानत्वेन व्यभिचारात्'।[१४] इसी प्रकार सत्व भी असत्वाभाव का व्यापक नहीं है, शुक्ति-रजत में असत्वाभाव होने पर भी सत्व नहीं है, अतएव सत्वासत्व का परस्परविरहव्यापकतया भी व्याघात दोष नहीं दिया जा सकता।

सत्व और असत्व की परस्परविरहव्याप्यतया जो व्याघातदोष दिया गया था, वह भी असमीचीन है, क्योंकि पारस्परिक विरहव्याप्यता व्याघात का प्रयोजक नहीं है।[१५] गोत्व और अश्वत्व परस्पर अभाव के व्याप्य होते हुए भी उन दोनों का अभाव एक उष्ट्रादि धर्मी में है। गोत्वधर्म गौ में रहता है; अश्वत्व धर्म का गौ में अभाव है, क्योंकि अश्वत्व तो अश्व में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इसी प्रकार अश्वत्व अश्व में रहता है, गोत्व धर्म का अश्व में अभाव है, क्योंकि गोत्व गौ में ही रह सकता है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार गोत्व और अश्वत्व परस्पर के विरह-व्याप्य हुये। ऐसा होने पर भी दोनों धर्मों का अभाव जैसे उष्ट्रादि धर्मी में सम्भव है, उसी प्रकार सत्व और असत्व धर्म परस्पर-परस्पर के अभाव के व्याप्य होकर भी एक प्रपंचरूप धर्मी में दोनों का अत्यन्ताभाव सम्भव हो सकता है,[१६] अत: जिन दो धर्मों का अत्यन्ताभाव एक धर्मी में विद्यमान रहता है, तादृशधर्मद्वय परस्पर अभाव के व्याप्य नहीं हो सकते, ऐसा कथन असमीचीन है, अतएव तृतीय विकल्प के प्रतिकूल तर्कद्वय भी व्याघातदोष उपपादन में असमर्थ हैं।

अर्थान्तरदोषनिरास—

पूर्वपक्ष का अभिप्राय है कि जिस प्रकार निर्धर्मक ब्रह्म में सत्व और असत्व

---

१४. अद्वैतसिद्धि पृ० ५१ तथा ५२।

१५. तस्य व्याघाताप्रयोजकत्वात्— अद्वैतसिद्धि पृ० ५२।

१६. अद्वैतसिद्धि—पृ० ५२, ५५।

धर्म न रहने पर भी ब्रह्म सद्रूप हो सकता है, उसी प्रकार प्रपंचरूप धर्मी में भी सत्व और असत्व धर्म न रहने पर भी प्रपंच सद्रूप हो सकता है।[१७] सिद्धान्ती प्रपंच में मिथ्यात्वसिद्धि करना चाहते थे, किन्तु मिथ्यात्वविरोधी, सद्रूपत्व में ही उनका अनुमान पर्यवसित हुआ। उद्देश्य था मिथ्यात्वसिद्धि और सिद्ध हुआ ब्रह्म के समान प्रपंच का भी सत्यत्व। यही अर्थान्तर कहलाता है। उद्देश्य भिन्न अर्थसिद्धि को अर्थान्तर कहते हैं। इसका समाधान सिद्धान्ती इस रूप में करते हैं कि प्रपंच जो ब्रह्म के समान सद्रूप होगा उसमें प्रमाण क्या है? पूर्वपक्षी का कहना है 'घटः सन्' घट है, इत्यादि प्रत्यक्ष ही प्रपंच की सद्रूपता में प्रमाण है। सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि प्रपंचान्तर्गत प्रत्येक वस्तु की सद्रूपता की कल्पना करने की अपेक्षा सर्वप्रपंचानुगत एक ब्रह्म की सद्रूपता की कल्पना करना लाघव होगा और सद्रूप ब्रह्म के घटादि वस्तुओं में अनुगत होने से घटादि वस्तुयें भी सद्रूप से प्रतीत होती हैं। इसमें 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'इदम् सर्वम् यदयमात्मा', ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियां भी चरितार्थ होती हैं। प्रपंच की सद्रूपता के लिये तत्तत् वस्तुओं को सद्रूप मानने पर अनन्त सद्रूपता कल्पनारूप महागौरव दोष होगा। एक मात्र ब्रह्म की सद्रूपताकल्पना से व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है। इस प्रकार लाघव ही प्रपंच सद्रूपताकल्पना में बाधक है, अतः अर्थान्तरताकल्पना समीचीन नहीं है।[१८] ब्रह्म की सद्रूपता प्रमित है, भ्रान्ति नहीं, और प्रपच की सद्रूपता की प्रतीति भ्रमयुक्त है, अर्थात् सद्तादात्म्याध्यास के कारण है। 'घटः सन्, पटः सन्' इत्यादि समस्त सदाकार बुद्धिओं में सद्रूप ब्रह्म ही तादात्म्यसम्बन्ध से विशेषणतया भासमान होता है। अधिष्ठानभूत सद्रूप ब्रह्म में समस्त प्रपंच तादात्म्यसम्बन्ध से आरोपित है, और उसी अधिष्ठान की सत्ता से प्रपंच भी सद्रूप सा प्रतीत होने लगता है, अन्यथा आरोपित प्रपंच की सत्ता है ही नहीं।[१९] 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रपंच की सद्रूपता की सिद्धि में जो उपन्यस्त किया गया है, वह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि का व्यावहारिक प्रामाण्य ही स्वीकार किया गया है और श्रुति का तात्विक प्रामाण्य।

इसी प्रकार तार्किक मत में सत्ता-जाति-प्रयुक्त प्रपंच में सद्रूपता का आक्षेप भी युक्त नहीं है, क्योंकि सत्ताजाति स्वयं सत्ताशून्य है, फिर वह प्रपंच को सद्रूप कैसे बना सकती है? परपक्षगिरिबज्रकार निम्बार्क प० माधवमुकुन्द का आक्षेप कि 'ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण उसमें सत्वासत्व दोनों धर्मों का अभाव होगा, अतएव ब्रह्म में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति होगी,[२०] समीचीन नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अद्वैत के अनु-

---

१७. निर्धर्मकब्रह्मवत्सत्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेनामिथ्यात्वोपपत्यार्थान्तराच्च। न्यायामृत—पृ० २४।

१८. अद्वैतसिद्धि—सिद्धि व्याख्या—पृ० ५५।

१९. आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता अधिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण—विवेक चूड़ामणि—पृ० २३७। शंकराचार्य, गीता प्रेस, २०१० सं०।

२०. परपक्षगिरिबज्र—पृ० ११६।

सार सत्वस्वरूप है न कि सत्वधर्मवाला। सत्वधर्म न रहने पर भी स्वरूपेण वह सत् है, इसलिए वह असत् नहीं है, अतः अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता।

अस्तु पूर्वोक्त लक्षण में अर्थान्तरता की आपत्ति है, यह 'तुष्यतु दुर्जनः' इस न्याय से मान भी लिया जाय तो भी 'सत् प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिक जो भेद तादृग भेदद्वय को साध्य करने पर किसी प्रकार से भी अर्थान्तरता का अवकाश नही है।[२१] द्वैतवाद के मत में प्रपंच में असद्व्यतिरेकांश को लेकर तथा असद् भेद प्रपंच में सिद्ध ही है, ऐसा मानकर अंशतः सिद्धसाधन दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि सत्प्रतियोगिकभेद अथवा असत् प्रतियोगिकभेद उद्देश्य नहीं है, अपितु उभयप्रतियोगिक भेद, ऐसा मिलित रूप से प्रतीति ही उद्देश्य है, और मिलित रूप से उद्देश्यप्रतीति का उदाहरण भी जयतीर्थाचार्य ने प्रमाणपद्धति में दिया है। 'गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वात्'[२२] इस प्रयोग में तार्किक मत में गुणादिकों का गुण्यादि से भिन्नत्व सिद्ध होने पर भी भिन्नाभिन्नत्वरूप मिलितरूप से असिद्ध मान कर ही उक्त न्याय-प्रयोग किया गया है। उक्त न्यायप्रयोग में मिलित उद्देश्य में जिस प्रकार अंशतः सिद्ध-साधन नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत में भी नहीं है।[२३]

इसी प्रकार शुक्ति-रजत दृष्टान्त में साध्य-वैकल्प दोष भी नहीं है, क्योंकि किसी भी उपाधि में सत्वेन अप्रतीयमानत्व ही असत्व है। एवंरूप असत्व शुक्तिरजत में नहीं है। शुक्ति-रजत की प्रतीति भ्रमकालिक सर्वलोकविदित है। शुक्तिज्ञान से बाधित होने के कारण शुक्ति-रजत में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्व नहीं है, अतः सत्व और असत्व का अभावरूप साध्य शुक्ति-रजत में रहने से उक्त दोष नहीं हुआ,[२४] अतएव सदसत्वानाधिकरणत्वअनिर्वचनीयत्वमिथ्यात्व साध्य के तृतीय विकल्प 'सत्वात्यन्ताभाववत्वे सति असत्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टम्,' स्वीकार करने पर भी पूर्वोक्त अर्थान्तरादि दोष नहीं हैं।[२५] साध्याप्रसिद्धि को लेकर अप्रसिद्धविशेषणतादोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि शुक्ति रूप्य में साध्य की प्रसिद्धि की जा चुकी है, अतएव पंचपादिकोक्त सदसत्वानधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व मिथ्यात्वलक्षण निर्दोष सिद्ध हुआ।

मिथ्यात्व का द्वितीय लक्षण (विवरणकार प्रकाशात्मयति के अनुसार):—

पंचपादिका विवरणकार प्रकाशात्मयति ने 'प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव मिथ्यात्वं नाम',[२५] इस प्रकार मिथ्यात्व का लक्षण किया है। अद्वैत सिद्धिकार ने

---

२१. अद्वैतसिद्धि—पृ० ५७।

२२. वही—पृ० ५६–७८।

२३. मिलितप्रतीतेरुद्देश्यत्वान्नसिद्धसाधनम्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० ७८।

२४. एवं च सति न शुक्तिरूप्ये साध्यवैकल्यमपि।
अद्वैतसिद्धि—पृ० ५१।

२५. अद्वैतसिद्धि—पृ० ७६।

२५अ. पंचपादिका विवरण—पृ० २१२ (कलकत्ता संस्करण)

लक्षण को और स्पष्ट करने के लिये लक्षणस्थ अभाव पद के स्थान में 'त्रैकालिक निषेध' शब्द का प्रयोग किया है।[२६] विवरणकार ने 'नेह नानास्ति' इस श्रुति का अनुसरण करते हुए यह लक्षण प्रस्तुत किया है। लक्षण का अर्थ है 'प्रतियोगी के आधाररूप से प्रतीत जो अधिकरण, एवंभूत अधिकरण में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है'। इस लक्षण में स्वाश्रय रूप से अभिमत अर्थात् 'प्रतिपन्नोपाधौ' इस पद के ग्रहण होने से आकाश कुसुमादि में मिथ्यात्व लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।[२७] आकाशकुसुम या शशविषाण अलीक पदार्थ है। अलीक पदार्थ की प्रतीति किसी भी आधार में नहीं होती। ब्रह्म में भी लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है। ब्रह्म सकल पदार्थों का अधिष्ठान है, परन्तु ब्रह्म का कोई अधिष्ठान नहीं है, वह निरधिष्ठान है। आकाशादि प्रपंच लक्षण का लक्ष्य है। उसमें लक्षण जाता है, क्योंकि अद्वैत मत में आकाशादि सभी प्रपंच सद्ब्रह्माश्रित हैं, अतएव आकाशादि प्रपंच अन्याश्रित होने के कारण मिथ्या हैं। प्रकाशात्मयति द्वारा प्रदर्शित इस लक्षण में 'प्रतिपन्नोपाधि' पद के द्वारा प्रतिपत्ति अर्थात् ज्ञान की बात कही गई है। यह प्रतिपत्ति यथार्थरूप प्रतिपत्ति या भ्रान्तिरूप ? यदि प्रतिपत्ति यथार्थरूप है अर्थात् स्वाश्रय में वस्तुतः वह है, तब तो उस वस्तु का उस आधार में अत्यन्ताभाव असंभव हो जायेगा, अतएव वह वस्तु त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी कैसे होगी ? और प्रतिपत्ति को मिथ्या अर्थात् भ्रान्तिरूप प्रतिपत्ति स्वीकार करने पर लक्षण में सिद्धसाधनतादोष होगा, क्योंकि जहां जो वस्तु नहीं है वहाँ पर उस वस्तु का अत्यन्ताभाव तो प्रतिवादी को भी स्वीकार है। लक्षण में कुछ नई बात तो रही नहीं ? इस आक्षेप के निराकरण के लिये कहना होगा कि उक्त मिथ्यात्व लक्षण में प्रतिपन्नोपाधि पद द्वारा विवक्षित प्रतिपत्ति न भ्रमरूप है और न प्रमारूप है, अपितु भ्रमप्रमा साधारणी प्रतिपत्ति ही विवक्षित है न कि किसी प्रकार विशेष प्रतिपत्ति। 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' इस अनुमान में हेतु धूम, पर्वतीय अथवा महानसीय, इस प्रकार किसी विशेष धूम को हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों पक्ष ही दोषयुक्त हैं। पर्वतीय धूम को यदि हेतु मान लिया जाय तब महानस दृष्टान्त में पर्वतीय धूम के अभाव होने के कारण दृष्टान्त साध्यविकल होगा, और महानसीय धूम को हेतु लेने पर पक्षभूत पर्वत में महानसीय धूम के न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास होगा, अतएव सामान्य धूम को हेतु लिया जाता है, न कि महानसीय या पर्वतीय आदि विशेषरूप धूम को। इसी प्रकार प्रकृत लक्षण में प्रतिपत्ति से भ्रम-प्रमासामान्य प्रतिपत्ति ली जायेगी, भ्रान्तिरूप या प्रमारूप नहीं।

पुनश्च शंका हो सकती है कि प्रतिपत्ति पद से यहाँ पर सामान्य प्रतिपत्ति का ग्रहण किया गया है न कि भ्रम या प्रमारूप विशेष, इस पर भी सिद्धसाधनता

---

२६. प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० ९४।

२७. शशविषाणाद्यसद् व्यावृत्यर्थं प्रतिपन्नत्वमुपाधिविशेषणम्। लघुचन्द्रिका पर विट्ठलेशोपाध्यायी टीका पृ० ९४।

दोष तो रहेगा ही, क्योंकि अन्यथाख्यातिवादी[२८] नैयायिक के मत में शुक्ति रजत विभ्रम स्थल में अन्यत्र स्थित (आपणस्थ) रजत की ही ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष के द्वारा शुक्ति रजत के रूप में प्रतीति होती है और बाधबुद्धि के द्वारा शुक्ति में 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है, इस प्रकार रजतत्व का बाध होता है । शुक्ति में उनके मत में भी रजत तो मिथ्या ही है । अन्यत्र आपण में सत्य रजत है, इसलिए शुक्ति में स्थित मिथ्या रजत अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है । उसका बाध होता है, यह तो नैयायिक को भी स्वीकार है, अतः सिद्धसाधनता दुर्वार है । इस के उत्तर में अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि केवल मात्र 'प्रतिपन्नोपाधौ' न कहकर सर्वस्मिन् प्रतिपन्नोपाधौ,[२९] ऐसा कहना होगा और ऐसा कहने पर सिद्धसाधन दोष नहीं हो सकेगा, क्योंकि आपणस्थ रजत प्रतिवादी के मत में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं है । 'सर्वस्मिन्' विशेषण पद के द्वारा रजत के सभी आश्रय लिये जायेंगे, और वेदान्ती के मत में आपणस्थ रजत भी तदाश्रय में प्रतिपन्न होने के कारण अत्यन्ताभाव प्रतियोगितया मिथ्या है । परमार्थतः प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सभी प्रकार रजत प्रतिपन्नोपाधि में होने के कारण मिथ्या हैं ।

पुनश्च शंका है—कि लक्षण में त्रैकालिक निषेध या अत्यन्ताभाव कहा गया है, वह त्रैकालिक निषेध तात्विक है या अतात्विक ? अतात्विक में भी प्रातिभासिक या व्यावहारिक ? निषेध यदि तात्विक है और ब्रह्म भी तात्विक है तब तो अद्वैतवाद में दो तात्विक पदार्थ हुए— (१) तात्विक निषेध, (२) ब्रह्म । इस प्रकार अद्वैतवाद दो पदार्थों को सत्य मानने पर द्वैतवाद बन जायेगा, अतः अद्वैत की हानि हुई ।[३०]

निषेध को अतात्विक मानेंगे तो वह प्रातिभासिक या व्यावहारिकरूप होगा ? प्रथम पक्ष में अर्थात् अतात्विक निषेध को प्रातिभासिक मानने पर सिद्ध-साधन दोष होगा, क्योंकि जो प्रातिभासिक प्रपंच-निषेध है वह तत्प्रतियोगित्व प्रपंच के सत्यत्व का विरोधी नहीं है । प्रपंच का सत्यत्व तो प्रतिवादी के मत में सिद्ध ही है । उसी की साधना प्रतिवादी को तो इष्ट ही है ।[३१] अतात्विक निषेध को प्रातिभासिक स्वीकार करने पर अर्थान्तरता भी है, जिस प्रकार 'घटवत् भूतलम्' में घट प्रतियोगिक निषेध प्रातिभासिक होता है और वह दोषप्रयुक्त होता है, उसी प्रकार प्रपंच विशिष्ट ब्रह्म में प्रपंच प्रतियोगिक प्रातिभासिक निषेध भी आगन्तुक दोषप्रयुक्तभानरूप अध्यास ही सिद्ध होगा । सिद्धान्ती के मत में अध्यासरूप निषेध का प्रतियोगित्व प्रपंच में सिद्ध करने पर भी सिद्धान्तिअभिमत प्रतियोगी प्रपंच का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा । इस

---

२८. इसी ग्रन्थ में अन्यथाख्याति—द्रष्टव्य

२९. सर्वत्र प्रतिपन्नोपाधौ प्रतिपत्तिविषयीभूत-त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वस्य विवक्षितत्वात् । अ० सि० सिद्धि व्याख्या—पृ० ९४
बलभद्र, निर्णय सागर, १९१७ ।

३०. त्रैकालिकनिषेधस्य तात्विकत्वे अद्वैतहानिः । अद्वैतसिद्धि । पृ० ९४, ९५ ।

३१. प्रतिभासिकत्वे सिद्धसाधनात् । न्यायामृत श्री निवासीय सहित—पृ० २६ ।

प्रकार सिद्धान्ती के प्रपंच मिथ्यात्वानुमान में प्रपंचसत्यत्ववादी सिद्धसाधन और अर्थान्तर दोनों ही दोषों का उद्भावन कर सकते हैं।[३२]

प्रपंच निषेध को व्यावहारिक मान लेने पर भी अद्वैतवादी दोषमुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि व्यावहारिक निषेध, व्यावहारिक प्रपंच के समान ब्रह्मज्ञानबाध्य है। व्यावहारिक प्रपंच सभी दृश्य हैं एवं दृश्यत्वेन मिथ्या हैं। इस प्रकार व्यावहारिक निषेध प्रपंच की तात्विक सत्ता का विरोधी नहीं है। प्रपंच की तात्विकता बनी ही रहेगी, तथा च अर्थान्तर दोष होगा।[३३] अद्वैतमत में प्रतियोगी और निषेध के समसत्ताकत्व होने पर ही विरोध होगा, अधिकसत्ताकप्रतियोगी का न्यूनसत्ताकनिषेध प्रतियोगी का विरोधी नहीं।[३४] विरोधिताप्रयुक्त व्यावहारिक प्रतियोगी के अधिकरण में व्यावहारिक निषेध नहीं रह सकता, अतः निषेध को जब व्यावहारिक कहा गया तब प्रतियोगी प्रपंच पारमार्थिकसत्तायुक्त होगा। त्रैकालिक निषेध को व्यावहारिक मानने पर अन्य दोष भी हैं। 'नेह नानाऽस्तिकिंचन' इत्यादि श्रुति प्रपंच के मित्यात्व का प्रतिपादन करती है। यदि अद्वैतवादी श्रुति द्वारा प्रतिपादित प्रपंचनिषेध को व्यावहारिक निषेध कहेंगे तब व्यावहारिक अर्थात् मिथ्याभूतनिषेध का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का प्रामाण्य नहीं रह जायेगा। श्रुति का प्रामाण्य तत्वावेदकत्वेन माना जाता है। निषेध ब्रह्मज्ञान बाध्य है, इस कारण तात्विक नहीं और अतात्विक निषेध का कथन करती हुई श्रुति भी अप्रामाणिक हो जायेगी।[३५]

इन प्रश्नों के उत्तर में अद्वैतवादी का कहना है कि त्रैकालिक निषेध अर्थात् अत्यन्ताभाव को तात्विक मान लेने पर भी किसी प्रकार असंगति नहीं होगी, क्योंकि अद्वैतवाद में अभाव को अधिकरणरूप माना जाता है,[३६] अर्थात् यह जो कहा गया था कि अभाव को तात्विक मानने पर अद्वैतवाद की हानि होगी, ठीक नहीं है। परिदृश्यमान विश्वप्रपंच का आश्रय ब्रह्म में प्रपंच का निषेध ब्रह्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं। अतिरिक्त स्वीकार करने पर तो द्वैतवाद आ ही जायेगा। और यह भी आक्षेप निराधार है कि प्रपंचनिषेध यदि तात्विक है तो उस सत्य या तात्विक निषेध का प्रतियोगी प्रपंच तात्विक हो जायेगा।[३७] शुक्ति-रजत में प्रातिभासिक रजत का जो शुक्ति में अभाव है वह तो व्यावहारिक अभाव ही है। प्रातिभासिक रजत की अपेक्षा व्यावहारिक अभाव अधिक सत्य है, फिर भी व्यावहारिक सत्य अभाव के प्रतियोगी अध्यस्त

---

३२. सिद्धि व्याख्या—पृ० ६५

३३. व्यावहारिकत्वे अपि तस्य बाध्यत्वेन तात्विकसत्वाविरोधित्वेन अर्थान्तरात्। न्यायामृत पृ० २६

३४. लघु चन्द्रिका—पृ० ६६

३५. अद्वैतश्रुतेरतत्वावेदकत्वापाताच्च। न्यायामृत पृ० २६

३६. अद्वैतवाद के अनुसार अभाव अधिकरणस्वरूप है। न्याय के अनुसार अभाव एक अतिरिक्त पदार्थ है। 'भूतले घटाभावः' इस में वेदान्ती के अनुसार घटाभाव भूतल के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जबकि न्याय के अनुसार भूतल के अतिरिक्त पदार्थ है।

३७. अद्वैतसिद्धि—पृ० ६६, ६७।

रजत को सत्य रजत कहा नहीं जाता ।

इस निषेध को अतात्विक भी मान लिया जाय तो भी क्षति नहीं है । अतात्विक होने पर भी अद्वैतवादी इसे प्रातिभासिक स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वैसा करने पर तो सिद्धसाधन अनिवार्य है, अतएव प्रपंच निषेध को अद्वैतवादी व्यावहारिक ही स्वीकार करते हैं ।[३८] और जो यह कहा गया है कि प्रपंच निषेध यदि व्यावहारिक है और व्यावहारिक वस्तु-मात्र ही दृश्य है, तथा दृश्य मात्र ही मिथ्या है, मिथ्या मात्र ही बाध्य है या जो बाध्य है वही मिथ्या है, इस प्रकार व्यावहारिक होने से प्रपंच निषेध भी मिथ्या ही है, घटादि प्रपंच के अधिकरण में घटादि का अत्यन्ताभाव यदि मिथ्या है तो प्रपंच को सत्य होना ही चाहिये, यह आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि सर्वत्र यह नियम लागू नहीं होता, अर्थात् निषेध के निषेध होने पर प्रतियोगी का सत्व-स्थापित हो जाय, ऐसा सर्वत्र नियम नहीं है । उदाहरण के लिये स्वप्न में आरोपित वस्तु गजादिदर्शन, और उन गजादि का यदि स्वप्न में ही बाध हो जाता है, उस स्थिति में स्वप्न के गजादि तो आरोपित हैं ही और स्वप्न में दृष्टगजादि का स्वप्न में ही बाध भी आरोपित ही है । इसका अर्थ यह तो कभी नहीं हो सकता कि स्वप्न पदार्थ गजादि के स्वप्नबाध होने पर स्वाप्नारोपित गजादि तात्विक हो जायेंगे । हां जागरण में स्वाप्नगजादि तथा स्वाप्नगजादि का स्वाप्नबाध दोनो का बाध हो जाता है, अतः दोनो ही मिथ्या हो जाते हैं । इसी प्रकार व्यावहारिक प्रपंच का व्यावहारिक निषेध होता है । हैं दोनो ही मिथ्या । निषेध के मिथ्या होने पर प्रतियोगी सत्य हो जायेगा ऐसी आशंका युक्तिपूर्ण नहीं । पारमार्थिक अधिकरण के साक्षात्कार से निषेध और प्रतियोगी दोनों का बाध हो जाता है, अतएव दोनो ही मिथ्या हैं । निषेध के बाध्य होने से प्रपंच के पारमार्थिक होने में विरोध नहीं है, ऐसी बात नहीं । अभिप्राय यह है कि जहाँ पर निषेधनिषेध्य प्रतियोगी अपेक्षा न्यूनसत्ताक है वहीं पर निषेध्य प्रतियोगी पारमार्थिक सत्ता का अविरोधी होगा, अर्थात् निषेध यदि अल्पसत्ताक है, तो प्रतियोगी पारमार्थिक हो सकता है । प्रकृत में प्रपंच निषेध अल्पसत्ताक होता तो प्रातिभासिक होता, तब प्रपंच अधिक सत्ताकतया निषेधापेक्षया सत्य होता, परन्तु यहाँ पर निषेध और प्रतियोगी दोनो ही समसत्ताक हैं,[३९] इसलिए अर्थान्तर का अवकाश नहीं है । वहीं पर निषेध के निषेध से प्रतियोगी का सत्व माना जाता है जहाँ पर निषेध के निषेध का उद्देश्य ही प्रतियोगीसत्व का संस्थापन होता है । जैसे—सत्य रजत में किसी को भ्रम हुआ 'यह रजत नहीं है' और उसके पश्चात् सत्य रजत के मिथ्याभाव का बोध होता है, जैसे 'यह अरजत नहीं है, अपितु रजत है', ऐसे स्थल में निषेध के निषेध से प्रतियोगी का सत्व स्थापित होता है । प्रकृत में ऐसा नहीं है ।[४०] यहां पर आरोपित प्रतियोगी प्रपंच का आरोपित निषेध है और इस आरोपित निषेध को

३८. अद्वैतसिद्धि—पृ० ९९,१००

३९. अद्वैतसिद्धि—पृ० १०१

४०. अद्वैतसिद्धि—पृ० १०५

जब व्यावहारिक कहा जाता है तब वह भी बाध्य है, अर्थात् मिथ्या है, क्योंकि दृश्यत्वादि धर्म प्रपंच और तदभाव दोनों में हैं, सुतराँ दोनो मिथ्या हैं। यहां पर प्रतियोगी और उसके निषेध दोनों का निषेध होता है, अर्थात् यहां पर प्रतियोगी और निषेध दोनो ही निषेध्यतावच्छेदकवृत्ति हैं।[४१] इस बात को समझाने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया गया है यथा—घटध्वंसकाल में घटध्वंसाधिकरणीभूत कपाल में जिस प्रकार घट और उसका अत्यन्ताभाव नहीं हैं, उसी प्रकार प्रागभाव भी नहीं है। एवंभूत कपाल में प्रागभाव की प्रतीति यदि किसी को हो तो उसे आरोपित ही कहना होगा। उस प्रागभाव के प्रतियोगी घट को भी आरोपित कहना होगा और प्रागभाग एवं तत्प्रतियोगी घट दोनो ही आरोपित हैं, अतएव दोनों का व्यावहारिक निषेध भी संभव है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि आरोपित प्रागभाव के निषेध करने पर भी जिस प्रकार अभावप्रतियोगी घट का सत्वस्थापित नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये। प्रपंच प्रतियोगिक निषेध व्यावहारिक है, और प्रतियोगी प्रपंच भी व्यावहारिक है। व्यावहारिक होने के कारण प्रपंच तथा प्रपंच निषेध दोनों में मिथ्यात्वानुमापक दृश्यत्वादि हेतु समान हैं। प्रतिपन्नोपाधौत्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व पपंच और तदभाव दोनों में दृश्यत्वादि हेतुबल से सिद्ध है, अतएव पूर्वपक्षी द्वारा निषेध के निषेध को लेकर प्रपंच की तात्विकत्वापत्ति निर्मूल है।[४२]

पूर्वपक्ष की ओर से श्रुति प्रमाण के ऊपर आक्षेप किया गया था कि मिथ्यात्व-घटक त्रैकालिकनिषेध को व्यावहारिक स्वीकार करने पर 'नेहनानास्ति किंचन, मृत्योः स' इत्यादि अद्वैत प्रतिपादक श्रुतिओं में भी अप्रामाणिकता आ जायेगी, क्योंकि ये श्रुतियाँ भी ब्रह्मप्रमाबाध्य व्यावहारिक निषेध की प्रतिपादकतया अतत्वावेदक हैं। इस प्रकार की आशंका का उत्तर अद्वैतवादी देते हैं कि प्रपंच का त्रैकालिक निषेध व्यवहारिक है, वह निषेध भी ब्रह्म प्रमाबाध्यतया अतात्विक है। उस अतात्विक निषेध का 'नेह नानाऽस्ति किंचन', 'एकमेवाद्वितीयं' इत्यादि अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियां यदि तात्पर्यतः प्रतिपादन करतीं तब तो 'श्रुतेः अप्रामाण्यापत्तिः' अर्थात् अपारमार्थिकनिषेध-बोधकत्वप्रयुक्त अप्रमाण्यापत्ति होती, क्योंकि अबाधितार्थबोधकत्व प्रमाण और बाधितार्थबोधकत्व अप्रमाण है।[४३]

यहां पर 'तद्वतितत्प्रकारकबोधजनकत्व' को प्रामाण्य स्वीकार करने पर 'नेहनानाऽस्तिकिंचन' इत्यादि श्रुतिओं के प्रामाण्य में आशंका नहीं होगी। यहाँ पर 'तत्वावेदकत्वं प्रामाण्यम्' ऐसा प्रमाण्य के लक्षण को मन में रख कर उक्त श्रुतिओं में अप्रमाण्यता की शंका की गई है। तत्व का अर्थ तीनों कालों में अबाध्य वस्तु और

---

४१. अद्वैतसिद्धि—पृ० १०६, ११०
४२. अद्वैतसिद्धि—पृ० १०६,१०७, १०६
४३. अद्वैतसिद्धि— पृ० ११०, ११२

जो कालत्रय में अबाध्य वस्तु का बोधक, वही प्रमाण है। प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध ब्रह्मप्रमा द्वारा बाध्य है, अतः वह कालत्रय में अबाध्य नहीं हुआ, सुतरां वह अतत्व ही हुआ। एवंभूत अतत्व को बोधन करने वाली श्रुति भी अप्रामाणिक ही है ?

इस पर अद्वैतवेदान्ती का उत्तर है कि पूर्वपक्षी की उक्त आशंका असंगत है, क्योंकि प्रपंच निषेधक श्रुतिओं का पारमार्थिक प्रामाण्य न होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य तो है ही। व्यावहारिक अर्थात् मिथ्या वस्तु की प्रतिपादक श्रुतिओं का व्यावहारिक प्रमाण्य असंगत नहीं है। जहाँ पर जो धर्म नहीं वहां पर यदि उस धर्म का बोधक हो तो व्यावहारिक अप्रामाण्यता वहां पर होगी। प्रपंच और उसका निषेध यथार्थतः मिथ्या हैं और उन मिथ्या वस्तुओं का तद्रूप में प्रतिपादन कैसे अप्रमाण्य हो सकता है ? अतएव प्रपंचनिषेधक श्रुतिओं का व्यावहारिक प्रामाण्य स्वीकार करना ही पड़ेगा,[४४] और यदि कालत्रयाबाध्य वस्तु के प्रतिपादक को ही तत्वावेदकरूप प्रमाण मानने का आग्रह है, तब तो 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिओं के द्वारा व्यावहारिक निषेध का प्रतिपादन करने के कारण उक्त श्रुतिओं का तत्वावेदकरूप प्रामाण्य नहीं है, यह तो अद्वैतवादी को भी इष्ट ही है, किन्तु तत्प्रकारकबोधजनकत्वरूप व्यावहारिक प्रमाण्य तो है ही। अखण्डार्थ प्रतिपादक 'तत्वमसि' एवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिओं का तत्वावेदकत्वरूप प्रमाण्य है,[४५] क्योंकि उक्त श्रुतिओं का प्रतिपाद्य विषय है शुद्धचैतन्य। वह शुद्धचैतन्य अखण्ड एवं कालत्रयों में अबाध्य वस्तु है, अतएव कालत्रयाबाध्यवस्तु के प्रतिपादक श्रुतिओं का तत्वावेदकत्वलक्षण प्रमाण्य संभव है।

इस पर प्रतिवादी पुनः शंका करते हैं कि 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्वम्' इस मिथ्यात्वलक्षण में अथवा 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादि श्रुतिओं में 'नास्ति' पद द्वारा जो निषेध प्रतीत हो रहा है, उस निषेध का प्रतियोगितावच्छेदक धर्म क्या है ? अर्थात् निषेध प्रतियोगिता का अवच्छेदकधर्म स्वरूप है, या पारमार्थिकत्व ?[४६] निषेध प्रतियोगी प्रपंच, प्रपंच का सामान्य स्वरूप दृश्यत्वादि और विशेष स्वरूप आकाशत्वादि हैं। एवंभूत निषेध प्रतियोगी का क्या वायु में रूपात्यन्ताभाव के समान स्वरूपतः अत्यन्ताभाव है ? और इसी प्रकार पुरोवर्तिवस्तु में रजत का भी स्वरूपतः अत्यन्ताभाव है ? या व्यावहारतः ? और प्रातिभासिकतः ? प्रतिपन्नोपाधि में घटादि प्रपंच के तथा पुरोवर्ती में रजत के रहते हुए ही पारमार्थिक रूप से प्रतिपन्नोपाधि में घटादि प्रपंच के तथा पुरोवर्ती में रजत के रहते हुए ही पारमार्थिक रूप से प्रतिपन्नोपाधि में प्रपंच का और पुरोवर्ति में रजत का अत्यन्ताभाव है। प्रथम पक्ष अर्थात् स्वरूपतः अत्यन्ताभाव स्वीकार करने पर द्वैतवादी का आक्षेप है कि ऐसा

---

४४. लघुचन्द्रिका—पृ० ११२
४५. लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० ११२
४६. अद्वैतसिद्धि—पृ० १२, १४

मानने पर प्रपंच और अद्वैत में प्रातिभासिक स्वीकृत शुक्ति रजत में अलीकत्वापत्ति हो जायेगी, तथा श्रुतिप्रमाणविरुद्ध हो जायेगा, क्योंकि श्रुति में प्रपंच की उत्पत्ति का वर्णन है। जिसकी उत्पति है उसका विनाश भी है, यह युक्तिसिद्ध है। प्रपंच जब अलीक होगा उससे अर्थक्रिया नहीं बनेगा, अर्थात् व्यावहारिक सत्यवस्तु (माध्वादि के मत में परमार्थ वस्तु है) ही अर्थक्रिया में समर्थ है।[४७] आकाश-कुसुमादि अलीक पदार्थ अर्थक्रियासमर्थ नहीं हैं। जलाहरणकार्य घट से होता है, आकाशकुसुम से किसी प्रकार का कार्य नहीं होता। माध्वपक्ष से तृतीय दोष यह लगाया गया कि सिद्धान्ती ने असद् से विलक्षण बतलाने के लिये ही तो प्रपंच का उपादान अविद्या को स्वीकार किया है, इस में श्रुति प्रमाण भी है। 'अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णाम्' इत्यादि, इस प्रकार प्रपंच को अविद्योपादान स्वीकार करके सिद्धान्ती पुन: उसका स्वोपाधि में त्रैकालिक निषेध कैसे कहता है? यदि प्रपंच का स्वरूप से ही निषेध कर दिया जायेगा तो वह तत्वज्ञाननाश्य भी नहीं हो सकेगा, ना ही उसकी सद्रूपता से प्रतीति ही होनी चाहिये? परन्तु होती है। द्वितीय पक्ष पारमार्थिक प्रतियोगितावच्छेदक धर्म को स्वीकार करने पर भी नाना दोष हैं। प्रपच की प्रतीति और अर्थक्रियादि का अपलाप नहीं किया जा सकता, इसलिये स्वरूपत: निषेध न करके घटादि प्रपंच अपने स्वरूप में रहते हुए भी पारमार्थिकाकारेण 'प्रतिपन्नोपाधौ प्रपंचोनास्ति' यह कहना पड़ेगा, इसी प्रकार शुक्ति-रजत में भी, परन्तु इस प्रकार बाधनिषेध द्वारा शुक्ति-रजत का निषेध नहीं हुआ, अपितु उसमें परमार्थिकत्व का ही निषेध हुआ है। इसी प्रकार प्रपंच का भी निषेध नहीं हुआ, उसमें पारमार्थिकत्व का निषेध हुआ। इसमें दोष अन्योन्याश्रय है, क्योंकि पारमार्थिकत्व का अर्थ अबाध्यत्व अर्थात् बाध्यत्वाभाव है। एवंभूत पारमार्थिकत्व का ज्ञान होने पर पारमार्थिकत्वघटित बाध्यत्वरूप मिथ्यात्व का ज्ञान होगा, और बाध्यत्वरूप मिथ्यात्वज्ञान होने पर बाध्यत्वाभावरूप अबाध्यत्वज्ञान होगा, वह पारमार्थिकत्व है, अत: ज्ञानगत अन्योन्याश्रय है, अतएव मिथ्यात्व का ज्ञान हो ही नहीं सकता, इसलिए 'परमार्थिकत्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्' यह लक्षण असिद्ध है।[४८] रजत भ्रम के अनन्तर 'रजतं नास्ति, नासीत्, न भविष्यति' इस प्रकार स्वरूपत: रजत का निषेध प्रतीत होता है। परमार्थिकत्वरूप से निषेध कहने पर इस अनुभव का विरोध होता है। 'नेह नानाऽस्तिकिंचन' इस श्रुति से स्वरूपत: निषेध का ही बोध होता है।

अब प्रतिवादी अनवस्था और अलीकत्वापत्ति दे रहे हैं। पूर्वोक्त पारमार्थिकत्व स्वयं पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि बाध्यत्वाभावरूप अबाध्यत्व ही पारमार्थिकत्व है, और यह अभाव बाध्यत्वनिरूपित है, अतएव व्यावहारिक है, अतः पारमार्थिकत्व धर्म भी व्यावहारिक होकर व्यावहारिकपक्षक मिथ्यात्वानुमान के पक्ष के अन्तर्गत आ

---

४७. न्यायामृत—पृ० २७
४८. न्यायामृत—पृ० ३६

गया है, क्योंकि समस्त व्यावहारिक वस्तुओं को पक्ष बनाकर मिथ्यात्वानुमान की प्रवृत्ति है। पारमार्थिकत्व धर्म निर्धर्मक ब्रह्म का धर्म नहीं हो सकता, अतः ब्रह्म से भिन्न हुआ। सुतरां यह भी मिथ्या हुआ। यदि पारमार्थिकत्वरूप से त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है, तब तो पारमार्थिकत्व धर्म भी मिथ्या है। पारमार्थिकत्व धर्म व्यावहारिक है, उसमें भी पारमार्थिकत्वरूप से मिथ्यात्व सिद्ध करना होगा, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी, अतएव पूर्वपक्षी का कहना है कि स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वमिथ्यात्व कहने पर प्रतियोगी की अत्यन्तासत्वापत्ति होगी। 'पारमार्थिकत्वरूपेण' त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वमिथ्यात्व कहने पर अन्योन्याश्रय और अनवस्थादि दोष होंगे, अतः 'प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' असंभव है।[४९]

अद्वैत वेदान्ती पूर्वपक्षकर्त्तृक उत्थापित विकल्पद्वय में से प्रथम अर्थात् "स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्व मिथ्यात्व" इस पक्ष को स्वीकार करता हुआ उद्भावित दोषों का निराकरण करते हैं। अधिष्ठान में आरोपित वस्तु का निषेध स्वरूपतः ही हुआ करता है, यह अनुभव सिद्ध है। इस अनुभव को प्रमाण मानते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रपंच और शुक्ति-रजत स्वरूपतः ही त्रैकालिक निषेध के प्रतियोगी हैं। प्रातिभासिक वस्तु जिस प्रकार स्वअधिष्ठान में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है उसी प्रकार व्यावहारिक प्रपंच भी स्व-अधिष्ठान ब्रह्म में स्वरूपतः त्रैकालिक-निषेध का प्रतियोगी है। इस मिथ्यात्वानुमान में शुक्तिरजत दृष्टान्त है। दृष्टान्त में शुक्तिरजत का स्वरूपतः त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगित्व सिद्ध होने पर तदनुसार पक्षीकृत व्यावहारिक प्रपंच में भी वह सिद्ध होगा।[५०] शुक्ति में रजतभ्रम के अनन्तर अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कार होने पर रजत वर्तमान में नहीं है, पहले भी नहीं था और पश्चात् भी नहीं रहेगा, इस प्रकार स्वरूपतः रजत के निषेध की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'नेह नानाऽस्ति' इस श्रुति से व्यावहारिक प्रपंच का भी स्वरूपतः निषेध प्रतीत होता है। रजतभ्रम के अनन्तर 'रजतं नास्ति' इस प्रकार के निषेध में व्यावहारिक अर्थात् लौकिक पारमार्थिक रजत ही उक्त निषेध का प्रतियोगी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, ऐसा होने पर वैयधिकरण्यदोष प्राप्त होगा।[५१] 'इदं रजतं' इस भ्रमात्मक प्रतीति में इदं के साथ अभेदरूप से अनिर्वचनीय प्रातिभासिक रजत है, और निषेध का विषय हुआ लौकिक पारमार्थिक रजत, अर्थात् व्यावहारिक। भ्रम का विषय हुआ प्रातिभासिक रजत और बाध का विषय हुआ व्यावहारिक रजत, अतः भ्रम और बाध की विषयभिन्नता के कारण व्यधिकरणरूप दोष प्रसक्त हुआ, क्योंकि दोनों के अधिकरण भिन्न-भिन्न हुए। ऐसा मानने पर अप्रसक्तप्रतिषेधरूप दोष होगा। प्रातिभासिक रजत का बाध हुआ ही नहीं जिसकी

४९. न्यायामृत—पृ० २७
५०. अतद्वैसिद्धि-लघुचन्द्रिका—पृ० १२०
५१. अद्वैतसिद्धि एवं सिद्धिव्याख्या—पृ० १२१

कि प्रसक्ति थी, अप्रसक्त लौकिक रजत का बाध हुआ। शुक्ति में व्यावहारिक रजत का तादात्म्य अद्वैतवादी नहीं मानते। ऐसा मानने पर उनको अन्यथाख्याति-वाद को स्वीकार करना पड़ेगा। अद्वैत के अनुसार शुक्ति के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रातिभासिक रजत है, और निषेध भी उसी का होना चाहिये। अनुभव से भी यही सिद्ध है कि शुक्ति में प्रसक्त प्रातिभासिक रजत का ही निषेध होता है। स्वरूपतः निषेध-प्रतियोगी मानने पर पूर्वपक्ष की ओर से श्रुति-सिद्ध प्रपंच की उत्पत्ति आदि की असंभावना-दोष दिखाया गया था। इसका निरसन करते हुए अद्वैत वेदान्ती कहते हैं—स्वरूपतः निषेध-प्रतियोगी स्वीकार करने पर भी प्रपंच की उत्पत्यादि असंभव नहीं हैं, एवं शुक्ति में भी रजतभ्रम की असंभावना नहीं, क्योंकि उत्पत्ति आदिमत्व का व्याप्य अनिषिद्धस्वरूपत्व नहीं है। पूर्वपक्षी का यह सिद्धान्त कि जो अनिषिद्धस्वरूप है उसके उत्पत्यादि हैं और जिसके उत्पत्यादि हैं वह अनिषिद्धस्वरूप है। इस प्रकार की समव्यापकता सिद्ध नहीं है। इसमें व्यभिचारदोष है। पूर्वपक्षी के मत में वियदादिप्रपंच अनिषिद्धस्वरूप होने पर भी उत्पत्यादिविहीन हैं। पूर्वपक्ष के अनुसार जिस प्रकार अनिषिद्धस्वरूपत्वप्रयुक्त उत्पत्यादि स्वीकृत नहीं हैं उसी प्रकार अद्वैतवादी के अनुसार भी निषिद्धस्वरूप होने पर भी उत्पत्यादि असम्भव नही हैं। अनिषिद्ध-स्वरूपता में उत्पत्यादि की व्याप्ति नहीं है, अतः व्याप्ति भग हुई।[५२]

अद्वैतवादी अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हमारे मत में उत्पत्यादि-मत्व का प्रयोजक अविद्यादिषट्कभिन्न दृश्यत्व है। अविद्यादिषट् उत्पत्तिमत् नहीं हैं,[५३] अतः तद्भिन्न कहा गया है। अनादि छः पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानी जाती, सादि दृश्य निषिद्धस्वरूप होते हुए उत्पत्ति आदिमान हैं। दृश्यमात्र की उत्पत्ति में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति प्रमाण है।[५४] जिस प्रकार अनिषिद्ध-स्वरूपत्व उत्पत्यादिमत्व का व्याप्त नहीं है उसी प्रकार वह व्यापक भी नहीं है, क्योंकि उत्पत्यादिमान होने पर अनिषिध्यमान होगा, ऐसा नियम नहीं है। उत्पत्यादिविशिष्ट शुक्तिरजत में 'शुक्तौ रूप्यं नास्ति' एवंप्रकार अनुभव होता है, अतएव निषेधविषयक अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार 'यतो वा इमानि'—इत्यादि श्रुतिओं से उत्पत्यादिसिद्ध प्रपंच का भी 'नेह नानाऽस्ति' इस श्रुति से निषेध होता है। अनुभव और श्रुति द्वारा उत्पत्यादिमान का निषिद्धस्वरूपत्व सिद्ध है, अतः पूर्वपक्ष का आक्षेप कि निषिध्यमान वस्तु में उत्पात्यदि नहीं बन सकते, निराधार है। निषिद्धस्वरूप होते हुए उत्पति जिस प्रकार संभव है, उसी प्रकार प्रपंच में अर्थक्रियादि भी संभव हैं। अर्थक्रियादि की सिद्धि के लिए वस्तु का सत्व होना कोई नियत हेतु नहीं है। एतदर्थ विद्यमानता

---

५२. अद्वैतसिद्धि—पृ० १२१, १२२

५३. जीवईशोविशुद्धाचित् विभागश्चतयोर्द्वयोः
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः। लघुचन्द्रिका में उद्धृत पृ० १२२।

५४. तैत्तिरीयोपनिषद् — ३।१

ही पर्याप्त है। पूर्वक्षण में वर्तमानता ही अर्थक्रियादि के लिए प्रर्याप्त प्रयोजक है।[५५] नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में इस पर पर्याप्त विचार किया है कि स्वयं सत्ता-शून्य वस्तु भी अर्थक्रियासमर्थ हो सकती है।[५६] इसी प्रकार अविद्योपादानत्व, तत्वज्ञान-नाश्यत्व और सद्रूप से प्रतीति आदि होने में भी कोई बाधा नहीं है। पुनश्च प्रतिवादी स्वरूपत: निषेध-प्रतियोगी स्वीकार करने पर आपत्ति उठाते हैं। यह आपत्ति स्वमत हानिरूप है। विवरणाचार्य ने पंचपादिका-विवरण में कहा है कि 'नेदं रजतम्' इस निषेध का प्रतियोगी आपणस्थ रजत है, न कि प्रातिभासिक रजत। मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में प्रातिभासिक रजत को ही निषेध का प्रतियोगी कहा है।[५७] इस प्रकार पूर्वाचार्य विवरणाकार के साथ अद्वैतसिद्धिकार का मतैक्य नहीं हुआ, और स्वमत-हानि दोष हुआ। इस आक्षेप का उत्तर अद्वैतवादी यह कह कर देते हैं कि पूर्वपक्षी ने आचार्य वाक्य का आशय नहीं समझा है। आचार्यवाक्य का आशय व्यावहारिक आपणस्थ रजत को प्रतियोगी मानने का नहीं है, अपितु आचार्य वाक्य का आशय है कि प्रातिभासिक रजत आपणस्थ रजत के साथ तादात्म्यभावापन्न होकर निषेध का प्रतियोगी है, अर्थात् पारमार्थिकलौकिक रजत के साथ अभेदरूप से प्रतीत प्रातिभासिक रजत ही प्रतियोगी है। आचार्य वाक्य में "वा" शब्द का अन्वय स्वरूपेण पारमार्थिकत्वाकारेण वा, इस प्रकार करना होगा। इसका अर्थ है कि सिद्धान्ती के अनुसार स्वरूप या पारमार्थिकत्व दोनों में से कोई प्रतियोगितावच्छेदक-धर्म हो सकता है।[५८] किसी एक पर आग्रह विशेष नहीं है। विवरणाचार्य की उक्ति के अनुसार ही मिथ्यात्व लक्षण की ऐसी व्याख्या की गई। आचार्य का वाक्य है— "प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक अभाव प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है"। वह मिथ्यात्व प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि बाधकज्ञान में प्रतिपन्नोपाधि में अभावप्रतियोगीरूप से रजत भासित होता है।[५९] प्रतिपन्नोपाधि में निषेधप्रतियोगी के रूप में भासमान रजत प्रातिभासिक ही हो सकता है, व्यावहारिक नहीं। पुरोवर्ती वस्तु में प्रातीतिक रजत ही भ्रम में भासता है। पूर्वपक्ष द्वारा प्रदर्शित अनवस्था-दोष का परिहार करने के लिए पारमार्थिकत्व का अर्थ 'ज्ञानानिवर्त्यमात्रविशेष्यकधी' करना होगा, ऐसा अर्थ करने पर अनवस्था-दोष नहीं होगा। ज्ञान के द्वारा जिसकी निवृत्ति न हो, एवंभूत वस्तु-विशेष्यक-ज्ञान ही यहाँ पर पारमार्थिकत्व है। ज्ञानद्वारा अनिवर्त्य वस्तु ब्रह्म और अलीक हैं। ब्रह्म और अलीक दोनो ही अकल्पित हैं, अत: दोनों की निवृत्ति ज्ञान से नहीं हो सकती। इनमें से अलीकविशेष्यक ज्ञान सम्भव नहीं है, अतएव ज्ञानानि-

---

५५. अद्वैतसिद्धि—असतः साधकत्वाभावे बाधकनिरूपणम् पृ० ४४३—४५१ द्रष्टव्य

५६. अद्वैतदीपिका—पृ० ६६, नृसिंहाश्रम, वाराणसी, १९१९।

५७. अद्वैतसिद्धि पृ० १२३

५८. अद्वैतसिद्धि—पृ० १२४

५९. पंचपादिका-विवरण—पृ० ११३ (कलकत्ता संस्करण)
अनन्तकृष्ण सम्पादित, १९३३।

वर्त्यमात्रविशेष्यकधी से एकमात्र ब्रह्मविशेष्यक धी ही लेनी होगी, और यही धी पारमार्थिकत्वरूप है। यही उक्त प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगी, अर्थात् विशेष्यता-सम्बन्ध से उक्त धी ही प्रतियोगिता का अवच्छेदक होगी। विशेष्यता-सम्बन्ध से यह धी ज्ञान द्वारा अनिवर्त्य ब्रह्मवस्तु में ही रहेगी, ज्ञान निवर्त्य प्रपंच में नहीं, अतः उक्त धीरूप अवच्छेदक धर्म प्रपंच-निष्ठ प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म है, क्योंकि प्रपंच मात्र ही ज्ञान निवर्त्य है, अतएव 'विशेष्यता-सम्बन्ध से उक्त धीरूप धर्म से अवच्छिन्न 'त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है', ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं होंगे, क्योंकि उक्त धीरूप अवच्छेदक धर्म का ज्ञान द्वितीयमिथ्यात्व-ज्ञान सापेक्ष नहीं है।

इसी प्रकार अनवस्था भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानानिवर्त्य मात्र विशेष्यक धीरूप से समस्त दृश्य का निषेध करने पर उस निषेध की प्रतियोगिता जिस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य में रहेगी उसी प्रकार उक्त धी में भी रहेगी, वह भी तो दृश्य है, अतः उक्त पारमार्थिकत्वरूप से सर्वदृश्यमात्र के निषेध करने पर सर्वदृश्य के साथ पारमार्थिकत्व का भी निषेध हो जायेगा। पारमार्थिकत्व के निषेध करने के लिए दूसरी धी की आवश्यकता नहीं है। प्रपंच के निषेध के बाद भी पारमार्थिकत्व के अनिषिद्ध रह जाने पर अनवस्था-दोष दिया जा सकता था। दृश्यत्व से उसका भी निषेध होने पर अनवस्था की आशंका निर्मूल है। आचार्यवाक्य के अनुसार आपणस्थ रूप्य को ही बाध का प्रतियोगी मानेंगे तो भ्रम और बाध में वैयधिकरण्य दोष होगा। भ्रान्त व्यक्ति पुरोवर्ती वस्तु में प्रातिभासिक रजत का दर्शन करता है और उसको व्यावहारिक रजत समझकर प्राप्त करने के लिए जाता है। रजत की प्राप्ति न होने पर व्यावहारिक रजत के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रातिभासिक रजत की बाध-बुद्धि उत्पन्न होती है। चित्सुखाचार्य ने भी आचार्य वाक्य को उद्धृत करके कहा है—"इदं रजतं न भवति" इत्याकारक बाधक ज्ञान में प्रातिभासिक रजत लौकिक रजत नहीं है, ऐसा बोध होता है। यह अन्योन्याभाव है। अत्यन्ताभाव के लिए तो प्रातिभासिक रजत ही निषेध का प्रतियोगी है, क्योंकि शुक्ति में व्यावहारिक रजत का निषेध संभव नहीं है। इसकी प्रसक्ति ही नहीं, ऐसा हमने पूर्व पृष्ठों में विचार किया है, अतः जहां पर पूर्वाचार्य द्वारा व्यावहारिक रजत का निषेध किया हुआ अर्थ का बोध होता है वहां पर अनुयोगी शुक्ति नहीं, अपितु प्रातिभासिक रजत है और प्रतियोगी व्यावहारिक रजत, अतएव अन्योन्याभाव सिद्ध हुआ। इसी आशय को चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका में व्यक्त किया है—"तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात् लौकिक रजतात्मत्वेना परोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामंगीकृत्य नेतव्या"।[६०] इसका तात्पर्य है कि पूर्वाचार्य

६०. चित्सुखी—पृ० ८०

अर्थात् विवरणकार ने जिस व्यावहारिक रजत को "नेदं रजतम्" इस निषेध का प्रतियोगी कहा है—वह इदम् अर्थात् प्रातिभासिक रजत लौकिक पारमार्थिक 'रजतं न भवति' व्यावहारिक नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रातिभासिक रजत व्यावहारिक रजत से भिन्न है, इस प्रकार भेदरूप निषेध की प्रतियोगिता तो व्यावहारिक रजत में है ही। अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता व्यावहारिक रजत में कैसे रह सकती है ?

अद्वैतसिद्धिकार पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के वाक्यों का आशय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पंचपादिका-विवरणकार के "नेदं रजतं" इस प्रकार के बाधज्ञान को यदि अन्योन्याभाव-विषयक मान लिया जाय तो भी रजत का अर्थात् प्रातिभासिक रजत का आर्थिक मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। प्रातीतिक रजत में परमार्थरजत का भेद प्रतीत होने पर ऐसा भान होता है कि प्रतीत रजत परमार्थरजत से भिन्न है, अतएव मिथ्यात्व रूप से अर्थात् प्रतिपन्नोपाधिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप से भासित हुआ था, अतः अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप जो मिथ्यात्व, वह उक्त बाधोक्त भेदज्ञान-लभ्य है। इस कारण विवरणाचार्य ने अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व को मिथ्यात्व कहा है। पंचपादिका में उक्त भेद-विषयक बाधज्ञान का भी अत्यन्ताभाव-विषयक ज्ञान में पर्यवसान है, इसलिये पंचपादिका में भी भेद-विषयक बाधज्ञान दिखाकर प्रतिपन्नरजत को मिथ्या कहा है। जहां पर 'इदंरजतं' ऐसा भ्रमानुभव होता है वहां पर 'नेदं रजतम्' ऐसा निषेध होता है और जहां पर 'अत्र रजतं' वहां पर 'नात्र रजतं' ऐसा बाध होता है। यह अनुभव सिद्ध है।[६१]

अब पूर्वपक्ष की ओर से शंका यह की जाती है कि यदि प्रपंच मात्र का स्वरूपतः त्रैकालिक निषेधरूप मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, तब तो शश-विषाणादि के समान प्रपंच में भी अत्यन्तासत्वापत्ति होगी, क्योंकि समस्त प्रपंच स्वाधिकरणभिन्न स्थान में अर्थात् प्रतिपन्नोपाधि से भिन्न स्थान में स्वरूपतः नहीं रहता यह तो सर्ववादिविदित है। स्वाधिकरण भिन्न स्थान में जिस का स्वरूपतः अत्यन्ताभाव सिद्ध है उसका अपने अधिकरण में भी अत्यन्ताभाव स्वरूपतः मानने पर उसका अलीकत्व ही तो हुआ ?[६२] अतः असद् वैलक्षण्य भी प्रपंच को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि असत् भी तो कहीं पर नहीं रहता[६३] ? अतः अर्थान्तरता दोष कहा जा सकता है। इससे अद्वैतवादी शून्यवाद में प्रविष्ट हो जायेंगे।

अद्वैतवेदान्ती इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहते हैं कि मिथ्यात्वानुमान में "सत्वेन प्रतीत्यर्हम्" अर्थात् 'सत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्व' को पक्ष विशेषण रूप से कहा गया है, जिसका तात्पर्य हुआ 'पूर्वोक्त विशेषण-विशिष्ट पक्ष-प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिकनिषेध-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व' ऐसा कहने पर प्रपंच में अलीकत्वापत्ति नहीं दी जा सकती, और अर्थान्तरता भी नहीं है। प्रपंच किंचिद्धर्मनिष्ठ

६१. अद्वैतसिद्धि—पृ० १३०
६२. अद्वैतसिद्धि—पृ० १३४, १३५
६३. अद्वैतसिद्धि—पृ० १३६

सत्वरूप से प्रतीत होता है। अलीक आकाशकुसुमादि कभी भी सत्वेन प्रतीत नहीं होते। अद्वैतसिद्धिकार का कहना है कि प्रातिभासिक वस्तु सदधिष्ठान कल्पित है और अलीक निरधिष्ठानकल्पित है। शशविषाणादि का कोई अधिष्ठान नहीं, किन्तु शुक्तिरजत कभी निरधिष्ठान नहीं होता। बाध से पूर्व शुक्ति-रजत एवं प्रपंच की प्रतीति सत्वरूप से होती है, अतः असद्-विलक्षण तो हुआ ही।[६४] शुक्ति-रजत की शुक्ति के साथ तादात्म्यप्रतीति होती है, एवं सद्वस्तु ब्रह्म के साथ प्रपंच की भी तादात्म्यप्रतीति होती है, किन्तु अलीक की किसी के साथ तादात्म्यप्रतीति नहीं होती, इसलिये अतिव्याप्ति और अर्थान्तरता की आशंका निराधार है। मिथ्यात्व-लक्षण में जो उपाधि पद है उस पद से अबाध्य सद्वस्तु का निर्देश है, उसी सद्वस्तु की सत्ता के साथ तादात्म्यभावापन्न प्रपंच भी सत् सा भासता है, अतः सद्वस्तु की स्वीकृति होने के कारण अद्वैतवादी शून्यवाद में प्रविष्ट नहीं होते।[६५] अद्वैतवाद के अनुसार अलीक आकाश-कुसुमादि की असत्ता और अनिर्वचनीय विश्व-प्रपंच की असत्ता एक जातीय असत्ता नहीं है। जो कभी किसी भी आश्रय में सद्रूप से प्रतीत नहीं होता वही अलीक असत्व है। आकाशकुसुम शशविषाण आदि शब्दों से एक प्रकार शाब्दबुद्धि उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार विकल्पवृत्तिविशेष है। अनिर्वचनीय विश्वप्रपंच अथवा प्रातिभासिक शुक्तिरजत प्रभृति की असत्ता या सत्ता उससे विलक्षण है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा शुक्तिसाक्षात्कार के पूर्व तक ब्रह्म में प्रपंच की और शुक्ति में रजत की सत्वरूप से प्रतीति होती है, इसलिये यह असद्-विलक्षण है और त्रिकालाबाध्यसत्व न होने के कारण प्रपंच ब्रह्मसत्ता से भी विलक्षणसत्व है, अतः अनिर्वचनीय कहा गया है।

नैयागिक की ओर से यह शंका की गई कि 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम्' इसके अर्थ के अनुसार संयोग सम्बन्ध से भूतल में घट है, उसी भूतल में (प्रतिपन्नोपाधौ) समवाय सम्बन्ध से घटाभाव तो हमें इष्ट ही है। एवं च कपाल में समवाय सम्बन्ध से घट है, उसी प्रतिपन्नोपाधि में संयोग सम्बन्ध से घटाभाव है ही, अतः अद्वैतवेदान्ती के मिथ्यात्व लक्षण में सिद्धसाधनता-दोष है।[६६] इस आशंका का उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं—जिस सम्बन्ध विशेष से जिस अवच्छेद विशेष से जो जिस का अधिकरणरूप से प्रतीत होता है, उस अधिकरण में उस सम्बन्ध-विशेष से, उस अवच्छेदक विशेष से तदधिकरणनिष्ठ अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[६७] पुनश्च शंका द्वारा अर्थान्तरता प्रदर्शित करते हैं—संयोग विभागादि को अव्याप्यवृत्ति कहा जाता है। एवंभूत संयोग विभागादि जिस आधार में होते हैं उसी आधार में अव्याप्यवृत्ति होने के कारण अपरांश में उनका अभाव भी

---

६४. अद्वैतसिद्धि—पृ० १३९, १४०
६५. अद्वैतसिद्धि—पृ० १४०-१५०
६६. अद्वैतसिद्धि—पृ० १५०
६७. अद्वैतसिद्धि—पृ० १०५

रहता है। कपि-संयोगी वृक्ष में शाखावच्छेदेन संयोग है और मूलावच्छेदेन संयोगाभाव है, अतः मिथ्यात्व-लक्षण उनमें अतिव्याप्त है,[६८] तथा अर्थान्तरता भी। इसका उत्तर अद्वैतवादी देते हैं कि अंशभेद तो मानना ही पड़ेगा, कपिसंयोगी वृक्ष में शाखा को ही संयोगाधिकरण मानना पड़ेगा, मूल को नहीं, अतः व्यधिकरण तो हुआ ही। ऋजुविवरणकार ने प्रतिपन्नोपाधि शब्द के द्वारा ही संयोगादि में अतिव्याप्ति आदि का निराकरण किया है। "संयोगादेः प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वमेव नास्ति"[६९] अन्यथा एक में ही भावाभाव रहने लग जायेंगे तब भाव-अभाव का विरोध ही समाप्त हो जायेगा और ऐसा संभव नहीं है।[७०] अद्वैतसिद्धिकार अर्थान्तरता का निराकरण करते हुए कहते हैं--जिस आधार में जो वस्तु जिस रूप में जिस सम्बन्ध से है उस आधार में उस वस्तु के उस रूप में उस सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव रहने पर उसका मिथ्यात्व सिद्ध है, अतएव कपिसंयोगी वृक्ष में कपिसंयोग का आधार भिन्न होने के कारण मिथ्यात्व का वह लक्ष्य ही नहीं। तथा च अतिव्याप्ति, सिद्धसाधनता या अर्थान्तरता की आशंका व्यर्थ है।[७१] माध्वप्रदर्शित अर्थान्तरतादि दोष परिहार करने के लिये धर्मराज-अध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा में मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए लक्षण में 'यावत्' पद समाविष्ट किया।[७२] 'वृक्षकपिसंयोगी' में यावत् वृक्ष में तो कपिसंयोगाभाव नहीं है, अतः वृक्षमूलस्थ संयोगाभाव के प्रतियोगी कपिसंयोग आलोच्य मिथ्यात्वलक्षण का लक्ष्य ही नहीं हुआ। वस्तुतः वेदान्ती संयोग को अव्याप्यवृत्ति नहीं मानते, इसलिये उक्त दोष की शंका ही नहीं होती।

पूर्वपक्ष की ओर से यह आशंका की गयी कि "सएव अधस्तात्' इत्यादि श्रुति द्वारा निम्नादि प्रदेश में आत्मा है, ऐसा बोध होता है। इसका अर्थ हुआ पूर्वोत्तरादि प्रदेश आत्मा का प्रतिपन्नोपाधि हैं, इसी प्रकार 'सएव अद्यः' 'सएव उश्वः' इत्यादि श्रुति द्वारा बोधित काल भी आत्मा का प्रतिपन्नोपाधि हुआ। ब्रह्म के साथ किसी वस्तु का किसी प्रकार से पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतएव ऐसा कहा जा सकता है–देशकालादि आधार में अर्थात् 'प्रतिपन्नोपाधौ पारमार्थिकत्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व' ब्रह्म में है, अतः अतिव्याप्तिदोष हुआ। इसका उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं कि ब्रह्म निर्धर्मक है, इस कारण उसमें निषेध-प्रतियोगित्वादि धर्म नहीं

---

६८. अद्वैतसिद्धि—पृ० १५१

६९. ऋजुविवरण—पृ० २१२ (ब्र० शा० भा० पं० पादिकादिटीका, कलकत्ता, १९३३)

७०. भावाभावयोरेकदैकत्र सत्वविरोधात्। तत्वदीपन—पृ० २१२
(ब्र० शा० भा० पं० पादिकादिटीका, कलकत्ता, १९३३)

७१. अद्वैतसिद्धि—पृ० १५१

७२. मिथ्यात्वं च स्वाश्रयत्वेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रगियोमित्वम्। वेदान्तपरिभाषा
—पृ० ९४,९५, धर्मराजाध्वरीन्द्र, चोखम्बा, सं २०११।

हैं,[७३] अतः मिथ्यात्व का लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्त नहीं है। यदि कहा जाय ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म कैसे रहते हैं ? सत्यत्वादि धर्म निषेधात्मक हैं अर्थात् सत्यत्व मिथ्यात्व का निषेधरूप है। चित् जड़ का निषेधरूप है। इसी प्रकार आनन्द भी दुःख का निषेध-रूप है। यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि अभाव अद्वैत के अनुसार अधिकरणस्वरूप है। इसी प्रकार विभुत्व, पूर्णत्वादि धर्म भी अभावरूप समझना चाहिये।[७४]

तृतीयमिथ्यात्व लक्षण (विवरणाचार्य के अनुसार)—

'ज्ञान निवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्'[७५]—ज्ञान द्वारा जिसका बाध हो वही मिथ्या है। विवरणाचार्य प्रकाशात्मयति के अनुसार–'बाध्यत्व मिथ्यात्व है'[७६] और यह बाध्यत्व प्रतिपन्नोपाधि में अभाव प्रतियोगित्वरूप अथवा ज्ञाननिवर्त्यत्व रूप है। इन में से प्रतिपन्नोपाधि में अभाव-प्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व का निरूपण 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इस श्रुत्यानुसारी है और ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्वलक्षण 'विद्वान् नामरूपाद विमुक्तः' इत्यादि श्रुत्यनुसार है। विवरणकार द्वारा प्रदर्शित मिथ्यात्व का यह द्वितीय लक्षण अर्थात् मिथ्यात्व लक्षणों में तृतीयलक्षण अन्याचार्यों द्वारा भी समर्थित है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी 'तत्वमस्यादि वाक्योत्थ-सम्यक्धी जन्ममात्रतः'[७७] इस कथन के द्वारा इस लक्षण का उल्लेख किया है।

इस लक्षण में पूर्व पक्षी दोष दिखाते हुए कहते हैं 'ज्ञान निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व है' ऐसा कहने पर जिस किसी रूप में ज्ञान-निवर्त्यत्व लिया जा सकता है अर्थात् स्वोत्तरवर्ति योग्य विभु-विशेषगुणत्वरूप से भी ज्ञान द्वारा निवर्त्यत्व लिया जा सकता है। ऐसा अर्थ करने पर उत्तर-ज्ञान द्वारा निवर्तनीय पूर्वज्ञान में मिथ्यात्वलक्षण की अति-व्याप्ति होगी,[७८] जैसाकि 'अयं घटः' ऐसा मुझे ज्ञान हुआ पश्चात्—'अयं पटः' —ऐसा ज्ञान हुआ, इस प्रक्रिया में 'अयं पटः' इस उत्तर ज्ञान के उत्पन्न होने से 'अयं घटः' यह पूर्वज्ञान नष्ट हो जाता है, ऐसा नियम है और अनुभव से भी सिद्ध है, अतएव उत्तरज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान का नाश हुआ और मिथ्यात्व-लक्षण की अतिव्याप्ति पूर्वज्ञान में हुई, क्योंकि उत्तर ज्ञान द्वारा नाश्य पूर्वज्ञान विनाशी तो है, पर वह मिथ्या नहीं। अलक्ष्य में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति हुई, अतएव सिद्धसाधनता-दोष होगा। दृश्यत्वादि हेतु द्वारा इस प्रकार के मिथ्यात्व की सिद्धि करने पर अंशतः सिद्धसाधनता है, क्योंकि पूर्वज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्व पूर्वपक्षी भी स्वीकार करते हैं और मुद्गर

---

७३. अद्वैतसिद्धि—पृ० १५६

७४. अद्वैतसिद्धि—पृ० १५६

७५. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०

७६. बाधकज्ञानसिद्धस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वलक्षणस्य मिथ्यात्वस्य पुनः स्वशब्देन परामर्शाच्च बाधविषयो मिथ्यात्वमिति। पंचपादिका-विवरण—पृ० २१३ अनन्तकृष्ण शास्त्री सम्पादित, कलकत्ता, १९३३।

७७. वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा (वार्तिकप्रस्थान परीक्षा) पृ० २२०

७८. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०

घातादि द्वारा निवर्त्य अतीत घटादि में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि मुद्गर या दण्ड प्रहार से जो घट नष्ट हो चुका है, सिद्धान्त पक्ष में तो वह मिथ्या ही है। उस मिथ्या अतीत घट में लक्षण नहीं पहुँचा, क्योंकि वह अतीत घट ज्ञान द्वारा निवर्त्य नहीं, अपितु मुद्गरादि द्वारा निवर्त्य है और यदि सिद्धान्ती 'ज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा मिथ्यात्वम्'[७९] ऐसा कहते हैं, तब अर्थ होगा—'ज्ञानत्वावच्छिन्नकारणतानिरूपित-कार्यतावत् जो नाश,[८०] तन्नाशप्रतियोगित्व मिथ्यात्व' इस प्रकार के अर्थ करने पर भी मुद्गरादि द्वारा नष्ट घटादि में अव्याप्ति तो रहेगी ही, और मिथ्यात्वानुमान का दृष्टान्त भी साध्यविकल है, क्योंकि शुक्तिज्ञान द्वारा रजत का नाश हो गया, ऐसा अनुभव असिद्ध है। इसी प्रकार प्रपंच नाश के प्रति ब्रह्मज्ञान की भी कारणता नहीं है।[८१] यह लक्षण असंभव-दोष युक्त भी है, क्योंकि अपरोक्ष अध्यास का निवर्तक ज्ञान को भी अपरोक्ष ही होना चाहिये, परोक्षज्ञान के द्वारा अपरोक्ष अध्यास की निवृत्ति कैसे हो सकती है? अतः शुक्ति-रजतादि अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कारत्वरूप से ज्ञान निवर्त्य होने पर भी ज्ञानत्वेन ज्ञान-निवर्त्य नहीं हैं। यदि सिद्धान्ती पूर्वोक्त दोषों को दूर करने के लिये 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञान-निवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'[८२] ऐसा कहे तो भी अतिव्याप्ति दोष से मुक्ति नहीं है, जैसेकि ज्ञानत्वव्याप्यधर्म स्मृतित्व और उस स्मृतित्वरूप से ज्ञान-निवर्त्यत्व संस्कार में है। संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। पश्चात् स्मृतिजनक संस्कार नष्ट हो जाते हैं, अतः संस्कार में स्मृतिनाश्यत्व है और स्मृतिनाश्यत्वप्रयुक्त मिथ्यात्व संस्कार में अतिव्याप्त है।[८३] यदि अद्वैतवादी कहे कि संस्कार में स्मृतिनाश्यत्व होने पर भी नाशकतावच्छेदक धर्म स्मृति नहीं अपितु उत्तरवर्ती आत्म-विशेषगुणत्व ही है, अतः ज्ञानत्वव्याप्यधर्मपुरःसर स्मृति संस्कारनाशक नहीं है, आत्मविशेषगुणत्व तो ज्ञानत्वव्याप्य धर्म है नहीं। इस प्रकार अद्वैतवादी का दोषमुक्त होने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि स्मृति स्मृतित्वरूप से ही संस्कार का ही निवर्तक है। आत्मविशेषगुणत्वरूप से निवर्तक मानने पर इच्छा, कृति द्वेषादि को भी, आत्मविशेष-गुण होने के कारण संस्कार निवर्तक मानना पड़ेगा।[८४] ज्ञान प्रागभाव भी ज्ञान-निवर्त्य है, परन्तु मिथ्या नहीं। इस प्रकार 'विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः' इत्यादि श्रुति द्वारा नामरूप की निवृत्ति प्रतिपादित होने पर भी नाम-रूप का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, यही पूर्वपक्ष का आशय है।[८५]

पूर्वपक्ष की ओर से उक्त प्रकार आशंकाओं के करने पर अद्वैतवेदान्ती उत्तर

---

७९. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०
८०. लघुचन्द्रिका—पृ० १६०
८१. लघुचन्द्रिका—पृ० १६०
८२. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०
८३. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०
८४. सिद्धिव्याख्या—पृ० १६०
८५. लघुचन्द्रिका—पृ० १६०

देते हैं कि मिथ्यात्वलक्षण असंभव नहीं है। 'ज्ञाननिवर्त्य' का अर्थ हम इस प्रकार नहीं करते जैसाकि पूर्वपक्षी ने किया है। 'ज्ञाननिवर्त्यत्व' से हमारा तात्पर्य है 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरह-प्रतियोगित्वम्'[८६] अर्थात् ज्ञानप्रयुक्त अवस्थितिसामान्य का अत्यन्ताभाव, उसका प्रतियोगित्व ही ज्ञाननिवर्त्यत्व का अर्थ है और एवंभूत प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है। ज्ञान पद से अधिष्ठानतत्वज्ञान लेना है, अर्थात् अधिष्ठानतत्वज्ञान-व्यापक जो अवस्थितिसामान्य का अत्यन्ताभाव तत्प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है।[८७]

अवस्थिति दो प्रकार की है—स्वरूपतः अवस्थिति और कारण रूप से अवस्थिति,[८८] अर्थात् स्थूलरूप से और सूक्ष्मरूप से अवस्थिति। संस्काररूप से अवस्थिति ही कारणरूपावस्थिति है। सामान्यपद द्वारा दोनों अवस्थितिओं का ग्रहण है, जिसका अर्थ होगा—'अधिष्ठानतत्वज्ञानव्यापक जो स्व और स्वीय संस्कार, एतदन्यतर का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।' स्थूलरूपातिरिक्त पटादि के सूक्ष्मरूप से अवस्थान का अनुभव न होने पर भी कार्य का कारणरूप से सूक्ष्मावस्थान अद्वैतमत में स्वीकार्य है, क्योंकि अद्वैतवादी भी सत्कार्यवादी है[८९] 'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुति से प्रलयकाल में भी कार्य की अनभिव्यक्तरूप अवस्थिति सिद्ध है। दण्डादिप्रहार द्वारा 'घटोनष्टः' इत्यादि लौकिक प्रत्यय से भी नाश प्राप्त घट, घट की उत्तरावस्था है, ऐसा सिद्ध है।[९०]

अद्वैतवेदान्ती अब अव्याप्ति-दोष निराकरण के लिये अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं। लक्षण में 'अवस्थितिसामान्यका अभाव' पद के ग्रहण होने से मुद्गर-पातादि द्वारा घट के नाश होने पर भी वहां पर अव्याप्ति नहीं है, क्योंकि दण्डप्रहारध्वस्त घट का स्वरूपतः नाश हो जाने पर भी उसकी कारणरूप से अवस्थिति है, अतः अवस्थिति सामान्य का विरह नहीं हुआ।[९१] घट की अवस्थितिसामान्य का विरह ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त होगा, न कि मुद्गरादिपात द्वारा। पूर्वोक्त लक्षण में 'ज्ञानप्रयुक्त' पद गृहीत न होने पर शशविषाणादि मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि अवस्थिति-सामान्यविरह तो शशविषाणादि का भी है, परन्तु शशविषाणादि में ज्ञानप्रयुक्तत्व नहीं हो सकता, अतः अलीक पदार्थों में अतिव्याप्तिदोष नहीं है।[९२]

पूर्वपक्षी का कथन कि 'शुक्तिरजत नष्ट हो गया' ऐसा अनुभव नहीं होता, अतएव 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्व' शुक्ति रजत में नहीं है, अतः दृष्टान्त साध्यविकल है और लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है, अयौक्तिक है। माध्वमत

---

८६. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०
८७. लघुचन्द्रिका—पृ० १६०
८८. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६०,१६१
८९. सत्कार्यवादाभ्युपगमात्, वही
९०. लघुचन्द्रिका—पृ० १६१
९१. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६१, १६२
९२. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६३, १६४

में शुक्तिरजत को अलीक स्वीकार करने पर भी सिद्धान्त पक्ष उसे अलीक नहीं मानता। इसमें अनुभव-विरोध है। शुक्ति रजतादि शशविषाणादि के समान अलीक नहीं हो सकते। शशविषाणादि का तो अनुभव ही नहीं होता। शुक्तिरजतादि की प्रतीति होती है। इसलिए शशविषाणादि अलीक से विलक्षण प्रातिभासिकसत्ता स्वीकार करनी ही होगी। शुक्तिरजत प्रत्यक्ष भ्रमज्ञान का विषय है। वह तत्कालोत्पन्न अनिर्वचनीय वस्तु है। बाधकज्ञान शुक्ति साक्षात्कार द्वारा उसका बाध होता है। शुक्तिरजत का बाध भी अनुभवसिद्ध है, अतएव 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्य विरह प्रतियोगित्वम्' शुक्ति-रजत में है। सुतरां लक्षण में अव्याप्ति और अनुमान में साध्यविकलता की शंका निर्मूल है।[६३]

अद्वैत सिद्धिकार ने 'ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरह प्रतियोगित्वरूप मिथ्या-त्व' लक्षण में कार्य का स्वरूपतः और कारणरूप से नाश का समर्थन वार्तिककार और विवरणकार की उक्तिओं को उद्धृत करते हुए किया है। विवरणकार ने कहा है—'अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा सह ज्ञानेन निवृत्तिबाधः'[६४] अर्थात् अज्ञान की वर्तमान स्थूल और कारणरूप से स्थित सूक्ष्म कार्यों सहित ज्ञान द्वारा निवृत्ति ही बाध है।

'ज्ञानेन' का अर्थ ज्ञान द्वारा व्यापक। 'निवृत्ति' का अर्थ है–अत्यन्ताभाव अथवा नाश।[६५] ज्ञानेननिवृत्तिः—ज्ञानव्यापकनिवृत्ति, अथवा ज्ञानाधीननिवृत्ति, दोनों प्रकार कहा जा सकता है। निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव हो तो निवृत्ति ज्ञान का व्यापक, और नाश हो तो निवृत्ति ज्ञानाधीन है। ज्ञानोपत्तिकाल में ही अज्ञान की निवृत्ति रह सकती है। इस कारण ज्ञानव्यापक अर्थ किया गया है। जिस क्षण में ज्ञान की उत्पत्ति हुई, उसी क्षण में अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञानोत्पत्तिकाल के उत्तरक्षण में अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती।[६६] अज्ञाननिवृत्ति-ज्ञानाधीन-इस पक्ष में भी दोष नहीं है, जिस प्रकार घटाधीन घटप्रागभाव की निवृत्ति है अर्थात् घटप्रागभाव की निवृत्ति तभी होती है जब घट उत्पन्न होता है इस कारण घटप्रागभाव की निवृत्ति को घटाधीन कहा जाता है। अथ च घटप्रागभावनिवृत्ति घटस्वरूप होने के कारण घटोत्पत्ति समकालीन है, अतएव तदुत्पत्तिसमकालीन वस्तु में तदधीनत्व रहने में असंगति नहीं है।[६७]

पूर्व पक्ष की ओर से शंका यह की जाती है कि अद्वैतवेदान्त में एक अज्ञानवादी अद्वैतवेदान्ती भी हैं, जिनके अनुसार अज्ञान एक है। वे लोग घटविषयक, पटविषयक या

---

६३. लघुचन्द्रिका—पृ० १६४

६४. पंचपादिका-विवरण—पृ० २१५ (कलकत्ता संस्करण), १९३३।

६५. निवृतिः उक्तात्यन्ताभावः, उक्तानाशोवा। लघुचन्द्रि—पृ० १६४

६६. लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० १६५

६७. घटादिस्वरूपे तत्प्रागभावनिवृत्तित्वविशिष्टे घटाद्यधीनत्ववत्। लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी पृ० १६५

ब्रह्मविषयक अज्ञान को भिन्न-भिन्न नहीं मानते, अपितु सभी एक अज्ञान हैं, ऐसा कहते हैं। उनके अनुसार अज्ञान या अज्ञान-कार्य ब्रह्मज्ञानद्वारा निवर्तनीय हैं। शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक वस्तुओं की निवृत्ति शुक्त्यादि साक्षात्कार से नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर अज्ञान के एक होने से सर्वत्र अज्ञान की निवृत्ति मानी जायेगी और शुक्ति-साक्षात्कार द्वारा मुक्ति प्रसंग हो जायेगा और शुक्तिरजत मिथ्यात्वानुमान में दृष्टान्त भी नहीं बन सकेगा।[९८]

इस आपेक्ष के निराकरण के लिये ही अद्वैतसिद्धिकारादि अद्वैताचार्य अज्ञान को विषयभेद से नाना मानते हैं[९९] अथवा एकाज्ञान पक्ष में मुद्गरपात-द्वारा घटनिवृत्ति स्वरूपतः होने पर भी कारणरूप से निवृत्ति नहीं मानी जाती। इसी प्रकार शुक्तिरजत स्थलादि में भी शुक्तिज्ञान से शुक्ति अज्ञान की मूलतः निवृत्ति नहीं होती, अर्थात् सूक्ष्म रूप से या कारणरूप से शुक्तिविषयक अज्ञान बना ही रहता है। सम्पूर्णरूप से अज्ञान की अवस्थिति का सामान्यविरह ब्रह्मज्ञान से ही होगा, ऐसा मानने पर एक अज्ञान पक्ष में भी दोष नहीं है।

अद्वैतसिद्धिकार कहते हैं कि 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्' यह लक्षण भी निर्दोष है।[१००] इस पर पूर्वपक्षी का यह आक्षेप कि उत्तरज्ञान निवर्त्य-पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, असंगत है, क्योंकि उत्तरज्ञान द्वारा पूर्वज्ञान की निवृत्ति ज्ञानत्वव्याप्यधर्मरूप से ज्ञाननिवृत्ति नहीं है, अपितु स्वोत्तरोत्पन्न आत्मविशेषगुणत्व-रूप से पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान द्वारा निवर्त्य है। पूर्ववर्तीज्ञान को उत्तरज्ञान द्वारा ज्ञानत्व-व्याप्य धर्मरूप से निवर्त्य मानने पर ज्ञानोत्तर जो इच्छा है, उस इच्छा द्वारा ज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। इससे अभिमत सिद्धान्तहानि होगी। आत्म-विशेषगुणों को स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्य माना गया है। इच्छा ज्ञानत्व का व्याप्यधर्मविशिष्ट नही है। इसी प्रकार कृति द्वारा भी इच्छा की निवृत्ति नहीं होगी। ज्ञान, इच्छा, कृति, सुख दुःखादि सभी स्वोत्तरवर्तिआत्मविशेषगुणत्वरूप से आत्मविशेषगुण द्वारा नाश्य हैं।[१०१] इस व्याख्या से उत्तरज्ञान द्वारा निवर्त्य-पूर्वज्ञान में जो अतिव्याप्ति दी गई थी, उसका निराकरण हुआ। इस पर पुनः जो पूर्वपक्ष की ओर से यह शंका की गई थी कि ज्ञानत्व का व्याप्यधर्म स्मृति है, और स्मृतिद्वारा स्मृतित्वरूप से निवर्त्य है संस्कार, एवंभूत स्मृतिनिवर्त्य संस्कारों में अतिव्याप्ति, तथा मिथ्यात्वानुमान में सिद्ध-साधनता-दोष भी है, असंगत है, क्योंकि स्मृतित्व संस्कारों का निवर्तकावच्छेदक धर्म नहीं है। स्मृति की संस्कारनाशकता में कोई भी प्रमाण नहीं, अपितु बाधक-प्रमाण है। स्मृति

९८. लघुचन्द्रिका—पृ० १६९
९९. तत्तद्रूप्योपादानानां अज्ञानानां भेदाभ्युपगमात्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० १६९
१००. अद्वैतसिद्धि—पृ० १७१
१०१. अद्वैतसिद्धि—पृ० १७१, १७६

उत्पन्न होने पर संस्कार नष्ट नहीं होते, किन्तु दृढ़ होते हैं, ऐसा अनुभव सिद्ध है।[१०२] अद्वैतसिद्धिकार ने अन्त में 'साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं विवक्षितम्'[१०३] ऐसा कहा है अर्थात् 'ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण' न कहकर 'साक्षात्कारत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व है', ऐसा कहा है। स्मृति द्वारा संस्कारों के नाश होने पर भी स्मृतित्वरूप से ज्ञानत्वव्याप्य धर्म से संस्कारों का नाश होता है, न कि साक्षात्कारत्वरूप से। इस प्रकार उत्तरज्ञान निवर्त्य-पूर्वज्ञान में भी अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि 'साक्षात्कारत्वधर्मेण ज्ञाननिवर्त्यत्व' ही मिथ्यात्व कहा गया है।

चतुर्थ मिथ्यात्व लक्षण (चित्सुखाचार्य के अनुसार) :

चित्सुखाचार्य द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व-लक्षण इस प्रकार है –"सर्वेषामपिभावानांस्वाश्रयत्वेन संमते। प्रतियोगित्वमत्यन्तवाभावं प्रति मृषात्मता"।[१०४] इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने इस रूप में प्रस्तुत किया है—'स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं वा मिथ्यात्वम्'[१०५] अर्थात् मिथ्यावस्तु के आश्रय के रूप में अभिमत जो अधिकरण तदधिकरण में जो अत्यन्ताभाव, उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्या है, जैसा कि पटादि भाववस्तुओं के आश्रय रूप से अभिमत अर्थात् प्रतीत जो तन्तु आदि, तन्निष्ठ पटादि का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[१०६] जहां पर जो वस्तु वस्तुतः नहीं है, वहां पर वह वस्तु प्रतीत होने पर भी वह मिथ्या है। तन्तु प्रभृति पटादि के कारण हैं और पटादि की यदि किसी समय कहीं पर सत्ता हो तो तन्तुओं में ही संभव है। तन्तुओं को त्यागकर पट की सत्ता अन्यत्र संभव नही[१०७] और उन तन्तुओं में ही यदि पट की सत्ता का अभाव हुआ अर्थात् अभाव सिद्ध किया गया, तब तो गलपादुकान्याय से अर्थात् बलात् पट का मिथ्यात्व स्वीकार करना पड़ेगा।[१०८] कार्य की सत्ता कारण में ही होती है और कारण में कार्य की सत्ता का अभाव सिद्ध हो जाने पर कार्य मिथ्या ही होगा। इस पर पूर्वपक्ष की ओर से शंका उठायी गई कि आश्रित घटादि वस्तुओं का मिथ्यात्व इस प्रकार सिद्ध होने पर भी अनाश्रित परमाणु और आकाशादि वस्तुओं में लक्षण अव्याप्त है, क्योंकि नित्यपरमाणु (न्यायविशेषकादि के मत में) और नित्य आकाश किसी में भी आश्रित नहीं हैं, अतएव प्रपंच में सर्वत्र लक्षण

---

१०२. स्मृतौ हि जातायां संस्कारो दृढ़ोभवतीत्यनुभवसिद्धम्। अद्वैतसिद्धि—पृ० १७७

१०३. अद्वैतसिद्धि—पृ० १७८

१०४. चित्सुखी—पृ० ३९

१०५. अद्वैतसिद्धि—पृ० १८२

१०६. तथा हि घटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमेव तेषां मिथ्यात्वम्।
चित्सुखी—पृ० ३९

१०७. नहितेषामन्यत्र सत्ता संभाविनी। वही

१०८. तत्रापि चेत्सा नस्यात्तदागलेपादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत। वही—पृ० ३९, ४०

नहीं गया।[१०९] पूर्वपक्ष के इस आक्षेप के उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि अद्वैतमत में ब्रह्मातिरिक्त यावत् वस्तुएं आश्रित हैं। रजतादि जिस प्रकार शुक्ति में आश्रित हैं, इसी प्रकार समग्रप्रपंच ब्रह्माश्रित हैं। एकमात्र ब्रह्म ही अनाश्रित है। इसी प्रकार लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि ब्रह्म किसी में भी आश्रित नहीं है।[११०] परस्पर घटादि के साथ तादात्म्याध्यास होने पर भी सत् ब्रह्म आश्रित नहीं है। घटादिपदार्थ एवं तदध्यासादि ब्रह्मरूप कारण में कल्पित ही तो हैं। पुनश्च पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि न्यायमत में संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति माना जाता है, अतएव यह माना जा सकता है कि एक वस्तु के एक अंश में संयोग है, अन्य अंश में नहीं, तब तो कहना होगा कि संयोगाधिकरण में ही संयोगाभाव है। इस प्रकार संयोग में भी मिथ्यात्व आ जाता है, अतः अर्थान्तरता है।[१११] इसका उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं, कि भाव और अभाव को यदि एकाधिकरण माना जाय अर्थात् एक ही अधिकरण में संयोग और संयोगाभाव को स्वीकार कर लेने पर विरोध का नाम ही जगत् से उठ जायेगा,[११२] क्योंकि संसार में जहां भी विरोध है चाहे दो भाव पदार्थों में ही क्यों न हो, भावाभाव-प्रयुक्त विरोध हुआ करता है। गोत्वाश्वत्वादि विरोध भी भावाभावप्रयुक्त-विरोध हैं, अर्थात् गोत्व और गोत्वाभाव परस्पर-विरुद्ध हैं, अतएव गोत्वाभावव्याप्य अश्वत्व में भी विरोध रहेगा। पूर्वपक्षी स्वयं स्वीकार करते हैं कि एक ही वस्तु में जब भावाभाव होते हैं तो समानांश को लेकर नहीं, अपितु अन्यांश को लेकर ही हो सकते हैं। इसका अर्थ हुआ शाखांश में कपिसंयोग है, और मूलांश में संयोगाभाव है, तब तो सिद्धान्ती भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि अवच्छेदक धर्म भिन्न होने से अधिकरण भी विशेषणप्रयुक्त भिन्न हो जायेगा। शाखावच्छेदेन कपिसंयोगी वृक्ष है और मूलावच्छेदेन नहीं है, अतएव अव्याप्ति नहीं है। वस्तुतः अद्वैतवेदान्ती अव्याप्यवृत्ति स्वीकार ही नहीं करते। संयोगादि भी व्याप्यवृत्ति हैं। जहां पर संयोग होता है उस संयुक्त स्थान को व्याप्त करके होता है। वृक्षः कपिसंयोगी' में शाखा ही कपिसंयोगी है, वही संयोगाधिकरण है। संयोगादि की अव्याप्यवृत्तिता स्वीकार करने पर अवच्छेदक परम्परा के पीछे अनवस्था होगी। संयोगादि को अव्याप्यवृत्ति स्वीकार करने पर भी अर्थान्तरता नहीं है, तब लक्षण की व्याख्या इस रूप में करनी होगी—''जहाँ पर जो वस्तु यदवच्छेदरूप में जिस सम्बन्ध से हो, वहां पर उस वस्तु के तदवच्छेदरूप में और उस सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव का

---

१०९. वही—पृ० ४०

११०. चित्सुखी—पृ० ४०

१११. वही

११२. भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्तजलांजलिताप्रसंगात्। वही

प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है ।"[113] अथवा मिथ्यात्व घटक अत्यन्ताभाव में 'अवच्छिन्न-वृत्तिकान्यत्व'[114] विशेषण देना होगा । इसका अर्थ होगा निरवच्छिन्नवृत्तिक अत्यन्ताभाव । 'वृक्षः कपिसंयोगी' में जो अर्थान्तरता दी गयी थी, वहां पर संयोगाभाव मूलावच्छेदेन होने के कारण, अत्यन्ताभाव निरवच्छिन्न वृत्तिक नहीं हुआ, अतएव अर्थान्तरता का प्रसंग ही नहीं ।

माध्वमत में शुक्तिरजत को असत् ही माना जाता है और न्यायवैशेषिक के मत में व्यावहारिक रजत का ही 'अत्र' देशान्तर में भान माना जाता है । इस प्रकार असत्-ख्याति और अन्यथाख्यातिवारण के लिये चित्सुखाचार्य द्वारा प्रस्तुत मिथ्यात्व-लक्षण 'स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्' का अर्थ 'स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्'[115] ऐसा किया गया है । ऐसा अर्थ करने पर किसी प्रकार के दोष नहीं हैं । इस लक्षण का अर्थ है, जो केवल स्व-अपना अत्यन्ताभाव के अधिकरण में ही प्रतीत हो, अन्यत्र कहीं भी प्रतीत न हो—वही मिथ्या है । शुक्तिरजतत्व किन्तु प्रतिवादी के मत में स्वात्यन्ताभावाधिकरण के अतिरिक्त आपणादि में भी रहता है, अतः सिद्धसाधनता का दोष नहीं है । पूर्वपक्ष की ओर से पुनः शंका उठायी गयी है कि संयोग सम्बन्ध से भूतल में घटाभाव घट के रहते हुए नहीं रह सकता । इसी प्रकार कपालादि में समवाय सम्बन्ध से घटाभाव भी नहीं रहा सकता, अर्थात् घटसंयुक्तभूतल में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटात्यन्ताभाव एवं घटसमवायिकपालद्वय में समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोकिताकघटात्यन्ताभाव संभवपर नहीं है । अत्यन्ताभाव के साथ अत्यन्ताभावप्रतियोगी का विरोध प्रमाण सिद्ध है । घटादि के मिथ्यात्व प्रतिपादन में सिद्धान्ती ने जो प्रतियोगी के साथ उसके अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य अर्थात् अविरोध कहा है, असंगत है ?[116] इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि समान सत्ताक-अभाव और प्रतियोगी में विरोध होने पर भी भिन्नसत्ताकाभाव और प्रतियोगी में विरोध नहीं है ।[117] समवायसम्बन्ध से ही समवायिकपालद्वय में और संयोग-सम्बन्ध से ही भूतल में घटके व्यावहारिक रूप से रहते हुए भी पारमार्थिकरूप से घटात्यन्ताभाव है । चित्सुखाचार्य के लक्षण में कहा गया है 'स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगीत्वं मिथ्यात्वम्' और विवरणाचार्य प्रदर्शित प्रथम लक्षण में कहा गया है 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वम्' उभय लक्षणों में विशेष्यदल समानार्थक है, क्योंकि अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व और त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व में आर्थिक अन्तर नहीं है

---

११३. येन सम्बन्धेन यद्वत्तया प्रतीतं यद्यत् तन्निष्ठाभावीयं तत्सम्बन्धावच्छिन्नं प्रतियोगित्वमिति लघुचन्द्रिका—पृ० १८३

११४. वस्तुतस्तु अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वमेव तदधिकरणात्यन्ताभावे देयम् । लघुचन्द्रिका—पृ० १५१

११५. अद्वैतसिद्धि – पृ० १८१,१८२

११६. अद्वैतसिद्धि, सिद्धिव्याख्या पृ० १५०

११७. समानसत्ताकयों भावाभावयोर्विरोधे स्वीकृतेऽपि न क्षतिः, मिथ्यात्वघटकाभावस्याधिष्ठानस्वरूपत्वेन प्रतियोगिभिन्नसत्ताकत्वादिति । लघुचन्द्रिका पृ० १८९

और दोनों लक्षणों में विशेषणदल भी समान है, क्योंकि प्रतियोगीका अधिकरण और प्रतिपत्तिअधिकरण इस प्रकार इनमें भी आर्थिक अन्तर नहीं है, इसलिए मिथ्यात्व चतुर्थलक्षण में पुनरुक्ति वारण के लिये अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने चित्सुखाचार्य के लक्षण को परिवर्तित कर 'स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानत्वम्' इस रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें मात्र विशेष्य और विशेषणदलों में विपर्यास हुआ है। इस प्रकार पुनरुक्ति का निराकरण किया गया।

मिथ्यात्व का पंचमलक्षण (आनन्दबोध भट्टारकाचार्य के अनुसार):—

पूज्यपाद आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ने न्यायदीपावलि ग्रन्थ में 'विवादपदं मिथ्या, दृश्यत्वात्'[११८] इत्यादि प्रकारों से मिथ्यात्व का अनुमान प्रस्तुत किया है। इसी प्रसंग में लक्षण में साध्य की प्रसिद्धि पर विचार करते हुए उन्होंने 'सत्यविवेक'[११९] को ही मिथ्या कहा है, अर्थात् 'सत्यभिन्नत्व' ही मिथ्यात्व का लक्षण हुआ। इसी लक्षण को अद्वैतसिद्धिकार ने—'सद्विविक्तत्वं वा मिथ्यात्वम्'[१२०] इस रूप में अद्वैतसिद्धि में प्रस्तुत किया है। 'सद्विविक्तत्व' का अर्थ है, सत् का भेद अर्थात् सत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक-भेद। विवेक पद का अर्थ भेद ही लेना है। एकमात्र ब्रह्म ही सद्वस्तु है। वियदादि प्रपंच सद् ब्रह्म से भिन्न है, अतएव मिथ्या है। वियदादि प्रपंच ही मिथ्यात्वलक्षण का लक्ष्य है, अतः लक्षण का समन्वय हुआ। इस पर शंका होती है कि यदि सद्भिन्नत्व ही मिथ्यात्व है, तब तो एक सद्वस्तु पट से अपर सद्वस्तु पट भिन्न ही है, अतः एवंभूत सद्भेद में लक्षण की अतिव्याप्ति होने के कारण मिथ्यात्व लक्षण में सिद्धसाधनता होगी? पूर्वपक्ष की इस शंका के उत्तर में अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि 'सद्विविक्तत्व' का अर्थ सद्भेद न लेकर 'सद्रूपत्वाभाव' ऐसा लेना चाहिए। घटादि सद्वस्तु पटादिसद् वस्तुओं से भिन्न स्वीकृत होने पर भी पूर्वपक्षी के अनुसार कभी भी घटादि वस्तुओं में सद्रूपत्वाभाव स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुसार पटादिवस्तुओं में सद्रूपत्व है। सत्व का लक्षण है 'प्रमाणसिद्धत्व'[१२१] और प्रमाण दोषासहकृतज्ञानकरणत्व'[१२२] होना चाहिए। अर्थात् भेद का जो प्रतियोगितावच्छेदकसत्व है, वह प्रमाणसिद्ध होना चाहिए। प्रमाणसिद्ध का अर्थ प्रमाणजन्यविषयत्व है और प्रमाण है 'दोषाजन्यप्रमाणज्ञान का करण'। एवंभूतप्रमाणसिद्ध सत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो भेद, वही मिथ्यात्व है। वियदादिप्रपंच का ज्ञान दोषजन्यप्रमाणसिद्ध है, अतएव लक्षण की संगति है। यदि कहा जाय कि वेदान्तमहावाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्तिरूप ज्ञान भी तो अविद्यारूपदोषजन्य है। तब तो ब्रह्मज्ञान को भी

---

११८. न्यायदीपावलि पृ० १ आनन्दबोध, चौखम्बा, १९०१।
११९. सत्यविवेकस्य मिथ्याभावस्य साध्यत्वान्नाप्रसिद्ध विशेषणता, वही।
१२०. अद्वैतसिद्धि—पृ० १९५
१२१. अद्वैतसिद्धि—पृ० १९५
१२२. वही । १९५, १९७

दोषजन्य मानना पड़ेगा ? इसका उत्तर यह है कि दोषासहकृत का अर्थ है–दोषरूप से दोषाजन्य । दोषसहकृतकारण जिस ज्ञान का जनक होता है, वह ज्ञान भ्रम होगा । उस ज्ञान का करण भी प्रमाण नहीं माना जायेगा । तत्वमस्यादिमहावाक्यजन्य अन्तःकरणवृत्तिज्ञान में परिणामी उपादानरूप से अविद्याजन्यता है, किन्तु दोषरूप से अविद्याजन्यता नहीं है, क्योंकि दोषरूप से कारणत्व निमित्तकारण होता है, उपादान नहीं । इसलिए अद्वैतमतानुसार वेदान्त महावाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्तिरूपज्ञान दोषाजन्यज्ञान है, अतएव प्रमाणज्ञान है ।[१२३] प्रपंच वियदादि का ज्ञान अविद्यादोषजन्य है, अतः मिथ्यात्व का लक्षण प्रपंच में संगत है । जिस प्रकार स्वप्नदृष्ट गजादि मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत प्रपंच को भी समझना चाहिये ।[१२४] आनन्दबोधाचार्य ने सत्य का लक्षण दिया है 'सत्यं अबाध्यंबाध्यं मिथ्येति तद्विवेकः'[१२५] इसी सत्य पद की ही अद्वैतसिद्धिकार ने 'सत्व' पद से व्याख्या की है । पूर्वपक्षकी ओर से पुनः शंका की गई कि सिद्धान्तमत में असत् शशविषाणादि का ज्ञान नहीं होता, इसलिये उक्त मिथ्यात्वलक्षण अलीक शशविषाणादि में अतिव्याप्त है ।[१२६] दोषाजन्य-ज्ञानकरणजन्य-ज्ञानविषय-भिन्नत्व ही मिथ्यात्व है और एवंभूतभिन्नत्व ज्ञानाविषय शशविषाणादि में भी नहीं है; इसी प्रकार कुछ वेदान्तैकदेशी शुद्ध ब्रह्म को वृत्तिविषय नहीं मानते, उनके मतानुसार उक्त प्रकार ज्ञानविषय का भेदरूप मिथ्यात्व शुद्ध ब्रह्म में भी है, अतः शुद्धब्रह्म में भी अतिव्याप्ति है ।[१२७] इस शंका के उत्तर में अद्वैतसिद्धिकार कहते हैं कि यहां भी अतिव्याप्तिवारण के लिये 'सत्वेन प्रतीयमानत्व' विशेषण देना होगा ।[१२८] इसका अर्थ हुआ जो सत्वरूप से प्रतीति का विषय होता हो और दोषाजन्यज्ञान विषयभिन्नत्व भी हो, वही मिथ्या है । इस लक्षण के अनुसार शशविषाण और ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी । असद् वस्तु की सत्वप्रकारक प्रतीति नहीं होती, और जो लोग शुद्धब्रह्म को अखण्डाकारवृत्तिविषय नहीं मानते, उनके अनुसार शुद्धब्रह्म भी प्रतीति का विषय नहीं है, अतएव शुद्ध ब्रह्म में भी अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता ।

यहां पर 'सत्वेनप्रतीयमानत्वेसतिसद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्' ऐसा लक्षण बना । इस लक्षण के साथ प्रथममिथ्यात्व लक्षण की पुनरुक्तिवारण के लिये ही इस पंचम लक्षण में सत्व का अर्थ 'प्रमाणसिद्धत्व' किया गया है । 'सद्विविक्तत्वं मिथ्यात्वम्' इस लक्षण में 'सद्विविक्तत्व' का अर्थ 'सद्रूपत्वाभाव' किया गया था, न्याय के

---

१२३. लघुचन्द्रिका—पृ० १६५

१२४. तेन स्वप्नादिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन मिथ्यात्वं सिद्ध्यति ।
अद्वैतसिद्धि—पृ० १६७

१२५. न्यायदीपावलि—पृ० १

१२६. दोषाजन्यधीविषयान्यत्वमलीके अतिव्याप्तम् । लघुचन्द्रिका—पृ० २०१

१२७. ब्रह्मतु स्वप्रकाशत्वादुपहिततादात्म्यान्यभावरूपधर्मानाधारत्वाच्चन वृत्तिविषयः, अतः तत्रापितद्वतिव्याप्तमिति भावः । लघुचन्द्रिका—पृ० २०१

१२८. अद्वैतसिद्धि—पृ० २०२

अनुसार सत्ता जाति जिसमें है वही सत् माना जाता है पूर्वपक्षी नैयायिक का कहना है, ब्रह्म में सत्ताजाति है नहीं, क्योंकि सिद्धान्ती के अनुसार ब्रह्म निर्धर्मक है अर्थात् सर्वधर्मशून्यतारूप है, अतः सद्रूपत्वाभाव होने के कारण ब्रह्म में लक्षण की अतिव्याप्ति हुई। इस पर अद्वैतवादी का कहना है कि पूर्वपक्ष का यह कथन स्वयं पूर्वपक्ष में भी सत्य नहीं है, क्योंकि सत्ताजाति जिसमें हो वही सत्, सत्ताजाति जिसमें न हो, वह असत्, ऐसा नियम स्वयं सत्ताजाति के लिये लागू नहीं है। पूर्वपक्षी सत्ताजाति को सत्ताशून्य होने पर भी सत् मानते हैं, सत्ताजाति स्वरूपसम्बन्ध से सत् है, ऐसा पूर्वपक्षी का सिद्धान्त है। यदि सत्ताजाति सत्ताशून्य होकर भी सत् हो सकती है तो ब्रह्म भी सत्ताजातिशून्य होकर सत् क्यों नहीं हो सकेगा? ब्रह्म में सद्रूपत्व नहीं है, परन्तु स्वरूपतः ब्रह्मसत् है, अतः ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं है।

——

५

मिथ्यात्व में प्रमाण तथा मिथ्यात्व-मिथ्यात्व-निरुक्तिः

मिथ्यात्वानुमान—

हमने तृतीय अध्याय के पूर्वपक्ष में मिथ्यात्वानुमान के विरुद्ध न्यायामृतकाराभिमत पूर्वपक्ष की विवेचना की है; अब अद्वैतवेदान्त के अनुसार मिथ्यात्वानुमान विचार किया जाता है।

चित्सुखाचार्य ने मिथ्यात्व का सिद्धान्त अनुमान निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है—'विमत: पट: (पक्ष) एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी (साध्य) अवयवित्वात् (हेतु) पटान्तरवत् (दृष्टान्त)।[1] इसका अर्थ है—विवादास्पद पट एतत्तन्तुनिष्ठ-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि यह अन्य पट के समान ही अवयवी है। भावार्थ है कि अन्य पट जिस प्रकार अवयवयुक्त हैं, उसी प्रकार यह पट भी अवयवयुक्त होगा, जो अवयवयुक्त होगा वही मिथ्या है। अर्थात् स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अतः यह पट भी मिथ्या ही है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अवयवी मिथ्या है, अवयवी अवयवों में होता है। जिसके अवयव-अर्थात् अंश है, उसका परिवर्तन भी होगा, परिवर्तनशील वस्तु ही मिथ्या है। दृष्टान्त पटान्तर में अवयवित्वरूप हेतु है। साथ में एतत्तन्तुओं में पटान्तर का अत्यन्ताभाव भी है, अर्थात् पटान्तर में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप साध्य भी है, अतः व्याप्तिसिद्धि है। अवयवित्वरूप हेतु पक्ष में विवादास्पद-पट में है, अतः हेतु का पक्ष वृत्तित्व सिद्ध हुआ। हेतुबल से पक्ष में साध्य को अवश्य होना चाहिए, क्योंकि जहां हेतु है, वहीं साध्य होगा, ऐसा नियम है। इस प्रकार इस पट में एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व सिद्ध होता है, अर्थात् इस पट के अवयव तन्तुओं में ही इस पट का अत्यन्ताभाव वर्तमान है। इस प्रकार स्वाश्रय अर्थात् स्वाधिकरण में स्वात्यन्ताभाव होने के कारण वह वस्तु मिथ्या है; इसलिए इस पट का मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, क्योंकि सभी वस्तुएं स्वाधिकरण में रहती हैं, अन्याधिकरण में तद्वस्तु का अत्यन्तभाव तो सिद्ध ही है, यदि स्वाधिकरण में भी उस वस्तु का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो गया तब मिथ्या नहीं तो क्या है? इस अनुमान में जिस प्रकार पट को पक्ष बनाया गया है, इसी प्रकार गुणादि को पक्ष कर के भी उनकी मिथ्यात्वसिद्धि की जा सकती

---

१. चित्सुखी—पृ० ४०, ४१।

अद्वैतसिद्धिकार ने मिथ्यात्व के उक्त अनुमान को इस प्रकार प्रस्तुत किया है— अयं पट: एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अंशित्वात् इतरांशिवत्। अद्वैतसिद्धि—पृ० ३२२।

है। गुण, कर्म, जाति आदि की मिथ्यात्वसिद्धि तत्तदाश्रय में हो जाएगी।[२]

उक्त अनुमान में पट को पक्ष न रखकर यदि घट को पक्ष रखते तो सिद्ध-साधन दोष होता। तन्तुओं में घटादि का अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व तो है ही, अर्थात् तन्तु-उपादान में घट तो रहता नहीं, अतः सिद्धसाधनदोष निश्चित है। घट की मिथ्यात्वसिद्धि के लिये घटाश्रय अर्थात् घटोपादान कपालों में घटात्यन्ताभाव है, ऐसा सिद्ध करना होगा, तभी उसकी मिथ्यात्वसिद्धि होगी, इसलिए तन्तु पद से 'उपादान' लेना होगा। अद्वैतसिद्धिकार ने इसीलिए कहा है 'तन्तुपदमुपादानपरम', 'एतेनोपादाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वसिद्धि'।[३] पूर्वपक्षी की ओर से शंका की गयी कि उक्त अनुमान में जो अत्यन्ताभाव-प्रतियोगित्व कहा गया है, वह अत्यन्ताभाव प्रामाणिक है अथवा प्रातिभासिक? प्रथम पक्ष नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि अभाव को प्रामाणिक स्वीकार करने पर ब्रह्मातिरिक्त अभाव का अस्तित्व भी स्वीकार करना होगा, अर्थात् द्वैतापत्ति होगी। अभाव का निरूपण प्रतियोगिनिरूपणाधीन होता है, अतः यदि अभाव प्रामाणिक है तो प्रतियोगी भी प्रामाणिक होगा। इस प्रकार द्वैतापत्ति होगी।[४] इस आक्षेप का उत्तर है कि अभाव को प्रामाणिक मानने पर भी अद्वैतहानि नहीं है। मण्डनादि कुछ भावाद्वैतवादी आचार्यों के अनुसार भाव वस्तु ब्रह्म जिस प्रकारपरमार्थिक है, उसी प्रकार अभाव वस्तु अविद्यानिवृत्ति भी पारमार्थिक है। अभाव पदार्थ द्वितीय रहने पर भी अद्वैत की क्षति नहीं है। मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में अविद्यानिवृत्ति को ब्रह्मातिरिक्त अभाव पदार्थ स्वीकार किया है।[५] अन्याचार्य जो मण्डनोक्त भावाद्वैत को स्वीकार नहीं करते, एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त भावरूप अथवा अभाव रूप किसी भी प्रकार द्वैत को नहीं मानते, उनके अनुसार परमार्थ सत् एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी भाव-अभाव पदार्थ मिथ्या हैं। अनुमानोक्त अत्यन्ताभाव को प्रामाणिक मानने पर भी वह व्यावहारिक प्रमाणसिद्ध है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से वह सत्य है। ब्रह्म की सत्ताव्यावहारिक नहीं है, अपितु पारमार्थिक है, पारमार्थिक सत् ब्रह्म के साथ व्यावहारिक सत् वस्तु का विरोध नहीं है।[६] शुक्ति में प्रतीयमान प्रातिभासिक रजत के साथ व्यावहारिक सत्यवस्तु का विरोध नहीं है। इसी प्रकार व्यावहारिक सत्यवस्तु के साथ पारमार्थिक सत्यवस्तु का भी विरोध नहीं, और अभाव के प्रामाणिक होने पर अभाव का प्रतियोगी भी प्रामाणिक होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। शुक्ति में रजतभ्रम के अनन्तर 'नेदं रजतम्' ऐसा जब बाध होता है, उस समय

---

२. चित्सुखी तथा नयनप्रसादिनी—पृ० ४१।

३. अद्वैतसिद्धि पृ० ३२३।

४. अभावानां प्रामाणिकत्वे तैरेव द्वैतापत्तेः। चित्सुखी—पृ० ४१।

५. द्विविधा धर्माः—भावरूपा अभावरूपाश्चेति तत्राभावरूपा नाद्वैतं विघ्नन्ति। ब्रह्मसिद्धि—पृ० ४।

६. अभावानां प्रामाणिकत्वेऽपि सदद्वैताव्याकोपात्। चित्सुखी—पृ० ४१।

'नेदं रजतम्' यह अभाव तो प्रामाणिक ही होता है, किन्तु उसका प्रतियोगी शुक्ति रजत तो प्रामाणिक नहीं होता ? इसलिए प्रामाणिक अभाव का प्रतियोगी भी प्रामाणिक होगा, यह पक्ष युक्तिहीन है।[७]

द्वितीय पक्ष में पूर्वपक्षी का कहना है कि अत्यन्ताभाव को प्रातिभासिक स्वीकार करने पर प्रतियोगी भी प्रातिभासिक होगा,—ऐसा नियम नहीं है। पूर्वपक्षी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि—जब किसी को सत्य रजत में 'यह कांच है,' 'रजत नहीं', इस प्रकार भ्रम होता है, उस समय रजताभाव मिथ्या ही है, किन्तु इससे प्रतियोगी रजत तो मिथ्या नहीं होता। इसका उत्तर भी सिद्धान्ती अभाव को व्यावहारिक मानकर ही देते हैं, अर्थात् उक्त अनुमान में अत्यन्ताभाव को अद्वैतवादी प्रातिभासिक नहीं, अपितु व्यावहारिक मानते हैं।

पूर्वपक्ष के अवतरण में पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'अयं पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगी' इत्यादि अनुमान में आश्रयपट यदि अप्रामाणिक है तो आश्रयासिद्धिदोष होगा और यदि प्रामाणिक है तो धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा ही पक्ष पटादि का मिथ्यात्व असिद्ध होगा। इसके उत्तर में अद्वैतवादी का कहना है कि उक्त आश्रयासिद्धि-दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि पक्ष का पारमार्थिक प्रामाण्य न होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्य माना जाता है।[८] पक्ष को पारमार्थिक प्रमाणसिद्ध अद्वैतवादी नहीं स्वीकार करते, इसलिए धर्मिग्राहक प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व असिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी पुनः प्रपंच सत्यत्वानुमान उपस्थापित करते हुए कहते हैं—प्रपंचः (पक्ष) तत्वावेदक प्रमाणविषयः (साध्य) धर्मित्वात् (हेतु) आत्मवत् (दृष्टान्त)[९] अर्थात् घटादि प्रपंच पारमार्थिक प्रमाण के विषय हैं क्योंकि वे आत्मा के समान धर्मी हैं। स अनुमान में सिद्धान्ती 'आत्मत्व' को उपाधि दिखाते हुये अनुमान को दोषयुक्त बताते हैं।[१०] अनुमान का दृष्टान्त आत्मा में आत्मत्व है, किन्तु प्रपंच रूप पक्ष में आत्मत्व नहीं है। शुक्ति-रजत संसर्गादि में उपाध्यभाव है। साथ में साध्यभाव अर्थात् पारमार्थिक प्रमाणाविषयत्व भी है, इसलिए उक्तानुमान में आत्मत्व को उपाधि मानना ही होगा। आत्मत्व धर्म सत्यत्व का व्यापक है। द्वैतवादी के अनुमान के विरोध में 'प्रपंचः सत्यत्वाभाववान् आत्मत्वाभावात्' इस प्रकार का प्रतिरोध अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार 'विमतः पटः' इस अनुमान में अवयवित्वरूप हेतु भी हेत्वाभासदोषयुक्त नहीं है। पक्ष पट सावयव है, इसलिए हेतु में स्वरूपासिद्धिहेत्वाभास-दोष भी नहीं है। इसी प्रकार आत्मातिरिक्त सभी वस्तुएं मिथ्या हैं; अतएव एकमात्र आत्मा

---

७. चित्सुखी—पृ० ४१।

८. सांव्यावहारिकप्रमाणोपनीतस्याप्याश्रयत्वोपपत्तेः। चित्सुखी पृ० ४२।

९. वही।

१०. आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात्।
वही।

ही अनुमान का विपक्ष है। विपक्ष आत्मा में अवयव या अंश नहीं होने के कारण हेतु का विपक्षवृत्तित्व नहीं हुआ, इसलिए विरुद्धनामक हेत्वाभास भी नहीं है, इसी कारण अनैकान्तिकता भी नहीं है।[11] 'बाध' भी नहीं दिया जा सकता। यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि प्रत्यक्षद्वारा बाध दिया जा सकता है, अनुमान द्वारा पट के स्वाधिकरण में तन्तुनिष्ठत्वाभाव सिद्ध करने पर भी 'इह तन्तुषु पटः' इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा पट का तन्तुनिष्ठत्व जाना जाता है, अतः 'कालात्ययापदिष्ट अर्थात् 'बाध' नामक हेत्वाभास है।[12] सिद्धान्ती का उत्तर है कि जो प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है, वही प्रामाणिक होगा और प्रत्यक्षबाधित होने पर अनुमान भी दोषदुष्ट होगा, ऐसा कहा नहीं जा सकता। 'आकाश नीला है' एवं प्रकार प्रत्यक्ष होने पर भी आकाश में नीलत्व प्रामाणिक नहीं माना जाता। आत्मरूप दृष्टान्त की सहायता से विभुत्व हेतु द्वारा आकाश में अरूपित्वानुमान किया जा सकता है, इसमें 'बाध' हेत्वाभास नहीं हो सकता।[13] सूर्य को प्रत्यक्ष द्वारा हम एक थाली के समान आकारविशिष्ट देखते हैं, परन्तु विज्ञान द्वारा प्राप्त यह ज्ञान कि 'सूर्य बहुत ही बड़ा है', उक्त प्रत्यक्ष द्वारा बाधित नहीं होता अपितु प्रत्यक्ष ही बाधित होता है। इसी प्रकार सूर्य की गति के विषय में कि सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है, इस प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रामाणिकता को विज्ञान का यह ज्ञान कि पृथ्वी चलती है, न कि सूर्य, बाधित करता है, अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष सब समय अनुमानादि को बाधित करता है। इस पर पूर्वपक्षी की पुनः शंका हुई कि प्रत्यक्ष के विरोध होने पर भी यदि 'बाध' नहीं होता तब तो 'अग्नि शीतल है' इस प्रकार अनुमान करने पर भी बाध नहीं होगा ? इस प्रकार से 'बाध' नामक हेत्वाभास ही विलुप्त हो जायेगा। सिद्धान्ती का उत्तर है कि 'अग्नि के शैत्यानुमान में उभयवादिसमंत प्रबल प्रत्यक्षप्रमाण के बाध होने के कारण बाध नामक हेत्वाभास हो सकेगा। जहां पर बाध उभयवादिसिद्ध नहीं है, वहां पर बाध हेत्वाभास को अवसर नहीं है।[14]

पूर्वपक्षी ने प्रपंचमिथ्यात्वसाधक उक्त अनुमान में सत्प्रतिपक्षनामक हेत्वाभास दिखाने के लिए प्रतिरोधानुमान प्रस्तुत किया था—"प्रपंचः सत्यः प्रमाणसिद्धत्वादित्यादि", किन्तु एवं प्रकार प्रतिरोधानुमान भी असिद्ध है, क्योंकि प्रपंचः पक्ष में प्रमाणसिद्धत्वरूप हेतु है ही नहीं।[15]

---

११. चित्सुखी—पृ० ४३।

१२. प्रत्यक्षेण तन्तुनिष्ठतया पटस्यावगमात्……कालात्ययापदिष्टतेति। चित्सुखी—पृ० ४३।

१३. नभसि नीलिमेति प्रत्यक्षाभिमतप्रत्ययबाधेनारूपित्वानुमानप्रवृत्तिवत् अत्राप्यनुमानप्रवृत्युपपत्तेः। वही।

१४. दहनशैत्यानुमानादेरप्यप्रतिबद्धप्रसरतया कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रास्तमियादिति वाच्यम्। तत्रतत्रोभयवादिसमंतप्रबलप्रमाणे परिपन्थिनि जाग्रति तस्यानिरंकुशप्रसरत्वात्। चित्सुखी—पृ० ४३।

१५. वही।

पूर्व पक्ष ३ अध्याय में द्रव्यत्व हेतु द्वारा इस घट में इस घटनिष्ठ बाध्यभेदातिरिक्त अबाध्यभेद है, इस प्रकार सत्य भेद का अनुमान प्रस्तुत किया गया था, परन्तु वह अनुमान अद्वैत श्रुति के विरुद्ध है, अतः हेतु बाधदोष दुष्ट है। दुष्ट हेतुयुक्त अनुमा-उपेक्षणीय है। 'नेह नानाऽस्ति किंचन, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति द्वारा जगत् और जगद्भेद का मिथ्यात्व प्रतिपादित है। भेद का स्वरूपनिर्धारण नहीं हो सकता। नृसिंहाश्रम ने अद्वैतदीपिका में भेद-खण्डन करते हुए कहा है—'किंच न तावदन्योन्याभावोभेदः तत्प्रतियोगिनोऽनिरूपणात् तथाहि न तावद्घटादिःप्रतियोगी संसर्गाभावस ां कर्यप्रसंगात्'[16] इसी प्रकार आनन्दबोधाचार्य ने भी भेदज्ञान को अप्रामाणिक कहा है—'विवादपदं भेदसंवेदनं न प्रमाणनिबन्धनम् अनिरूपितप्रमाणकत्वात् भेदसंवेदनत्वाद्वा स्वप्नभेदावभासनवत्'।[17]

अब पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि मिथ्यात्वानुमान का मिथ्यात्वानुमान अन्य मिथ्यात्वानुमान द्वारा गृहीत है या इसी अनुमान द्वारा ? मिथ्यात्वानुमान की मिथ्यात्वसिद्धि के लिए अन्य अनुमान के आश्रय लेने पर उस अनुमान की भी मिथ्यात्वसिद्धि के लिए एक और अनुमान स्वीकार करना होगा। इस प्रकार मिथ्यात्वानुमानों की अनन्तपरम्परा होगी तथा अनवस्थादोष होगा।[18] द्वितीय पक्ष में यदि इसी अनुमान से स्वयं मिथ्यात्वानुमान की भी मिथ्यात्वसिद्धि हो जायेगी, ऐसा कहा जाय तब स्वयं स्व का विषय बनने का दोष होगा, क्योंकि जिस अनुमान से प्रपंच का मिथ्यात्व साधित है, उसी अनुमान से स्वयं अनुमान की भी मिथ्यात्वसिद्धि होगी।[19] इस पर सिद्धान्ती का उत्तर है कि जिस प्रकार 'शब्द' यह शब्द शब्दत्व—विशिष्ट सभी शब्दों का ग्राहक होता है और साथ में स्वयं 'शब्द' रूप शब्द का भी ग्राहक होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वानुमान भी प्रपंचमिथ्यात्वसाधन करने के बाद 'स्व' का भी मिथ्यात्वसाधक होगा। जिस प्रकार द्वैतवादी के मत में प्रपंच सत्यत्वानुमान प्रपंचसत्यत्व का प्रतिपादन करके स्वयं प्रपंच सत्यत्वानुमान के सत्यत्व की भी स्थापना करता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वानुमान के विषय में भी समझना चाहिए।[20] मिथ्यात्वानुमान द्वारा प्रपंच की मिथ्यात्वसिद्धि करने के बाद स्वयं मिथ्यात्वानुमान की भी मिथ्यात्वसिद्धि होने में किसी प्रकार अनियम या दोष नहीं है।

मिथ्यात्वसिद्धि के लिये आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य के अतिरिक्त अन्य अद्वैता-

---

१६. अद्वैतदीपिका—पृ० ९।

१७. न्यायमकरन्द—पृ० ५५।

१८. नन्वध्यानुमानस्य मिथ्यात्वं किमनुमानान्तरेणसिद्ध्यति किंवा स्वेनैव। आद्येऽनवस्था। चित्सुखी—पृ० ४८।

१९. द्वितीयेतु स्वात्मनिवृत्ति विरोधः स्वगतमिथ्यात्वस्य स्वेनैवग्रहणात्। चित्सुखी—पृ० ४८।

२०. शब्दशब्दवत्प्रपंचसत्यत्वानुमानवद् अध्ययनविधिवच्चाविरोधात्। वही।

चार्यों ने भी अनुमान प्रदर्शित किये हैं, जिनमें से वेदान्ततत्वविवेककार नृसिंहाश्रम द्वारा प्रदर्शित अनुमान इस प्रकार है—'विमतं सदन्यत् बाध्यत्वात् यन्नैवं तन्नैव यथात्मा'[२१] अर्थात् विवादास्पद प्रपंच, सत् से भिन्न है, मिथ्या है क्योंकि यह बाध्य है। जो बाध्य नहीं, वह ऐसा मिथ्या नहीं है, जैसे आत्मा। आत्मा सद् से भिन्न भी नहीं, मिथ्या भी नहीं। इसी प्रकार—'अविद्यातिरिक्त दोषजन्यं जड़ मिथ्या दृश्यत्वात् शुक्ति रजतवत्।'[२२] एकमात्र अविद्यादोषजन्य जड़ मिथ्या है, क्योंकि यह शुक्ति-रजत के समान दृश्य है। वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने मिथ्यात्व का अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वाद्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यकम्'[२३] तात्पर्य यह है कि शुक्ति-रूप्य के समान ब्रह्म भिन्न सभी मिथ्या हैं। अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में मिथ्यात्व के सत्ताईस विशेष अनुमान प्रदर्शित किये हैं।[२४] सर्व दर्शन संग्रहकार माधवाचार्य ने भी ज्ञाननिवर्त्यत्व द्वारा मिथ्यात्वानुमान प्रस्तुत किया है।[२५]

हेतु-विचार :

मिथ्यात्वानुमान में प्रयुक्त हेतुओं की निर्दोष व्याख्या होनी चाहिए। जगत्-सत्यतावादी पूर्वपक्षी उक्त हेतुओं को असद् हेतु सिद्ध करने के लिये अनेक तर्क देते हैं। अद्वैतवादियों ने अनेक युक्तितर्कों द्वारा मिथ्यात्वानुमान के सभी हेतुओं को सद्हेतु सिद्ध किया है।

दृश्यत्व-हेतु :

दृश्यत्व हेतु के खण्डनार्थ पूर्वपक्षी ने वृत्तिव्याप्यत्व फलव्याप्यत्वादि छः विकल्प प्रस्तुत किये हैं[२६] और उन छहों विकल्पों का प्रत्याख्यान भी किया है। पूर्वपक्षी का कहना है कि अद्वैतवेदान्ती जो दृश्यत्व हेतु के द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि करना चाहते हैं, वह दृश्यत्व क्या है ? क्या यह वृत्तिव्याप्यत्व है या फलव्याप्यत्व अथवा उभय-

---

२१. वेदान्ततत्वविवेक—पृ० १७३।

२२. वेदान्ततत्वविवेक—पृ० ५६०।

२३. वेदान्तपरिभाषा—पृ० ६३, ६४।

२४. (१) ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यब्रह्मान्यासत्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्वाधिकरणावृत्ति, ब्रह्मावृत्तित्वात्, शुक्ति रूप्यत्ववत्, परमार्थ सद्भेदवच्च, (२) विमतं मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्, (३) परमार्थसत्वं स्वसमानाधिकरणान्योऽन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति, सदितरावृत्तित्वात्, ब्रह्मत्ववत् (४) ब्रह्मत्वमेकत्वं वा सत्व व्यापकम्, सत्वसमानाधिकरणतत्वात्, असद्वैलक्षण्यवत्... इत्यादि।
अद्वैतसिद्धि—पृ०४१७।

२५. विमतं मिथ्याअधिष्ठान तत्वज्ञाननिवर्त्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत्।
सर्व दर्शन संग्रह—पृ० ८७७।

२६. किंचेदं दृश्यत्वं वृत्तिव्याप्यत्वं फलव्याप्यत्वं वा साधारणं वा कदाचित्कथंचिच्चिद्विषयत्वं वा स्वव्यवहारे स्वातिरेकिसंविदपेक्षा नियतिर्वा अस्वप्रकाशत्वं वा।
न्यायामृत—पृ० ४६।

साधारण है ? वृत्तिव्याप्यत्व दृश्यत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म भी वेदान्तवाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्ति का विषय है,[२७] अतः दृश्यत्व ब्रह्म में भी होगा, तथाच दृश्यत्वेन ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक विकल्प में पूर्वपक्षी द्वारा दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अद्वैतसिद्धिकार मधुसूदन सरस्वती ने फलव्याप्यत्वरूप द्वितीय विकल्प को त्यागकर अन्य सभी विकल्पों का दृश्यत्व के लक्षण के रूप में समर्थन किया है।।[२८] प्रथम विकल्प के लिये पूर्वपक्षी ने जो दोष दिये थे कि 'वृत्तिव्याप्यत्वं दृश्यत्वम्' मानने पर वेदान्त वाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्तिविषय होने के कारण दृश्यत्ववत् ब्रह्म भी हुआ, अतः ब्रह्म भी मिथ्या है ? यदि वेदान्तवाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति का विषय ब्रह्म को न स्वीकार किया जाय तब वेदान्तवाक्य ही व्यर्थ होंगे ?[२९] इन दोनों आक्षेपों का निराकरण करने के लिये आचार्य मधुसूदन ने भामतीकार वाचस्पति मिश्र के मत का अनुसरण करते हुये कहा है कि शुद्ध ब्रह्म वृत्तिव्याप्य है ही नहीं।[३०] शास्त्र शुद्ध ब्रह्म को 'अवाङ्मनसोगोचर', 'नैषातर्केणमतिरापनेया' एवं प्रकार से वृत्ति का अविषय बताते हैं, इसलिए शुद्ध ब्रह्म में व्यभिचार दोष नहीं है। जो ब्रह्म वृत्ति का विषय है वह वृत्युपहित है, अतः शुद्ध ब्रह्म नहीं हुआ। वृत्युपहित ब्रह्म भी मिथ्या ही है।[३१] वृत्ति के विषय काल में ब्रह्म अनुपहित रह ही नहीं सकता।

यदि यह पूछा जाय कि ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र ने तो ब्रह्मसिद्धि (४।७) में 'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्म रूपे व्यवस्थिते' इस प्रकार ब्रह्म को सर्वप्रत्यय वेद्य कहा है, फिर वाचस्पत्ति मिश्र या अन्य अद्वैतवेदान्ती मण्डनोक्ति का विरोध क्यों कर रहे हैं ? इसका उत्तर यह है कि वाचस्पति आदि अन्य अद्वैतवादियों के साथ मण्डनोक्ति का विरोध नहीं है। मण्डन मिश्र ने उपहित ब्रह्म को ही सर्व प्रत्ययवेद्य कहा है, न कि शुद्ध ब्रह्म को, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म और सर्वप्रत्ययवेद्यत्व में विरोध है। उपहित ब्रह्म को सभी अद्वैतवादी वृत्तिव्याप्य मानते हैं।[३२]

पूर्वपक्षी पुनश्च शंका करते हैं कि शुद्ध ब्रह्म यदि किसी प्रकार से वृत्तिव्याप्य नहीं है तब तो शुद्ध ब्रह्म की सिद्धि ही नहीं होती, क्योंकि ज्ञान की विषयता न मानने पर उसके विषय में सिद्धि-असिद्धि कुछ भी सम्भव नहीं है। अद्वैतवादी का उत्तर है

---

२७. आत्मनोऽपि वेदान्तजनितवृत्तिव्याप्यत्वात्।
न्यायामृत—पृ० ५०।

२८. फलव्याप्यत्वव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि पक्षस्य क्षोदक्षमत्वात्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० २३९।

२९. अन्यथा ब्रह्मपराणां वेदान्तानां ब्रह्मज्ञानार्थं श्रवणादि विधेश्चवैयर्थ्यम्।
न्यायामृत—पृ० ५०।

३०. शूद्धं हि ब्रह्म न दृश्यम। अद्वैतसिद्धि पृ०—२३९।

३१. तच्च मिथ्यैव, वही पृ० २४०।

३२. अद्वैतसिद्धि लघुचन्द्रिका तथा विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० २४०।

कि अद्वैत मतानुसार ब्रह्म स्वप्रकाश है।[३३] अतएव ब्रह्म की सिद्धि के लिए वृत्ति की अपेक्षा नहीं है। इस पर पुनः शंका होती है कि 'शुद्ध ब्रह्म वृत्ति का विषय नहीं होता है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि 'शुद्ध ब्रह्म में दृश्यत्व नहीं है' इस प्रकार ब्रह्म में दृश्यत्व के निषेध के लिये भी ज्ञेयत्व स्वीकार करना होगा। निषेधात्मक ज्ञान की वृत्तिविषयता ब्रह्म में होगी ही।[३४] यदि यह कहा जाय कि स्वप्रकाश शुद्ध ब्रह्म में श्रुति द्वारा दृश्यत्व का निषेध होता है, इस पर भी ब्रह्म में वृत्तिविषयता होगी, क्योंकि 'शुद्धं स्वप्रकाशं' एवंप्रकार वाक्यजन्यज्ञान में शुद्ध ब्रह्म प्रकाशित होता है, अतः शुद्ध ब्रह्म में स्वप्रकाशत्व सिद्ध ही नहीं होगा। अद्वैतवादी का उत्तर है—'शुद्धं स्वप्रकाशम्' इस वाक्य का अर्थ लक्षणा से करना होगा—अर्थात् 'अशुद्धत्व अस्वप्रकाशत्व का व्यापक है'[३५] जो अस्वप्रकाश होगा वही अशुद्ध होगा। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म में अशुद्धत्व की व्यावृत्तितया अस्वप्रकाशत्व की व्यावृत्ति होगी और शुद्ध ब्रह्म स्वप्रकाश ही होगा। जिस प्रकार भेद का निषेध अभेद में पर्यवसित होता है, उसी प्रकार अस्वप्रकाशत्व का निषेध भी स्वप्रकाशत्व में पर्यवसित होगा।[३६] इस पर पूर्व पक्ष की ओर से पुनः शंका की जाती है कि वेदान्तवाक्यजन्य अखण्डाकारवृत्ति-उपहित ब्रह्म विषयक है और अखण्डवत्तिदशा में ब्रह्म की उस वृत्ति के अतिरिक्त अन्य उपाधि सम्भव नहीं है—अर्थात् अखण्डाकार वृत्ति का विषय उपहित ब्रह्म हुआ। उस दशा में उपहित ब्रह्म-विषयक वृत्ति के अतिरिक्त और अन्य उपाधि का होना सम्भव नहीं है, अतः उस अखण्डवृत्ति का विषय स्वयं वृत्ति ही हुई, वही वृत्ति ब्रह्म को उपहित करेगी। उपहित ब्रह्म उसका विषय है, इस कारण वृत्ति ही उसका विषय हुई, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म तो विषय हो ही नही सकता। शेष बची वृत्ति को वृत्ति का विषय स्वीकार करने पर वृत्ति में स्वविषयकत्वापत्ति होगी।[३७] ब्रह्म जिस वृत्ति के द्वारा उपहित, उसी वृत्ति का विषय भी है, यह कैसे सम्भव? अज्ञानकार्यविषयक ज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता। उपहित ब्रह्मविषयक ज्ञान भी एक प्रकार से अज्ञान ही है। यदि उपहित ब्रह्म-विषयक ज्ञान को अज्ञान का निवर्तक माना जाय तब तो 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान द्वारा भी मूलाज्ञान का निवृत्तिप्रसंग हो जायेगा, क्योंकि घट ज्ञान भी तो उपहित ब्रह्मविषयक ज्ञान है। 'सन् घटः', 'घटः सन्' इत्यादि अनुभवसिद्ध है कि घटादि के साथ सत्तादात्म्य है। इसलिए घटादि में जो 'सत्' भान होता है, वह उपहित ब्रह्म है। उसके ज्ञान से ब्रह्म ज्ञान का प्रसंग हो जायेगा। इस आशंका के उत्तर में अद्वैतवादी का कहना है कि—शाब्दवृत्ति ब्रह्म के उपाधि होने पर भी वह शाब्दवृत्ति का विषय नहीं होती,

---

३३. न च एवं सति शुद्धसिद्धिर्नस्यादिति वाच्यम् स्वतएवतस्य प्रकाशत्वेन सिद्धत्वात्। अद्वैतसिद्धि—पृ० २४०, २४२।

३४. शुद्धे दृश्यत्वं निषेधता शुद्धस्य ज्ञेयत्वमवश्यं स्वीकरणीयम। वही।

३५. अद्वैतसिद्धि लघूचन्द्रिका पृ० २४२, २४३।

३६. अद्वैतसिद्धि लघचन्द्रिका—पृ० २४३, २४७।

३७. अद्वैतसिद्धि लघुचन्द्रिका विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० २५१, २५२, २५३।

अपितु शाब्दवृत्ति में उपहित ब्रह्म ही उसका विषय होता है।[३८] कल्पतरुकार ने यही कहा है 'शुद्धं ब्रह्मेति विषयी कुर्वाणा वृत्तिःस्वस्वेतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते। स्वस्याऽपि उपाधित्वाविशेषात्। एवं च नानुपहितस्यविषयता। वृत्त्युपरागोऽत्र सत्तया उपयुज्यते न भास्यतया विषय-कोटिप्रवेशेनेति'।[३९] अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य साक्षी होने पर भी अज्ञान साक्षी कोटि में प्रविष्ट नहीं होता। अज्ञान जड़ वस्तु है, इसलिए साक्षी कोटि में उसका प्रवेश नहीं है। इसी प्रकार वृत्त्युपहित ब्रह्म विषय होने पर भी वृत्ति ही वृत्ति का विषय नहीं होती। वह स्वयं अविषय रहकर भी चैतन्य की विषयता सम्पादन करती है। एतद् द्वारा ज्ञान और अज्ञान के समान-विषयकत्व सिद्ध हुआ।[४०] अज्ञान जब शुद्ध ब्रह्म को आवृत्त करता है, उस समय अज्ञान स्वयं शुद्ध ब्रह्म में अध्यस्त होकर आवृत करता है, किन्तु अज्ञान अज्ञान का विषय नहीं होता। अज्ञानोपहित शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का विषय होता है। अतएव अज्ञान अज्ञानोपहित ब्रह्मविषयक है, फिर भी अज्ञान अज्ञान का विषय नहीं। इसी प्रकार ज्ञानोपहित ब्रह्म भी ज्ञान का विषय होता है, किन्तु ज्ञान ज्ञान का विषय नहीं होता। इसलिये उपहित ब्रह्मविषयक अज्ञान उपहित ब्रह्मविषयक ज्ञान द्वारा निवृत्त होगा, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान समानविषयक हैं। समानविषयक ज्ञान अज्ञान का निवर्तक-निवर्त्य भाव अनुभवसिद्ध है।[४१]

वस्तुतस्तु 'शब्दाजन्यवृत्तिविषयत्व' ही दृश्यत्व है।[४२] शुद्ध ब्रह्म में शब्दाजन्य-वृत्ति विषयता नहीं है, अपितु केवल मात्र उसमें महावाक्यजन्य वृत्ति की ही विषयता है। वृत्तिविषयत्वमात्र दृश्यत्व स्वीकार करने पर शुद्ध ब्रह्म में शब्दजन्य-वृत्तिविषयत्व के होने के कारण उसमें भी दृश्यत्व होता और मिथ्यात्व न होने पर दृश्यत्व मिथ्यात्वव्यभिचारी होता; इसीलिए वृत्तिविषयत्व को दृश्यत्व न कहकर शब्दाजन्यवृत्ति के विषयत्व को ही दृश्यत्व कहा गया है। शशविषाणादि तुच्छ वस्तु शब्दजन्यवृत्ति का विषय होती है, अर्थात् 'शशविषाणम्' एवं प्रकार शब्दजन्य विकल्पवृत्ति का विषय होती है, इसलिये वृत्ति में 'शब्दाजन्यत्व' विशेषण दिया गया है। शशविषाण में दृश्यत्व हेतु के रहने पर व्यभिचार होता, क्योंकि शश-विषाण अलीक है, मिथ्या नहीं। तुच्छ शशविषाण और परमार्थ सत् ब्रह्म दोनों

---

३८. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० २५३, २५६।

३९. अद्वैतसिद्धि—पृ० १५९, २६०, २६१ कल्पतरु १।१।१ सूत्र पृ० ५७

४०. अद्वैतसिद्धि—पृ० १६२।

४१. समानविषयत्वेनैव तयोर्निवर्त्यनिवर्तक भावात्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० २६४।

४२. वही—पृ० २६८।

ही शब्दाजन्यवृत्ति के अविषय हैं।[४३] 'सप्रकारक वृत्तिविषयत्वमेवदृश्यत्वम्'[४४], यह भी लक्षण समीचीन है। सोपाख्य धर्म को प्रकार कहते हैं। सोपाख्य का अर्थ हुआ—अलीकभिन्न। शुद्ध ब्रह्म निष्प्रकारक ज्ञान का ही विषय होता है, सप्रकारक ज्ञान का विषय नहीं होता। अलीक वस्तु का ज्ञान भी निरुपाख्य धर्म प्रकारक होता है। सोपाख्य धर्मप्रकारकज्ञान अलीक का सम्भव नहीं। इस कारण शुद्ध ब्रह्म और अलीक में व्यभिचार नहीं है।[४५] 'चिद् विषयत्व' ही दृश्यत्व है, ऐसा भी लक्षण युक्तिपूर्ण है। चिद्विषयत्व का अर्थ होगा यथाकथंचित् चित्सम्बन्धित्व।[४६] सम्बन्ध मात्र ही भेद का व्याप्य है, इसलिये एक ही चैतन्य में चैतन्य का सम्बन्ध नहीं बन सकता; भेद के बिना सम्बन्ध सम्भव नहीं और अलीक वस्तु में भी चित्सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सदसत् का किसी भी प्रकार सम्बन्ध संभव नहीं है।[४७]

जड़त्व-हेतु

मिथ्यात्वसाधक जड़त्व हेतु की सिद्धि के लिये अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्वपक्ष की ओर से तीन विकल्प दिये हैं—अज्ञातृत्व, अज्ञानत्व और अनात्मत्व।[४८] पूर्व पक्षी का कहना है कि 'अज्ञातृत्व' ही जड़त्व है, ऐसा लक्षण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें स्वरूपासिद्धि-दोष होगा। अद्वैतमत में 'अहमर्थ' अध्यस्त होने के कारण मिथ्या अर्थात् पक्षान्तर्गत है, अतएव उसमें दृश्यत्व है, परन्तु अज्ञातृत्व नहीं है। अहमर्थ ज्ञाता है, अतः उसमें ज्ञातृत्व है ही, इसलिए अज्ञातृत्व को जड़त्व मानने पर स्वरूपासिद्ध-दोष है और शुद्ध ब्रह्म में ज्ञातृत्व न होने के कारण उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।[४९] अज्ञानत्व को जड़त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वृत्त्युपरक्त चैतन्य ही अद्वैतमत में ज्ञान है। केवल वृत्ति अथवा केवल चैतन्य ज्ञान नहीं है, अतएव अज्ञानत्व हेतु केवल वृत्ति एवं केवल चैतन्य में है। केवल वृत्ति में अज्ञानत्व लक्षण जड़त्व अभीष्ट होने पर भी परमार्थ सत् केवल चैतन्य में अज्ञानत्व का व्यभिचार है—अर्थात् अज्ञानत्व लक्षण जड़त्व हेतु चैतन्य में भी है; अतः हेतु द्वारा परमार्थ सत् चैतन्य का भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा।[५०]

---

४३. तुच्छशुद्धयोःशब्दाजन्यवृत्ति विषयत्वानभ्युपगमात्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० २३६

४४. वही।

४५. अद्वैतसिद्धि एवं लघुचन्द्रिका—पृ० २७०, २७१।

४६, वही—पृ० २७३।

४७. तच्च न चैतन्ये अभेदे भेदनान्तरीयकस्य सम्बन्धस्याभावात्। अद्वैतसिद्धि—पृ० २७३, २७४

४८. अज्ञातृत्वं वा अज्ञानत्वं वा अनात्मत्वं वा। वही—पृ० २९५
न्यायामृत पृ० ६८ भी द्रष्टव्य।

४९. त्वन्मते पक्ष निक्षिप्तस्याहमर्थस्यैवज्ञातृत्वात्। शुद्धात्मनोप्यज्ञातृत्वाच्च। वही।

५०. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका—पृ० २९५।

इसी प्रकार 'अनात्मत्व' जड़त्व नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में आत्मत्व का निरूपण नहीं हो सकता। सिद्धान्ती के मत में आत्मा एक है, इसलिये एक व्यक्ति में रहने वाला धर्म आत्मत्व जाति नहीं हो सकता। शरीरादि भेद विशिष्ट आत्मा मिथ्या है, अतः वह पक्षान्तर्गत है। इसी प्रकार आनन्दरूपत्व भी आत्मत्व नहीं हो सकता। वैषयिक आनन्द में मिथ्यात्व है, किन्तु आनन्द भिन्नत्व नहीं है, अतएव हेतु में स्वरूपासिद्धि-दोष है।[५१]

एवं प्रकार से पूर्वपक्षी के आक्षेप करने पर अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि द्वितीय और तृतीय विकल्प जड़त्व के लक्षण बन सकते हैं, अर्थात् 'अज्ञानत्वं जड़त्वम्', 'अनात्मत्वं जड़त्वम्' ये लक्षण निर्दोष हैं। अज्ञानत्व को जड़त्व के लक्षण मानने पर आत्मा में व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि अर्थोपलक्षित प्रकाश ही ज्ञान है। अर्थोपलक्षित प्रकाशरूप ज्ञानत्व मोक्ष दशा में आत्मा में है, अतः आत्मा में अज्ञानत्व हेतु नहीं रहा, इसलिये व्यभिचार का प्रश्न ही नहीं उठता।[५२]

पूर्व पक्ष की ओर से शंका है कि अर्थोपलक्षित प्रकाश को ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञानमात्र ही अर्थ विशिष्ट होता है। सविषयकत्व ज्ञान का स्वाभाविक धर्म है। जिस प्रकार अभाव सप्रतियोगिक होता है, इच्छादि का सविषयकत्व स्वाभाविक है, इसी प्रकार ज्ञान भी सविषयक होता है। निर्विषयक ज्ञान अप्रसिद्ध है; इसलिये मोक्षदशा में निर्विषयक प्रकाश स्वीकार करने पर वह प्रकाश ज्ञानभिन्न होगा और उस प्रकाश में मिथ्यात्व नहीं है, अतः हेतु व्यभिचरित होगा। सिद्धान्ती का उत्तर है कि ज्ञान स्वभावतः सविषयक होता है, यह पक्ष अद्वैतवादियों को स्वीकार नहीं है। 'ज्ञान सविषयक होता है, का अर्थ हुआ ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध, परन्तु ज्ञान के साथ विषय का तात्विक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, इसलिये सविषयक ज्ञान को अध्यस्त स्वीकार करना पड़ेगा।[५३] ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध आध्यासिक मान लेने पर विषय सम्बन्ध को ज्ञान के साथ समान सत्तायुक्त नहीं कहा जा सकता; इसीलिए विषयोपलक्षित प्रकाश को ज्ञान कहा गया है। इच्छादि का जो सविषयकत्व स्वभाव कहा गया, वह भी अप्रसिद्ध है। विषय के साथ इच्छादि का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, अपितु इच्छाजनक ज्ञान के साथ विषय का आध्यासिक सम्बन्ध प्रयुक्त इच्छादि का सविषयकत्व होता है, अतः इच्छा के साथ विषय सम्बन्ध का अर्थ—'स्वजनकज्ञानविषयत्व' ही होगा।[५४] ज्ञान के साथ विषय का आध्यासिक सम्बन्ध है, अतः इच्छा के साथ भी विषय का आध्यासिक सम्बन्ध ही है। पूर्व–पक्षी का कहना है कि ज्ञान के समान निर्विषयक

---

५१. नापि तृतीयः, आत्मत्वस्यैव निरूपयितुमशक्यत्वात्। वही।
५२. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका—पृ० २९९।
५३. ज्ञानस्य हि सविषयत्वं विषयसम्बन्धः, स च न तात्विकः, किन्त्वाध्यासिकः। अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका—पृ० ३००।
५४. वही—पृ० ३०१।

इच्छा की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ेगी। सिद्धान्ती का उत्तर है कि ज्ञान सविषयकत्वप्रयोजक उपाधि की निवृत्ति के बाद भी रहता है, क्योंकि वह विषयापेक्षा अधिकसत्ताक है, किन्तु इच्छादि का सविषयकत्वप्रयोजकउपाधि इच्छादि के समानसत्ताक है, अतः उपाधि की निवृत्ति के साथ इच्छादि की भी निवृत्ति हो जाती है, इसलिये इच्छादि निर्विषयक नहीं रहती।

पूर्व-पक्षी की ओर से यह शंका हुई कि मोक्षावस्था में ज्ञानस्वरूप आत्मा निर्विषयक है, अतः मोक्षदशा में आनन्द का भी प्रकाश नहीं होगा। मोक्षदशा में ज्ञान आनन्द विषयक होने पर ज्ञान की सविषयकत्वापत्ति होगी। मोक्षदशा में ज्ञान आनन्द विषयक न हो तो अद्वैत के अनुसार वह परमपुरुषार्थ नहीं हो सकता। आनन्दविषयक ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है। इसके उत्तर में अद्वैतवादी का कहना है कि आनन्द और प्रकाश में भेद नहीं है। आनन्द ही प्रकाश है। आनन्दस्वरूप प्रकाश तो मोक्षदशा में रहेगा ही। वह ज्ञानस्वरूप है, विषयस्वरूप नहीं। इसलिए मोक्ष की अपुरुषार्थापत्ति नहीं है। अभेद में अर्थात् आनन्द और प्रकाश के अभेदरूप होने के कारण विषय-विषयिभाव भी नहीं है अतः ज्ञान की सविषयकत्वापत्ति भी नहीं है।[५५]

'अनात्मत्व ही जड़त्व है', ऐसा लक्षण भी संगत है। स्वप्रकाशत्व आत्मत्व है। एकमात्र आत्मवस्तु ही स्वप्रकाश है, अतः अनात्मवस्तु अस्वप्रकाशरूप है। जो अस्वप्रकाश है, वही जड़ है जैसे, घटपटादि। घटपटादि का जड़त्व अस्वप्रकाशत्व है, और जो अस्वप्रकाश अर्थात् जड़ है, वही मिथ्या है, इसलिए अस्वप्रकाशत्वरूप जड़त्व मिथ्यात्व का प्रयोजक है। अद्वैतवाद के अनुसार जड़वस्तु मिथ्या है।[५६]

परिच्छिन्नत्व-हेतु—

मिथ्यात्वानुमान में प्रयुक्त परिच्छिन्नत्व हेतु भी निर्दुष्ट हेतु है। परिच्छिन्न का अर्थ है सीमित। देशकृत परिच्छिन्नत्व, काल कृत परिच्छिन्नत्व और वस्तु कृत परिच्छिन्नत्व यहां पर विवक्षित हैं। अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व ही देशकृत परिच्छिन्नत्व है। ध्वंसाभावप्रतियोगित्व को कालतः परिच्छिन्नत्व कहते हैं और अन्योन्याभावप्रतियोगित्व ही वस्तुकृत परिच्छिन्नत्व है। देशकृत परिच्छिन्नता का तात्पर्य है किसी देश में सत्व और देशान्तर में असत्व, जैसे 'भूतल में घटाभाव', घट का भूतल में अत्यन्ताभाव है, परन्तु इस भूतल को छोड़कर अन्यत्र घट की सत्ता हो सकती है। कालकृत परिच्छिन्नता का तात्पर्य है किसी काल में होना, अन्यकाल में न होना। इसी प्रकार वस्तुकृत परिच्छिन्नता का तात्पर्य है—किसी वस्तु के साथ तादात्म्यापन्न, न कि सभी वस्तुओं के साथ।[५७] अर्थात् देशान्तरवृत्तिअत्यन्ताभावप्रतियोगित्व

---

५५. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका—पृ० ३०२।
५६. अद्वैतसिद्धि-लघुचन्द्रिका—पृ० ३१२।
५७. वही—पृ० ३१५।

देशतः परिच्छिन्नत्व है, कालान्तर वृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व कालतः परिच्छिन्नत्व है और वस्तुनिष्ठभेदप्रतियोगित्व ही वस्तुकृत परिच्छिन्नत्व है।[५८] जागतिक सभी वस्तुएँ तीन प्रकार परिच्छिन्नत्वों से युक्त हैं, अतएव परिच्छिन्नतया भी वस्तुएं मिथ्या हैं। पूर्व पक्ष की ओर से शंका उठाई गई कि देशतः परिच्छिन्नत्व का उक्त लक्षण आत्मा में अतिव्याप्त है, क्योंकि आत्मा किसी भी वस्तु के साथ कहीं भी समवेत नहीं है, अतः समवाय सम्बन्ध से अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व आत्मा में है। यदि इस दोष को दूर करने के लिये संयोग सम्बन्धावच्छिन्नात्यन्ताभावप्रतियोगिता ली जाय और कहा जाय कि संयोग सम्बन्ध से तो आत्मा का विभु होने के कारण कहीं भी अभाव नहीं है। सर्वत्रगामी आत्मा है, अतः अतिव्याप्ति नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहने पर आकाशादि विभु पदार्थों में परिच्छिन्नत्व का लक्षण नहीं जाएगा,[५९] और मिथ्यात्वानुमान में अंशतः असिद्धिदोष होगा। और यदि सम्बन्ध मात्र से अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व ही देशतः परिच्छिन्नत्व कहा जाय एवं अनुमान किया जाय 'अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है,' तब तो सर्वप्रकार सम्बन्धशून्य आत्मा में व्यभिचार है, क्योंकि आत्मा असंग है। और भी आपत्ति यह है कि सिद्धान्ती के मत में प्रपंचमात्र का उपादान अविद्या है। यह अविद्या सर्वोपादानतया सर्वसम्बन्धी है। यह अविद्या मिथ्या है, किन्तु इस मिथ्याभूत अविद्या में सर्व-असम्बन्धित्वरूप हेतु नहीं है; इसलिए अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व परिच्छिन्नत्व नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ध्वंसप्रतियोगित्व को कालतः परिच्छिन्नत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में आकाशादि पदार्थ मिथ्याभूत होने पर भी उनमें ध्वंसप्रतियोगित्व नहीं है। वैशेषिक के अनुसार आकाशादि में ध्वंस प्रागभाव का प्रतियोगित्व नहीं है। इसी प्रकार अन्योन्याभावप्रतियोगित्व को वस्तुकृत परिच्छिन्नत्व नहीं कह सकते, क्योंकि अन्योन्याभावप्रतियोगित्वरूप परिच्छिन्नत्व आत्मा में भी है। परमार्थ आत्मा अपरमार्थ जड़निष्ठअन्योन्याभाव का प्रतियोगी है। अज्ञानाकाशादि जड़ पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं। यदि जड़ वस्तु में आत्मा का भेद न माना जाय तब आत्मा में भी जड़त्वापत्ति होगी। आत्मा में जड़त्वापत्ति न हो इसलिये परवशात् अद्वैतवादी को जड़निष्ठान्योन्याभाव का प्रतियोगी आत्मा को कहना ही पड़ेगा। इस प्रकार आत्मा में परिच्छिन्नत्व हेतु रहा, परन्तु आत्मा मिथ्या नहीं, अतः हेतुव्यभिचारी हुआ।

इन आक्षेपों का उत्तर अद्वैतवादी सत्ताभेद को स्वीकार करते हुए देते हैं। अद्वैतवादी का कहना है कि अन्योन्याभाव में और अत्यन्ताभाव में प्रतियोगि-समानसत्ताकत्व विशेषण देने पर उक्त दोष नहीं होंगे,[६०] अर्थात् समान सत्ताकान्योन्या-

५८. लघुचन्द्रिका—पृ० ३१५।

५९, लघुचन्द्रिका—पृ० ३१५।

६०. अत्यन्ताभावे अन्योन्याभावे च प्रतियोगिसमसत्ताकत्वविशेषणेन आत्मनि व्यभिचारपरिहारात्। अद्वैतसिद्धि—पृ० ३१५।

भावप्रतियोगित्व और समान सत्ताकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही उक्त परिच्छिन्नत्व माना जाएगा। आत्मप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव और आत्मप्रतियोगिक भेद--दोनों ही प्रतियोगी आत्मा के समान-सत्ता-विशिष्ट नहीं हैं। तात्पर्य है—अभाव प्रतियोगी से अन्यूनसत्तायुक्त होना चाहिये।[६१] और जो यह कहा गया था कि आकाशादि ध्वंस प्रतियोगी नहीं होते वह भी निर्मूल है, क्योंकि अद्वैतमत में आकाशादि वस्तुओं को भी अनित्य माना जाता है। एतस्मादात्मन आकाश:सम्भूत: इत्यादि श्रुति द्वारा आकाशादि का जन्यत्व सिद्ध है और जो जन्य है उसका ध्वंस भी प्रसिद्ध है, अतः आकाश भी जन्यतया ध्वंस प्रतियोगी है।[६२] यदि यह शंका की जाय कि ध्वंस स्वयं सादि-अनन्त है, इसलिए ध्वंस जन्य होकर भी ध्वंस प्रतियोगी नहीं होता और ध्वंस का ध्वंस स्वीकार करने पर प्रतियोगी की सत्वापत्ति होगी? उसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—अद्वैतमत में ध्वंस का भी ध्वंस स्वीकार किया जाता है। ध्वंस का ध्वंस जिस प्रकार स्वप्रतियोगी का भी विरोधी होता है, उसी प्रकार ध्वंस के प्रतियोगी का भी विरोधी होता, है—अर्थात् घटध्वंस का घटध्वंस जिस प्रकार घट ध्वंस का विरोधी, उसी प्रकार घट का भी विरोधी है, इसलिए पुनः ध्वंस के ध्वंस से प्रतियोगी घट की सत्वापत्ति नहीं होती। इस प्रकार परिच्छिन्नत्व हेतु भी सिद्ध हुआ।

मिथ्यात्व में आगम प्रमाण

मिथ्यात्व में अनुमान प्रदर्शित करने के बाद अब आगम प्रमाण द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि की जाती है। मिथ्यात्व की सिद्धि विशेष करके "एकमेवाद्वितीयम्", "नेहनानास्ति किंचन्", "मृत्योः स मृत्यमाप्नोति यइह नानेव पश्यति" इत्यादि श्रुतिओं द्वारा होती है। "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति का अर्थ है स्वगत-स्वजातीय-विजातीय भेद-रहितत्व। एक वृक्ष का उदाहरण लिया जाय। वृक्ष के पत्र पुष्पादि स्वगत भेद हैं, क्योंकि यह भेद वृक्ष के अंगों का भेद है। वस्तुतः अंगीरूप वृक्ष एक ही है, फिर भी अंग नाना हैं। वृक्ष का अन्य वृक्षों से भेद स्वजातीय भेद है अर्थात् आम के वृक्ष से इमली के वृक्ष भिन्न हैं, परन्तु आम और इमली दोनों में वृक्षत्व है, अतः वृक्षत्वेन आम-इमली सजातीय हैं, इसलिये एवंभूत भेद को सजातीय कहा जाता है। शिलादि से वृक्ष का भेद विजातीय भेद है, क्योंकि शिलादि भिन्न जातीय पदार्थ हैं।[६३]

ब्रह्म में उक्त तीनों भेद नहीं हैं, अर्थात् उक्त श्रुति द्वारा द्वैत के निषेधपूर्वक द्वैतमिथ्यात्व सिद्ध होता है, क्योंकि निषेध बाध्य का होता है, अबाध्य का नहीं; अतः बाध्यत्वेन उक्त श्रुति द्वारा द्वैत मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है। पूर्व पक्षी के अनुसार

६१, स्वान्यूनसत्ताकेति विशेषणं देयम्। वही।

६२. अद्वैतसिद्धि—लघुचन्द्रिका—पृ० ३१६।

६३. वृक्षस्य स्वगतो भेद: पत्रपुष्पफलादिभि:।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीय: शिलादित:।
पंचदशी—पृ० ४६. विद्यारण्य. काशी, १६४२।

इस श्रुति का तात्पर्य सजातीय भेद राहित्य में है, अर्थात् ब्रह्म के समान अन्य सजातीय सत्ता नहीं है, किन्तु विजातीय चिदन्य जड़ादि का भेद और स्वगत भेद है। इस प्रकार उक्त श्रुति का अर्थ अद्वैतवादी को स्वीकार नहीं है। अद्वैतवादी का कहना है कि– "अद्वितीय" पद का इस प्रकार संकुचित अर्थ करने का प्रयोजन नहीं,[६४] क्योंकि सजातीय अन्य का निषेध "एक" पद द्वारा ही हो जाता है, फिर अद्वितीय" पद व्यर्थ हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि उक्त श्रुति द्वारा सजातीय अन्य का ही निषेध होता है, न कि स्वगत-विजातीय-आदि सभी का, तब एक विज्ञान द्वारा सर्व-विज्ञान प्रतिज्ञा की उपपत्ति नहीं होती,[६५] क्योंकि सत्य वस्तु एक होने पर मिथ्या वस्तु नाना होने पर भी सत्य वस्तु के अतिरिक्त मिथ्या वस्तुओं की सत्ता न होने के कारण एक सत्य वस्तु को जान लेने से सभी को जान लेने की प्रतिज्ञा सत्य होती है। कार्य अपने में मिथ्या है। कारणरूप में कार्यकारण के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसी प्रकार "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादिश्रुति भी अनुपपन्न हो जाएगी, क्योंकि ये श्रुतियां विकार-अर्थात् कार्य-जगत् को मिथ्या बताती हैं, साथ में "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतिओं का बाध होगा। पूर्व पक्षी के अनुसार "अनन्त" शब्द का अर्थ है—पूर्व और पर कालीन उभय-अन्तों का अभाव, अर्थात् "अनन्त" पद से पूर्व पक्षी देश-काल वस्तु परिच्छेदशून्यता का अर्थ नहीं लेते, अपितु पूर्व और पर काल परिच्छेदाभाव को ही लेते हैं। अद्वैतवेदान्ती को ऐसा अर्थ स्वीकार नहीं है। अद्वैतवादी का कहना है कि अनन्त पद के पूर्वोक्त अर्थ ग्रहण करने पर आकाश के लिए "नित्य अनन्त आकाश है" इस प्रकार के प्रयोग की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अनन्त और नित्य दोनों पदों की एकार्थकता के कारण पुनरुक्ति दोष होगा।[६६] अनन्त पद का अर्थ कालतः, देशतः एवं वस्तुतः परिच्छेदशून्यता ही लेना होगा। अनन्त पद का अर्थ अन्योन्याभावानधिकरणत्व होने पर जो दोष दिया गया था, वह भी युक्तिहीन है, क्योंकि नञ् समास द्वारा व्युत्पत्तिगत अर्थ त्रिविध अन्तों के निषेध में है।[६७] इस प्रकार "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति द्वारा द्वैतमिथ्यात्व का निश्चय होता है। पूर्व पक्षी जो कहते हैं "नेहनानाऽस्ति किंचन" इस श्रुतिवाक्य में ब्रह्म में नानात्व का निषेध होता है, समीचीन नहीं है क्योंकि "ब्रह्म नाना है" इस प्रकार

---

६४. नचाद्वितीयशब्दस्तत्सजातीयवस्वन्तरनिषेधपरः संकोचे कारणाभावात् एकत्वविशेषणेनैव-सजातीयस्य निषिद्धत्वात्।
चित्सुखी—पृ० ५१।

६५. सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानस्य......बाध प्रसंगात्।
चित्सुखी—पृ० ५१।

६६. अस्ति तावन्नित्यमाकाशमनन्तंचेति प्रयोगः तत्र यद्यन्तपदेनैव पूर्वापर कालावच्छेदरूपोभयान्तोऽभिधीयते तन्निषेधश्चानन्तपदेनोच्यते तदा नित्यशब्दः पुनरुक्तः स्यादित्यर्थः। चित्सुखी-नयनप्रसादिनी—पृ० ५१।

६७. चित्सुखी—पृ० ५२।

ब्रह्म में नानात्व की प्राप्ति ही नहीं है। "प्राप्तेसति निषेध:"[६८] इस न्याय से अप्राप्ति का तो निषेध हो ही नहीं सकता। ब्रह्म में नानात्व अर्थात् सजातीय नानात्व लोक में वेद में, कहीं भी प्राप्त नहीं है,[६९] जिसका कि श्रुति निषेध करती। ब्रह्म में सजातीय-नानात्व निषेध करने पर "नाना" शब्द का अर्थ-संकोच भी करना पड़ेगा। अर्थ-संकोच में कोई भी कारण नहीं है, अतः ब्रह्म में स्वगत, सजातीय, विजातीय सभी भेद का निषेध ही "नानात्व श्रुति-- से अभीष्ट है। तात्पर्य हुआ ब्रह्म में प्रपंच भेदरूप नानात्व नहीं है, अर्थात् कार्य भेद नहीं है। ब्रह्मानन्द सरस्वती ने नानात्वनिषेधक श्रुति की व्याख्या करते हुए कहा है कि उक्त श्रुति में द्वैत विशिष्ट ब्रह्म रूप उद्देश्य प्रतिपादक "इह" पद प्रयुक्त हुआ है, इससे उक्त श्रुति का अर्थ होता है—उद्देश्यतावच्छेदक जो द्वैतवत्व का, उस द्वैतवत्व का अवच्छेदक जो देश-काल तदवच्छेद-रूप से "इह" पदार्थ द्वैतविशिष्ट ब्रह्म में "नाना किंचन नास्ति" वाक्यांश द्वारा अस्तित्व विशिष्ट द्वैताभाव का बोध होता है, इसलिए द्वैत का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। उक्त श्रुति में 'नाना' पद का अर्थ है ब्रह्म भिन्न के साथ अन्वित—वस्तुसामान्य; अतः "नानाकिंचन" इस निपात् के द्वारा ब्रह्मभिन्न वस्तुसामान्य का बोध हुआ। उस ब्रह्मभिन्न वस्तुसामान्य का 'न' पद का अर्थ—अभाव के साथ अन्वय होगा, अतः "न नानास्ति किंचन" इस वाक्याशं के द्वारा अस्तित्व विशिष्ट ब्रह्मभिन्न वस्तुसामान्य-अभाव सिद्ध हुआ, अर्थात् द्वैतकाल में ही ब्रह्म में द्वैताभाव सिद्ध हुआ। द्वैताभाव का अर्थ है द्वैत मिथ्यात्व।[७०]

इसी प्रकार "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" इस श्रुति के द्वारा अभेदज्ञान में विधि है, अर्थात् उपासना विधि के लिए अभेद का कथन है, जिससे उपासक एकत्वभावना से उपासना करे। परन्तु अद्वैत वेदान्ती का कहना है कि उक्त श्रुति द्वारा द्वैतनिषेध में तात्यर्य न मानने पर "नेह नाना" इत्यादि द्वैतनिषेधक श्रुति भी व्यर्थ हो जाएगी।[७१] साथ में और बात यह है कि जिस प्रकरण में उक्त श्रुति है, वह प्रकरण उपासना प्रकरण नहीं है, पूर्वापर तात्पर्य लिंगादि विचार करने पर निष्प्रपंच एकब्रह्म प्रतिपत्ति ही इस प्रकरण का तात्पर्य निकलता है। यद्यपि "आयुर्होयासतेऽमृतम्" 'आयु की उपासना अमृत रूप से करें।" सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" 'सभी के भृत्य और सभी के प्रभु' इत्यादि उपासनापरक वाक्य इस प्रकरण में कहे गए हैं, तथापि इस प्रकरण में उन्हें अनुवादपरक मानना होगा, क्योंकि प्रकरण उपासना का नहीं है।[७२]

पूर्व पक्ष में कहा गया था कि आगम प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण प्रत्यक्ष का

६८. प्रसक्तं हि सर्वत्र निषेध्यं नाप्रसक्तम्। चित्सुखी-नयनप्रसादिनी—पृ० ५२।

६९, न हि लोकतः श्रुतितो वा......ब्रह्मणि नानात्वं प्रसक्तं येन प्रतिषिद्धयेत। चित्सुखी—पृ० ५२।

७०. लघुचन्द्रिका—पृ० ११।

७१. चित्सुखी—पृ० ५२, ५३।

७२, चित्सुखी—पृ० ५३।

बाध नहीं कर सकता और यदि बाध करता है तब तो उपजीव्य-विरोध दोष होगा, क्योंकि आगम प्रत्यक्षआश्रित है, अर्थात् प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है, उसी का बाध कैसे करेगा? अद्वैतवादी का उत्तर है कि आगम प्रमाण प्रत्यक्ष की व्यावहारिकता की अपेक्षा रखता है, यह अवश्य स्वीकार्य है, किन्तु आगम स्वमामाण्य के लिए प्रत्यक्ष के पारमार्थिकत्व की अपेक्षा नहीं रखता। आगम प्रत्यक्ष के पारमार्थिकत्व को बाधित करता है न कि व्यावहारितत्व को, इसलिए आगम प्रत्यक्ष के जिस अंश की अपेक्षा रखता है (व्यावहारिकत्वांश) उस अंश का बाध नहीं करता[७३] जैसे "अयं घटः", "अयं पटः" इत्यादि व्यावहारिक ज्ञान तथा "घटात्पटः भिन्नः" इत्यादि व्यावहारिक भेदांश में आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है। इस स्थिति में आगम प्रत्यक्ष की व्यावहारिकता का—अर्थात् व्यावहारिक घट-पटादि ज्ञान का बाध नहीं करता अपितु जिस अंश में प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं रखता उस अंश में (पारमार्थिकत्वांश) घट पटादि भेद ज्ञान का बाध करता है। उस अंश में प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं है।[७४] और पारमार्थिकत्व में तो श्रुति अर्थात् आगम का प्रामाण्य ही एक मात्र प्रामाण्य माना गया है; इसलिए आगम के विरुद्ध उपजीव्य विरोधदोष नहीं दिया जा सकता।

"न हिंस्यात् सर्वाभूतानि", "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि वाक्यों में व्याघात दोष दिया गया था,– वह भी असंगत है। सामान्य वाक्य और विशेष वाक्य में विरोध नहीं होता "न हिंस्यात्" यह सामान्य वाक्य हैं। "अग्नि सोम" इस विशेष वाक्य द्वारा उसका उतने अंश में बाध हो जाया करता है। इसी प्रकार "अति रात्रे षोडशिनं गृह्णाति", "नाति रात्रे............" इत्यादि वाक्यों में विकल्प रखने के कारण व्याघात नहीं है। इसी प्रकार "उदिते..........जुहोति", "अनुदिते जुहोति' इन वाक्यों में शाखा भेद से अर्थात् जो जिस शाखा का अधिकारी है वह उसी प्रकार हवन करेगा।[७५] यदि कहा जाय श्रुति में कर्मकाण्ड-भेदविषयक और ज्ञान-काण्ड-अभेदविषयक दोनों के उपदेश मिलते हैं, अतः दोनों में विरोध हुआ, अर्थात् कुछ श्रुतियां कर्म अनुष्ठान करने को कहतीं हैं अन्य श्रुतियां त्याग करने के लिये कहती हैं, ऐसी स्थिति में विरोध स्पष्ट ही है। इस पर अद्वैत वेदान्ती का उत्तर है कि कर्म-काण्ड अविद्वान मन्दाधिकारी के लिये विहित है और ज्ञान-काण्ड विद्वान के लिए। अवस्था भेद से दोनों ही विहित हैं। ज्ञानी के लिए कर्म-काण्ड विहित नहीं है। इस प्रकार ज्ञान-काण्ड तथा कर्मकाण्ड का विरोध भी अधिकारीभेद से है। समानाधिकारी के लिए दोनों का विधान नहीं है।[७६] पुनश्च पूर्व पक्षी शंका करते हैं कि– "तस्मा-

७३. यत्स्वरूपमुपजीव्यते तन्न बाध्यते, बाध्यते च तात्विकत्वाकारः स च नोपजीव्यते।
अद्वैतसिद्धि—पृ० ३६३, ३६४।

७४. न प्रमितावपेक्षावत्ता शब्दस्य प्रत्यक्षादिषु, किन्तु स्वरूपसिद्धौ।
ब्रह्मसिद्धि—पृ० ४०, ५०।

७५. चित्सुखी तथा नयनप्रसादिनी—पृ० ५३।

७६. चित्सुखी एवं नयनप्रसादिनी—पृ० ५४।

दाकाशः सम्भूतः" इत्यादि श्रुतियां सृष्टि का वर्णन करतीं हैं और "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इस श्रुति से सृष्टि की सत्यता प्रतिपादित है; इसलिए अद्वैत श्रुति का गौण अर्थ करना ही उचित है। सिद्धान्ती का उत्तर है कि पूर्व पक्षी का कथन अयौक्तिक है, क्योंकि उक्त श्रुतिओं का तात्पर्य ही अन्य है। उन स्थलों में "एक विज्ञान से सकल वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है" ऐसी प्रतिज्ञा है। बाद में ब्रह्म ही सर्वकारण है और वह सभी कार्यों के सहित अनन्य है, ऐसा प्रतिपादन है। अद्वैतसिद्धान्त में कार्य और कारण तादात्म्य हैं, अर्थात् सत्कार्यवादी हैं अद्वैतवादी। सत्यकार्यवाद के अनुसार कार्य कारणात्मक है। इसी बात को दिखाने के लिए श्रुति में लौकिक उदाहरण दिखाया गया है। जिस प्रकार घटकार्य मृत्तिका से अभिन्न है, जिस प्रकार लौह निर्मित वस्तुएं लौह से अनन्य हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से कार्य जगत् अभिन्न है। जिस प्रकार घट से मृत्तिका निकाल लेने पर कुछ भी शेष नहीं रहता, अतः घट कार्य काल्पनिक है, उसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद प्रपंचोपशम हो जाने से एकमात्र ब्रह्म ही शेष रहता है। घटादि वस्तु दृष्ट होने पर भी मृत्तिका ही सत्य है, अर्थात् कारण ही सत्य है। उपादान अर्थात् अधिष्ठान आधेय की अपेक्षा अधिक सत्य है, यही तात्पर्य है। मृत्तिका के सत्यत्व में तात्पर्य नहीं है। इसी प्रकार आकाशादि की उत्पत्ति का वर्णन भी व्यावहारिक सत्य का वर्णन है। वस्तुतः एकमात्र कारण ब्रह्म ही सत्य है, यही श्रुति का तात्पर्य है। द्वासुपर्णादि द्वैतप्रतिपादक श्रुति का भी तात्पर्य व्यावहारिक साक्षी और जीवभेद में है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है।

इसी प्रकार "विश्वं सत्यम्", "यच्चिकेत सत्यमित्तन्नमोघम्" इत्यादि श्रुति द्वारा और "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" इत्यादि स्मृति द्वारा, "नाभाव उपलब्धेः, वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इत्यादि सूत्रों द्वारा जो विश्व सत्यत्वप्रतिपादन का आक्षेप पूर्व पक्ष के द्वारा किया गया है, वह भी समीचीन नहीं, क्योंकि उक्त श्रुतिओं का तात्पर्य विश्वसत्यत्व में नहीं है, अपितु स्तुतिपरक अर्थवाद में है।[७७] इसी प्रकार "याथातथ्यतो" श्रुति का अर्थ भी पूर्वसृष्टि प्रकार प्रक्रिया से ही सृष्टि की है, ऐसा अर्थ है, न कि जगत्विषयक सत्यत्व का अर्थ है। जिस प्रकार कहा जाता है "अग्निर्हिमस्यभेषजम्"[७८] अर्थात् अग्नि हिम की औषधि है, अर्थात् हिमनिवारक है, इसी प्रकार सर्वत्र अर्थवाद में तात्पर्य है। यदि यह कहा जाय कि अभेद प्रतिपादक श्रुति का भी तात्पर्य अर्थवाद में लिया जा सकता है, तब तो अद्वैतपरक श्रुतियां द्वैतपरक ही हो जाएंगी ? इस पर अद्वैतवादी का कहना है कि अद्वैत श्रुति षड्विध तात्पर्य लिंगोपेत है।[७९] तात्पर्य लिंग द्वारा विचार करने पर अद्वैतश्रुतिओं का अद्वैत में– अर्थात् द्वैतमिथ्यात्व में पर्यवसान होता है। " जो 'असत्यमप्रतिष्ठम्' इत्यादि स्मृति विरोध कहा गया था, वह भी असमीचीन है, क्योंकि अद्वैत मत में

७७. अद्वैतसिद्धि—पृ० ४२३।

७८. वही—पृ० ४२४।

७९. अद्वैतश्रुतिर्हिषड्विधतात्पर्यलिंगोपेता। अद्वैतसिद्धि—पृ० ४२५।

विश्व "सद् विलक्षण है" इसका अर्थ "असत् आकाशकुसुम के समान है" ऐसा नहीं, अपितु असत्विलक्षण भी है, अतएव जो लोग विश्व को आकाशकुसुम के समान अलीक मानते हैं, उनकी उक्त स्मृति द्वारा निन्दा की गई है।[८०] "नाभाव उपलब्धेः" अर्थात् बाह्यार्थ का अभाव नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है, इसका तात्पर्य विज्ञानातिरिक्त विषय की सत्ता प्रतिपादन में है। विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञानातिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं मानते। उनके मतके खण्डन के लिए तथा व्यावहारिक बाह्य पदार्थों की सिद्धि के लिए उक्त सूत्र उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार "वैधर्म्याच्च" इस सूत्र से स्वप्न और जाग्रत् का वैधर्म्य दिखाकर प्रपंच की व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[८१] स्वाप्न पदार्थ प्रातिभासिक है, किन्तु जाग्रत् बाह्य पदार्थ व्यावहारिक है, अतः विलक्षण हुआ। इसी प्रकार स्वाप्न पदार्थ व्यक्तिगत है। बाह्य पदार्थ सामान्य है। इन्हीं वैधर्म्यों को दिखाकर व्यावहारिक सत्य प्रपंच अलीक या प्रातिभासिक नहीं है, अपितु उससे विलक्षण व्यावहारिक है, यही सूत्रों का तात्पर्य है, न कि बाह्य पदार्थों की पारमार्थिक सत्यता की सिद्धि; अतः किसी प्रकार विरोध नहीं है।

मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरुक्ति

पूर्व पक्ष की ओर से यह शंका की गई कि अद्वैतवादी जो लक्षण और प्रमाण द्वारा जगत् की मिथ्यात्वसिद्धि करते हैं, वह मिथ्यात्व स्वयं मिथ्या है या सत्य?[८२] अद्वैतवादी द्वारा मिथ्यात्व को मिथ्या स्वीकार करने पर पूर्व पक्षी ने प्रपंच सत्यत्व का अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया है—"जगत् सत्यं मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वात्, आत्मवत्"।[८३] द्वैतवादी द्वारा प्रस्तुत उक्त अनुमान में अद्वैतवादी उपाधि दोष प्रदर्शित करते हैं। उक्त अनुमान में दृष्टान्त है—आत्मा। अनुमान में 'आत्मत्व' उपाधि है। जो साध्य का व्यापक हो—अर्थात् साध्य जहां-जहां होता है वहां-वहां हो, किन्तु हेतु का अव्यापक हो अर्थात् जहां पर हेतु हो उन सभी हेतु-स्थलों में न रहता हो, उसे उपाधि कहते हैं। पूर्व पक्षी प्रदर्शित अनुमान के दृष्टान्त आत्मा में आत्मत्व धर्म है, साथ में अनुमान का साध्य सत्यत्व भी आत्मा में है, क्योंकि निश्चित साध्य वाला ही दृष्टान्त होता है, अतः दृष्टान्त धर्म आत्मत्व अनुमान के साध्य सत्यत्व का व्यापक हुआ। अनुमान का पक्ष है—जगत्। उस पक्ष में आत्मत्व नहीं है, किन्तु अनुमान का हेतु—'मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वात्' है। हेतु का पक्षवृत्तित्व, अनुमान में अत्यावश्यक है। पर्वत में धूम दर्शन न होने पर पर्वत में वह्नि का अनुमान नहीं किया जा सकता; इसलिए हेतु का पक्षवृत्तित्व अस्वीकार नहीं किया

---

८०. सद्विविक्तत्ववादिनोमम जगत्यसद्वैलक्षण्यांगीकारेण तत्प्रतिपादकस्मृतिविरोधाभावात्।
अद्वैतसिद्धि—पृ० ४३४।

८१. अद्वैतसिद्धि—पृ० ४३४।

८२. अद्वैतसिद्धि—पृ० २०७।

८३. न्यायामृत—श्रीनिवासीय टीका—पृ० ४१।

जा सकता, किन्तु आत्मत्व पक्ष जगत् में नहीं है, अतः दृष्टान्त साध्य का व्यापक होकर साधन-अर्थात् मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व का अव्यापक है; अतएव 'आत्मत्व' उपाधि है। अनुमान में उपाधि उद्भावित होने पर हेतु साध्यव्यभिचारी होगा ही। पूर्वपक्षी कहते हैं कि सिद्धान्ती द्वारा अनुमान में उपाधि प्रदर्शन असंगत है। उक्त उपाधि प्रदर्शन द्वारा हेतु में व्यभिचार का अनुमान नहीं किया जा सकता। सत्यत्वानुमान में मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्व हेतु और सत्यत्व साध्य हैं। यह हेतु साध्य सत्यत्व व्यभिचारी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हेतु साध्याव्यभिचारी है।[८४] उपाधि के द्वारा हेतु में व्यभिचार का उद्भावन करने के लिये हेतु को उपाधि व्याप्य साध्य-व्यभिचारी दिखाना होगा। जो व्यापक-व्यभिचारी होता है वह व्याप्य-व्यभिचारी भी होता है, ऐसा नियम है, किन्तु हेतु यदि उपाधि व्यभिचारी न हो, तब उपाधिव्याप्य साध्य का भी व्यभिचारी नहीं हो सकता। उक्तानुमान में सत्यत्व साध्य है और तद्व्यापक आत्मत्व उपाधि है। मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्व हेतु इस आत्मत्व का व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्व हेतु शब्द से मिथ्या हो चुका है मिथ्यात्व जिसका—उसी का बोध होता है। प्रपंच मिथ्या है प्रपंच का जो मिथ्यात्व है, वह भी मिथ्या है। दृष्टान्त आत्मा में मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्व है, क्योंकि आत्मा को यदि सत्य कहा जाय तब उसका मिथ्यात्व मिथ्या ही होगा।[८५]

अद्वैतवादी यदि मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व हेतु को साध्य सत्य का व्यभिचारी सिद्ध करना चाहें तदर्थ अद्वैतवादी को निम्नप्रकार अनुमान प्रस्तुत करना होगा—

प्रतिज्ञा = मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्वम् (पक्ष) सत्यत्वव्यभिचारी (साध्य)
आत्मत्वव्यभिचारात् (हेतु)
शुक्तिरजतवत्। (दृष्टान्त)

अर्थात् जिस वस्तु का मिथ्यात्व मिथ्या होता है, उसमें सत्यत्व नहीं रहता, क्योंकि वहां पर आत्मत्व नहीं रहता। सत्यत्व और आत्मत्व समव्याप्त धर्म हैं। इनमें एक के रहने पर दूसरा अवश्य रहेगा। दृष्टान्त शुक्ति-रजत है। शुक्ति-रजत में आत्मत्व नहीं है; इसलिए सत्यत्व भी नहीं। आत्मा में मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व है-अर्थात् मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्व हेतु आत्म-व्यभिचारी नहीं है—यह पहले ही दिखाया गया है। प्रस्तुत व्यभिचारानुमान में मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व को पक्ष और आत्मत्व व्यभिचार को हेतुरूप से उपन्यास किया गया है। अनुमान के पक्ष— मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व में आत्मत्व है। आत्मत्व व्यभिचारी नहीं है, अतएव सत्यत्व व्यभिचाररूप साध्य भी पक्ष में नहीं है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रदर्शित व्यभिचारानुमान में आत्म व्यभिचारित्व हेतु सद् हेतु नहीं है, अपितु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। पूर्व पक्ष का कहना है कि उक्त प्रकार स्वरूपासिद्ध हेतु द्वारा सत्यव्यभिचारित्वानुमान किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता।

८४. मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्वस्य सत्यत्वाव्यभिचारित्वात्। सिद्धिव्याख्या—पृ० २०८।
८५. न्यायामृत—श्रीनिवासीय टीका—पृ० ४२।

व्यभिचारानुमान द्वैतवादी की दृष्टि में इस प्रकार असम्भव होने पर अद्वैत वेदान्ती की ओर से उपाधि की सहायता से माध्वोक्त जगत्सत्यता के विरोध में सत्प्रतिपक्षानुमान प्रस्तुत किया जाता है। उपाधि स्वयं स्वाभावप्रयुक्त हेतु द्वारा पक्ष में साध्याभाव का अनुमापक होकर अनुमान का दूषक होता है—अर्थात् उपाधि पदार्थ हेतु में "सत्प्रतिपक्ष"नामक दोषोद्भावन करता है। वह्नि हेतुक धूमानुमान स्थल में (धूमवान्वह्नेः) आर्द्र-इन्धन उपाधि धूमरूप साध्य का व्यापक है; इसलिए उक्त उपाधि के अभाव से तद्व्याप्य धूमाभाव भी निश्चित रहेगा, क्योंकि व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव अवश्य रहता है। इसी कारण व्यापक पदार्थ के अभाव को हेतु मानकर तद्व्याप्य पदार्थ के अभाव का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। "धूमवान् वह्नेः" इस अनुमान में भी आर्द्रइन्धनाभाव को हेतु मानकर धूमाभाव की अनुमिति होने पर धूमाभाव प्रयुक्त धूम का अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि धूमाभाव रहने पर धूम रह नहीं सकता, इसी प्रकार प्रकृत में भी आत्मत्वाभाव को हेतु मानकर सरलता से सत्यत्वाभाव का अनुमान किया जा सकता है। सत्प्रतिपक्षानुमान इस प्रकार होगा—

"जगत् (पक्ष) सत्यत्वाभाववत् (साध्य)

आत्मत्वाभावात् (हेतु)

शुक्ति रजत वत् अथवा यन्नैवं तन्नैवं यथात्मा....(दृष्टान्त) अर्थात् जगत् मिथ्या है, क्योंकि शुक्ति रजत के समान जगत् में आत्मत्व का अभाव है। शुक्ति रजत में आत्मत्व नहीं है। उसमें सत्यत्वाभाव भी है—अर्थात् शुक्ति रजत मिथ्या है। जहां सत्यत्वाभाव नहीं है, वहां आत्मत्वाभाव भी नहीं। व्यतिरेक दृष्टान्त के रूप में आत्मा ही है। आत्मा सत्य भी है और आत्मत्वविशिष्ट भी। इसी प्रकार सत्प्रतिपक्षानुमान द्वारा जगत्मिथ्यात्व सिद्ध होता है; साथ में "जगत् सत्यम्" माध्वोक्त अनुमान अशक्यप्रसर हो जाता है। सत्प्रतिपक्ष अनुमान को अवसर मिलने का अर्थ पक्ष में साध्य की स्थिति में सन्देह। जगत्सत्यत्व साधक माध्व का अनुमान और सत्यात्वाभाव समर्थक अद्वैत वेदान्ती का अनुमान दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। एक ही पक्ष को आश्रय करके इस प्रकार विरुद्ध दो अनुमानों के कारण जगत् सत्य है या मिथ्या, एवं प्रकार सन्देह स्वाभाविक रूप से होता है। सत्प्रतिपक्ष के उदय होने पर दोनों अनुमानों में से किसको प्रामाणिक माना जाय, इसका कोई निर्णय नहीं हो पाता। इस प्रकार की स्थिति आने पर जबतक किसी पक्ष द्वारा अनुकूल और प्रतिकूल तर्क की सहायता से एक अनुमान का प्राबल्य और दूसरे की दुर्बलता नहीं दिखाई जाती तबतक किसी भी अनुमान को बलबत्तर नहीं कहा जा सकता। यह स्थिति दो समान बल वाले मल्लों की कुश्ती के समान है, जिसमें दोनों में से किसी की भी हार-जीत नहीं मानी जा सकती।

अद्वैतवादी के सत्प्रतिपक्षानुमान के विरोध में माध्वादि का कहना है कि उक्त अनुमान में "जगत्" को पक्ष बनाने के कारण जागतिक समस्त वस्तुएं पक्षान्तर्गत

आने के कारण पक्षसम दोष है। दृष्टान्त शुक्ति-रजत भी जगत् के ही अन्तर्गत है, इसलिये दृष्टान्त भी पक्षसम है। इस स्थिति में सत्यत्वाभाव (प्रतिपक्षानुमान का साध्य) शुक्ति-रजत में भी निश्चित नहीं, संदिग्ध है, क्योंकि पक्ष में सर्वत्र साध्य-सन्देह है। साध्यसन्देहनिराकरण के लिये ही—अर्थात् साध्यसिद्धि के लिए ही अनुमान किया जाता है। उक्त प्रकार के अनुमान में अन्वयव्याप्ति और अन्वय दृष्टान्त प्रदर्शन करना सम्भव नहीं। प्रतिपक्षानुमान में "यन्नैवं तन्नैवम्" इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति का भी प्रदर्शन हुआ है। व्यतिरेक व्याप्ति के अनुसार साध्याभाव से हेतु का भी अभाव सिद्ध होता है—जैसे वह्नि के अभाव से धूमाभाव। उक्तानुमान में सत्यत्वाभावाभाव होने पर आत्मत्वाभाव का भी अभाव हो जाएगा, यही व्यतिरेक व्याप्ति है। पूर्व पक्ष का कहना है कि मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व और असत्यत्व दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं। इनमें से एक के होने पर दूसरे का होना सम्भव नहीं। इसके विपरीत मानने पर "व्याघात" होगा, परन्तु उसी प्रकार अनात्मत्व एवं सत्यत्व को द्वैतवादी परस्पर विरुद्ध धर्म स्वीकार करने को तैयार नहीं। अद्वैतवादी की यह व्याख्या कि असत्यत्व-अनात्मत्व, सत्यत्व—आत्मत्व है, इसलिए दोनों को एक स्थल पर मानने से व्याघात है, द्वैतवादी को मान्य नहीं, क्योंकि द्वैतवादी के अनुसार असत्यत्व, अनात्मत्व नहीं, किन्तु अज्ञातृत्व अनात्मत्व है और आत्मत्व सत्यत्व नहीं, किन्तु अबाध्यत्व सत्यत्व है; इसलिये अनात्मत्व और सत्यत्व, सत्यत्व और असत्यत्व के समान परस्पर विरुद्ध नहीं, अतः पूर्वपक्षानुमान में व्याघात की आशंका ठीक नहीं है। माध्व के "जगत् सत्यम्" इस स्थापनानुमान में शुक्ति-रजत जगत्रूप पक्षान्तर्गत आ जाता है। शुक्ति-रजत में हेतु मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व है, परन्तु साध्य सत्यत्व वहां नहीं है। माध्व मत में भी शुक्ति-रजत सत्य नहीं है। इस प्रकार उक्त अनुमान का हेतु पक्षैकदेश में साध्य व्यभिचारी हुआ। इस व्यभिचार के उत्तर में द्वैतवादी माध्व का कहना है कि शुक्ति-रजत का मिथ्यात्व यदि मिथ्या होगा तो उस रजत में सत्यत्व धर्म सत्य ही होगा। एक ही धर्म में दो विरुद्ध धर्मों में से एक के मिथ्या होने पर दूसरे का सत्य होना अनिवार्य है;[८६] परन्तु एक ही पदार्थ में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों की प्रसक्ति होने पर संशय उत्पन्न होता है; इसलिए संशय निराकरण के लिये पुनश्च प्रयोग होगाः—रूप्यं (शुक्ति रजतम्) मिथ्याभूत मिथ्यात्वाधिकरणं न भवति, सत्यभूततद्विरुद्ध सत्यत्वानधिकरणत्वात्, यथासत्यभूतगोत्वविरुद्धगोत्वाभावानधिकरणं गौः।[८७]

इस अनुमान में व्याप्ति है कि जो सत्यभूतसत्यत्व का अधिकरण नहीं होता वह मिथ्याभूत मिथ्यात्व का भी अधिकरण नहीं होता। सत्यत्व मिथ्यात्व परस्पर विरुद्ध हैं, यह सर्वविदित है। जब शुक्ति-रजत का सत्यत्व सिद्ध नहीं तब उसका मिथ्यात्व भी मिथ्या नहीं होगा। दृष्टान्त गौ है। गोत्व और गोत्वाभाव परस्पर

८६. विरुद्ध धर्मयोरेकमिथ्यात्वे अपरसत्यत्वनियमात्। अद्वैतसिद्धि—पृ०२०७।
८७. सिद्धिव्याख्या—पृ० २०८।

विरुद्ध धर्म हैं। ये दोनों धर्म एक पिण्ड में नहीं रह सकते। सत्यभूत गोत्वाभावानधिकरण गौ मिथ्याभूत गोत्वाधिकरण होता नहीं। इसी प्रकार सत्यभूति सत्यत्वानधिकरण शुक्ति-रजत भी मिथ्याभूत मिथ्यात्वाधिकरण नहीं होगा। रजत का मिथ्यात्व माध्व के अनुसार सत्य है; इसलिए मिथ्याभूतमिथ्यात्वकत्व रजत में नहीं है, अतः "जगत् सत्यम्" अनुमान में शुक्ति रजतांश में व्यभिचार की शंका निरर्थक है। इस पर अद्वैतवेदान्ती का कहना है कि शुक्ति-रजत सत्यभूतसत्यत्व का अनधिकरण होकर भी सत्यभूतमिथ्यात्व का अधिकरण नहीं है, क्योंकि धर्मी शुक्ति-रजत स्वयं मिथ्या है। मिथ्या धर्मी के सत्य मिथ्या दोनों ही धर्म मिथ्या हैं यह निम्नानुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है :—

रूप्यगतत्वेन (शुक्तिरजत) उच्यमाने सत्यत्वमिथ्यात्वे मिथ्या (साध्य) मिथ्यात्वोपेतधर्मिकत्वात् .... (हेतु)

स्वप्नप्रतीतगजरूपवत् (स्वप्नदृष्ट गजास्तित्वनास्तित्ववत्)[८८] (दृष्टान्त) स्वप्न में देखा गया गज के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही धर्म मिथ्या हैं, क्योंकि धर्मी गज ही मिथ्या है। इसी प्रकार शुक्ति-रजत के सत्यत्व-मिथ्यात्व दोनों धर्म मिथ्या हैं। एक धर्मी में प्रसक्त परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से एक के अभाव से अपर का अस्तित्व सिद्ध होता है, यह व्याप्ति समान सत्ताओं में ही प्रयोज्य है। गोत्व और गोत्वाभाव का दृष्टान्त भी समानसत्ताक है।[८९] शुक्ति-रजत माध्वादि के अनुसार भी मिथ्या है; इसलिए शुक्ति-रजत को पक्ष बनाकर माध्वोक्त अनुमान में सत्यभूत-मिथ्यात्व धर्म कैसे रह सकता है ? धर्मी शुक्ति-रजत से धर्म अधिकसत्ताक कभी नहीं हो सकता। गौ का दृष्टान्त उक्त अनुमान में संगत नहीं है, क्योंकि गौ-दृष्टान्त से उक्त अनुमान उपाधिदोषदुष्ट हो जायेगा। "अमिथ्यात्व" ही उक्त अनुमान में उपाधि होगा। अमिथ्यात्व उपाधि दृष्टान्त गौ में है, अतः साध्य व्यापक हुआ, वह पक्ष— मिथ्याशुक्ति-रजत में नहीं है, अतः हेतु अर्थात् साधना व्यापक हुआ। इस प्रकार शुक्ति-रजत पक्षक माध्वोक्त अनुमान दुर्बल हो जाता है। एवंभूत उपाधि युक्त अनुमान के बल पर अद्वैतवादी के उभय विधधर्ममिथ्यात्वसाधकानुमान में बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती। परस्पर विरुद्ध धर्मों में से एक सत्य होने पर दूसरे के मिथ्या होने का नियम भी अव्यभिचारी नहीं है।[९०] वन्ध्यापुत्र मिथ्या है। मिथ्या वन्ध्यापुत्र के श्यामत्व और गौरत्व भी मिथ्या हैं। श्यामत्व और गौरत्व परस्पर विरुद्ध धर्म होने पर भी अलीक वन्ध्यापुत्र में दोनों ही मिथ्या हैं। एक के अभाव में दूसरे का सत्यत्व

---

८८. वही।

८९. लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी पृ० २११।

९०. सत्वासत्वयोः परस्पराभावत्वं नास्ति।
लघुचन्द्रिका एवं विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० २१४

नहीं हो सकता। इस प्रकार माध्वोक्त अनुमान में व्याप्ति व्यभिचार स्पष्ट ही है।[९१] अद्वैतवादी के इस आक्षेप के उत्तर में माध्व का कहना है कि गौरत्व और श्यामत्व में सहानवस्थानरूपविरोध होने पर भी परस्पर अत्यन्ताभावरूप विरोध नहीं है, अर्थात् गौरत्वाभाव ही श्यामत्व है और श्यामत्वाभाव ही गौरत्व है—ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि गौरत्वाभाव होने पर पीतत्व रक्तत्व रह सकते हैं; इसलिये गौरत्व-श्यामत्व परस्पर गोत्व और गौत्वाभाव के समान विरोधी नहीं हैं। इसी कारण माध्व ने गोत्व और गोत्वाभाव का उदाहरण दिया है, अतः वन्ध्यापुत्र के धर्मों को लेकर अद्वैतवादी का आक्षेप निर्मूल है। सिद्धान्ती के उभयधर्म मिथ्यानुमान में स्वप्न गजास्तित्व-नास्तित्व दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नदृष्ट गज का अस्तित्व मिथ्या होने पर भी नास्तित्व मिथ्या नहीं है; अतएव उक्त अनुमान साध्यविकल हो जाता है, अतः माध्वोक्त अनुमान "जगत् सत्यम्" जययुक्त है।[९२]

पूर्व पक्ष के प्रत्याख्यान में अद्वैतपक्ष का उत्तर है कि एक विशेष्य अथवा धर्मी में कल्पित गोत्व और अश्वत्व परस्पर विरुद्ध होने पर भी कल्पित होने के कारण दोनों ही मिथ्या हैं, और कल्पित होने के कारण ही गोत्व धर्म के मिथ्या होने पर अश्वत्व धर्म सत्य होगा, ऐसा नियम नहीं है।[९३] इसी प्रकार वन्ध्यापुत्र के विषय में भी श्यामत्व और श्यामत्वाभाव दोनों ही मिथ्या हैं, क्योंकि धर्मी मिथ्या है। माध्व अनुमान 'जगत् सत्यम्' में जो आत्मा को दृष्टान्त रूप में लिया गया है—, संगत नहीं है, क्योंकि विश्व प्रपंच सत्य होने पर भी आत्मा के समान सत्य नहीं है,—यह पूर्व पक्षी को स्वीकार करना होगा। विश्व-प्रपंच उत्पत्ति-विनाशशील और आत्मा उत्पत्ति विनाश रहित है। प्रपंच का मिथ्यात्व प्रपंच के समान ही सत्यत्वविशिष्ट है-अर्थात् व्यावहारिक सत्यत्वविशिष्ट है, न कि परमार्थ सत्। मिथ्याभूत मिथ्यात्वकत्व साध्य सत्यत्वव्यभिचारी है, यह पहले ही दिखाया गया है।

शुक्ति-रजत के साथ शुक्ति रजताभाव का विरोध है, किन्तु यह विरोध व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताविरोध है। शुक्ति-रजत का अभाव व्यावहारिक है, शुक्ति-रजत प्रातिभासिक है। प्रातिभासिक रजतापेक्षा प्रातिभासिक रजताभाव अधिक सत्ताक है और जब पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से देखते हैं, तब प्रातिभासिक रजत और उसका व्यावहारिकाभाव भी मिथ्या है, तथा यह मिथ्या भी मिथ्या है। गोत्व और अश्वत्व दोनों परस्पर विरुद्धधर्म अवश्य हैं, किन्तु दोनों का अभाव गजादि में है। इसी प्रकार व्यावहारिक सत्यत्व और तद्भाव दोनों परस्पर विरोधी होने पर भी दोनों का अभाव परमार्थ सत् ब्रह्म में है।[९४] और भी बात यह है कि प्रपंच के

---

९१. गौरत्वं तद्विरुद्ध श्यामत्वंचेत्युभयमपि वन्ध्यासूते मिथ्यैव धार्मिण एव मिथ्यात्वात्।
सिद्धिव्याख्या—पृ० २०८।
९२. सिद्धिव्याख्या—पृ० २०९।
९३. अद्वैतसिद्धिव्याख्या—पृ० २१२, २१३।
९४. अद्वैतसिद्धि तथा लघुचन्द्रिका विट्ठलेशोपाध्यायी—पृ० २१६।

रहने पर प्रपंचमिथ्यात्व की निवृत्ति नहीं हो सकती। जिस अधिष्ठानतत्वसाक्षात्कार से प्रपंच की निवृत्ति होगी, उसी से प्रपंच मिथ्यात्व की भी निवृत्ति होगी। जिस प्रकार लगे हुए कांटे को अन्य काँटे से निकाल कर दोनों ही काँटों को फैंक देते हैं, जिस प्रकार नाव से पार होने वाला यात्री नाव को भी त्याग कर चला जाता है, उसी प्रकार प्रपंच की निवृत्ति के साथ ही प्रपंचमिथ्यात्व की भी निवृत्ति हो जाती है। यदि प्रपंचमिथ्यात्व को मिथ्या न माना जाय तब प्रपंच की निवृत्ति के पश्चात् धर्मी के बिना प्रपंच मिथ्यात्व धर्म कहां पर रहेगा ? प्रपंच ही नहीं रहेगा तो उसके धर्म कहां रहेंगे ? इसीलिए माध्वोक्त मिथ्याभूत-मिथ्यात्वकत्व हेतु जगत् सत्यत्व-साधन में अप्रयोजक हो जाता है। प्रपंच और प्रपंच-मिथ्यात्व दोनों का अभाव अलीक आकाशकुसुम और ब्रह्म में है।

तात्पर्य यह है कि मिथ्या जागतिक वस्तुएं ब्रह्म के समान सत्य, अर्थात् त्रिकालाबाध्य सत्य नहीं हैं। यहां पर त्रिकालाबाध्य कुछ भी नहीं, एकमात्र कारण या अधिष्ठान ब्रह्म ही त्रिकालाबाध्य सत् है। पुनश्च आकाशकुसुमादि के समान जागतिक वस्तुओं को अलीक नहीं कह सकते, क्योंकि आकाशकुसुमादि का प्रातीतिक सत्व भी नहीं है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार सत्व और असत्व विलक्षण वस्तु वह है, जो न ब्रह्म के समान त्रिकालाबाध्य सत् है और न आकाशकुसुम के समान अलीक, अपितु प्रतीतिकाल में सत् है। इसी प्रकार प्रपंचान्तर्गत भेद भी प्रपंच ही है, अतः वह भी मिथ्या ही है। उत्पत्तिविनाशशील जगत् को परमेश्वर के समानजातीय सत् तो द्वैतवादी भी नहीं मानते। परमेश्वर और जगत् के जिस अन्तर को लेकर द्वैतवादी दोनों में भेद सिद्ध करते हैं, उसी अन्तर को लेकर अद्वैतवादी व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यत्व का भेद करते हैं, और अन्त में यह विभाजन भी व्यावहारिक है, ऐसा कहते हैं।

——

मिथ्यात्वनिरूपण तथा अन्य भारतीयदर्शन

जगन्मिथ्यात्ववाद और बौद्धदर्शन

विज्ञानवाद

अध्यास और ख्यातिवाद अध्याय में हमने अनिर्वचनीय ख्याति के प्रसंग में अन्य भारतीयदर्शनों के ख्यातिवादों की तुलना एवं समीक्षा की है एवं यह भी दिखाया है कि किस प्रकार अद्वैत दर्शन ने अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करके भ्रम की व्याख्या में प्रत्ययवाद एवं अनुभववाद का समन्वय किया है। उक्त अध्याय में ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण को लेकर ही अन्य दर्शनों की तुलना एवं समीक्षा की है।

प्रस्तुत अध्याय में बौद्धादि दर्शनों के अनुसार मिथ्या का तात्विक स्वरूप क्या है, विचार किया जायेगा। बौद्धादि दर्शनों के अनुसार बाह्य वस्तु यदि असत्य है तो किस रूप में? उसका स्वरूप क्या है? अद्वैत के मिथ्या के स्वरूप से उसका क्या अन्तर है? इत्यादि समस्याओं पर विचार करना है।

बौद्धविज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र आन्तर ज्ञान ही सत्य है, बाह्य वस्तुयें असत्य हैं। विज्ञानवाद के प्राचीन आचार्य असंग के अनुसार विषय और विषयी दोनों ही विज्ञान या चित हैं।[1] आचार्य वसुबन्धु ने बाह्यता से रहित विज्ञान को ही तत्त्व माना है। उन्होंने 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा, यदुतत्रैधातुकमिति' इस सूत्र का ही अनुसरण किया है।[2] इनके अनुसार कामधातु, रूपधातु तथा अरूप धातु सब विज्ञप्तिमात्र हैं। वस्तुतः बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, जो कुछ भी है, विज्ञान ही है। विज्ञान के अतिरिक्त सब असत् हैं। इसलिये वसुबन्धु ने विंशिकाकी प्रथम कारिका में ही कहा है 'असदर्थावभासनात्' अर्थात् जिस प्रकार तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यों ही होते हैं, उसी प्रकार न होते हुये भी अर्थ प्रतीत होते हैं।[3] वसुबन्धु ने यहां पर असदर्थ की प्रतीति की बात कही है। प्रतीति के लिये 'अवभास' शब्द का प्रयोग किया है, जोकि शंकर ने अध्यास के लक्षण में कहा है, 'अवभासोऽध्यासः' अध्यास का अर्थ भी अवभास ही है।[4] जहां पर जो नहीं है,

---

१. महायानसूत्रालंकार—पृ० ६३। असंग। सम्पा० एम० लेवी, पेरिस, १६०७।

२. विंशिका—पृ० १।

३. विज्ञप्तिमात्रमेवेदमसदर्थावभासनात्। यद्वत् तैमिरिकस्यासत्केशोण्ड्रकादिदर्शनम्॥ वही—कारिका १—पृ० १।

४. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य भामती—पृ० १८।

वहीं पर उसकी प्रतीति होना ही अवभास है। 'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' ही अवभास है। यही बात वसुबन्धु उक्त प्रथम कारिका में 'असदर्थावभासनात्' शब्द द्वारा कहना चाहते हैं। असत् का अर्थ है—न होना, जहां पर अर्थ या विषय न हो वहीं पर विषय की प्रतीति ही अवभास है, जैसे सीपी में चांदी का भ्रम है; क्योंकि सीपी में चांदी का आभास है, अतः सीपी में चांदी असत् है। असत् होने पर भी वही चांदी की प्रतीति होना ही 'अवभास' है। यहां पर वसुबन्धु ने तिमिर रोगी के केश-गुच्छादि के दर्शन को भ्रम का उदाहरण दिया है, जोकि अद्वैत के अनुसार प्रातिभासिक है; क्योंकि अद्वैत के अनुसार अलीक की तो प्रतीति ही सम्भव नहीं है।[५] यदि प्रतीति हो रही है तब तो उसे प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत् कहना होगा। तिमिर रोगी एक विशेष द्रष्टा हुआ; उसको विशेषरूप से जो दोष के कारण अभाव में केश-गुच्छादि की प्रतीति होती है, वह प्रातिभासिक प्रतीति ही है। यद्यपि वसुबन्धु ने प्रातिभासिक सत्ता का नाम नहीं लिया है, तथापि केश-गुच्छादि के उदाहरण प्रातिभासिक प्रतीति की ओर साक्ष्य देता है, एवं अवभास शब्द व्यावहारिक सत्ता की ओर संकेत करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वसुबन्धु अद्वैत के ही समान व्यावहारिक वस्तुओं को स्वतन्त्र सत्ता नहीं देने को तैयार हैं। अद्वैत में रज्जु-सर्पादि भ्रम के उदाहरणों द्वारा जगत् की अध्यस्तता एवं मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार वसुबन्धु ने भी केश-गुच्छादि के प्रातीतिक ज्ञान के उदाहरण द्वारा विज्ञप्तिमात्रता के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की स्वतन्त्रसत्ता का निषेध किया है। हमने मिथ्यात्व लक्षणों में देखा है कि अद्वैतवेदान्ती 'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व' को मिथ्यात्व कहते हैं—जैसे कि रज्जु-सर्प भ्रमस्थल में रज्जु में सर्प का परमार्थतः त्रैकालिक निषेध सम्भव है। यद्यपि रज्जु-विषयक अज्ञानकालीन प्रातीतिक सर्प भ्रमकाल में होता है, फिर भी उस काल में भी पारमार्थिक दृष्टिकोण से सर्प नहीं होता, अतः भ्रमकाल के सर्प का तीनों कालों में निषेध होता है, इसी कारण भ्रमकालीन सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच का ब्रह्मरूप प्रतिपन्नोपाधि में त्रैकालिक निषेध है, अतः परमार्थतः प्रपंच भी मिथ्या है, फिर भी अधिष्ठान ज्ञान से पूर्व प्रपंच की प्रातीतिक सत्ता अद्वैत के अनुसार स्वीकार्य है। इसी प्रकार वसुबन्धु के अनुसार बाह्य वस्तुयें तीनों कालों में नहीं हैं। जो कुछ भी है, विज्ञप्तिमात्रता ही है। वसुबन्धु आत्मा और धर्मों को आलयविज्ञान के परिणाम कहते हैं,[६] किन्तु वसुबन्धु के अनुसार परिणाम का अर्थ सांख्य के परिणाम से भिन्न है।[७] वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त परिणाम शब्द का अर्थ करते हुये स्थिरमति ने कहा

५. अद्वैतसिद्धि—पृ० ३३२ तथा ३३३।

६. आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञान परिणामेऽसौ। त्रिंशिका का० १—पृ० २८, चौखम्बा, १९६७।

७. Indian Idealism—P. 113, Dasgupta (1962)

है 'कोऽयं परिणामो नाम ? अन्यथात्वम्'—अन्यथाभाव को ही परिणाम कहा है।[८] सांख्य के परिणाम में नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी गई, क्योंकि सांख्य के अनुसार कारण में पूर्व से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है, न कि नवीन कार्य की। विज्ञानवादी के वसुबन्धु अनुसार कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवाद के अनुसार अनादि विकल्प-वासनाओं के कारण आत्मादि एवं रूपादि का आरोप होता है। वसुबन्धु का उपचार और अद्वैत का अध्यास या आरोप समानार्थक शब्द हैं। जिस प्रकार अद्वैत में वस्तुतः ब्रह्म में प्रपंच के तीनों कालों में न रहने पर भी अज्ञान के कारण उसको आरोपित माना जाता है, उसी प्रकार आचार्य स्थिरमति विज्ञान में बाह्य वस्तुओं के अभाव होने पर भी उन्हें विज्ञान में आरोपित मानते हैं। उपचार का अर्थ आरोप है। स्थिरमति का कहना है 'जो पदार्थ जहां पर नहीं, उसके वहां पर होने का जो आरोप होता है, उसे उपचार कहते हैं : यथा शुक्तिका में रजत का उपचार अथवा बाहीक में बैल का उपचार'। इसी अर्थ में विज्ञानस्वरूप में बाह्य पदार्थों का आरोप या उपचार होता है, अतः बाह्यवस्तुयें परिकल्पित हैं। परमार्थतः वे वस्तुयें नहीं हैं।[९] वसुबन्धु के अनुसार सम्पूर्ण परिणाम या उपचारों का कारण या अधिष्ठान आलय विज्ञान है। आलयविज्ञान ही संसार का बीज है।[१०] इसी आलय विज्ञान को आलम्बन करके मनोविज्ञान एवं विषय विज्ञप्ति की उत्पत्ति होती है। इन सभी आरोपित सत् वस्तुओं का विशुद्धआलम्बन या अधिष्ठान विशुद्धविज्ञप्ति है, जिसे विज्ञप्तिमात्रता कहा है। यह नित्य है, शाश्वत है। इस प्रकार हम वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता की तुलना अद्वैत के ब्रह्म से कर सकते हैं। आचार्य वसुबन्धु के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्ति समुद्र के समान है और बाह्य वस्तुयें तरंगों के समान उस पर परिकल्पित हैं। विशुद्ध विज्ञप्ति ग्राह्य-ग्राहकता से परे है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता भी सापेक्षनित्य है।[११] परन्तु भट्टाचार्य जी का कथन समीचीन नहीं जान पड़ता। वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रता को ध्रुव कहा है।[१२] भट्टाचार्य जी ने ध्रुव शब्द का जो सापेक्षनित्य अर्थ किया है, वह आचार्य स्थिरमति के भाष्य के आधार पर समीचीन नहीं बैठता, क्योंकि स्थिरमति ने त्रिंशिका-भाष्य में ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य किया है।[१३] अतः इस विषय में आचार्य

---

८. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—पृ० २८, स्थिरमति भाष्य। चौखम्बा, १९६७।

९. यच्च यत्र नास्ति तत् तत्रोपचर्यते। तद्यथावाहीके गौः। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—स्थिरमति भाष्य—का० १—पृ० २९

१०. सर्वबीजं हि विज्ञानम्—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि कारिका १८—पृ० ८१।

११. The Agam Shashtra of Gaudapada—Introduction. P. CXLII. V, Bhattacharya, Calcutta Univ., 1943.

१२. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः—का० ३० अचिन्त्यः कुशलोध्रुवः।

१३. ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षयतया...अयं च नित्य इति। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि भाष्य पृ० १०१।

चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि वसुबन्धु ने यहां पर ध्रुव शब्द का प्रयोग निरपेक्ष सत्य के अर्थ में किया है।[१४] वसुबन्धु जब यह कहते हैं कि दृश्यप्रपंच स्वप्नवत् है या तिमिर-रोगी के केश-गुच्छादि के समान है, इसका अर्थ यह नहीं कि बाह्य-वस्तुये हैं ही नहीं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सविकल्पक बुद्धि की कोटियों द्वारा कल्पित जगत् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता। विज्ञप्तिमात्रता या धर्मनैरात्म्य का सिद्धान्त सविकल्पक बुद्धि द्वारा कल्पित कर्त्ता और कर्म, ग्राहक और ग्राह्य, द्रष्टा और दृश्य के द्वन्द्व पर अधिष्ठित जगत् का खण्डन करता है, न कि विशुद्ध निर्विकल्पक विज्ञप्तिमात्रता का / यह मत व्यावहारिक जगत् को परतन्त्र सत्ता प्रदान करता है। जबतक निर्विकल्पक आर्यज्ञान की अनुभूति नहीं होती तब तक परिकल्पित जगत् का अस्तित्व है, तबतक यह मिथ्या नहीं भासता। व्यावहारिक जगत् की व्याख्या करने के लिये ही वसुबन्धु ने त्रिविध सत्तावाद को स्वीकार किया है। अद्वैत में स्वीकृत प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता के समान ही आचार्य वसुबन्धु भी त्रिविध सत्ता स्वीकार करते हैं। परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ये त्रिविध सत्तायें हैं। इन त्रिविध सत्ताओं द्वारा जगत् की व्याख्या सम्यक् रूपेण हो जाती है। इन त्रिविधसत्ताओं को वस्तुस्वभाव भी कहा गया है। परिकल्पित स्वभाव वाली वस्तुयें आरोपित हैं, क्योंकि उन वस्तुओं का अपना स्वभाव नहीं है, जैसे शुक्ति में रजत की कल्पना परिकल्पित है। वस्तुतः शुक्ति में रजत है ही नहीं, अतः उसमें रजत का ज्ञान आरोपित वस्तुविषयक ज्ञान ही है। आरोपित वस्तुविषयक ज्ञान को ही वसुबन्धु परिकल्पित कहते हैं।[१५] परिकल्पित वस्तु स्वाधिष्ठान में न होने के कारण ही स्थिरमति ने अपने भाष्य में कहा है 'न स विद्यते इति'[१६] अर्थात् कल्पित वस्तु की अपनी सत्ता का अभाव हुआ करता है। यहां तक कि कल्पित वस्तु में हेतुप्रत्यय से प्राप्त स्वभाव भी नहीं। हेतुप्रत्यय स्वभाव व्यावहारिक वस्तुओं का ही होता है। प्रातिभासिक वस्तुओं का स्वभाव कल्पित ही है। द्विचन्द्रज्ञान के समान परिकल्पित ज्ञान तथ्यरहित है। एवमेव परिकल्पित वस्तु भी तथ्यहीन है। परतन्त्र सत्य या परतन्त्रज्ञान सापेक्ष है, क्योंकि यह कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है। परतन्त्र स्वभाववाला पदार्थ परिकल्पित की अपेक्षा सत्य अवश्य है, किन्तु यह भी परसापेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र सत्ता से रहित है। सापेक्ष का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न। संसार की वस्तुयें परतन्त्र हैं, क्योंकि वे वस्तुयें किसी हेतु-

---

१४. Vasubandhu uses the word "Dhruva" here in the sense of the absolutely permanent.—Acritical survey of Indian philosophy —P. 122, C. D. Sharma,—(London, 1960).

१५. येन-केन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यते, परिकल्पित एवासौ स्वभावो न स विद्यते—का० २०, त्रिंशिका।

१६. त्रिंशिकाभाष्य—पृ० ८६ का० २०।

प्रत्यय से उत्पन्न हैं। जो वस्तु कारण सापेक्ष है, वह परतन्त्र है, अतः परतन्त्र को भी शुद्ध सत्ता प्राप्त नहीं है, यह भी एक प्रकार सत् स्वभाव से रहित ही है। अद्वैत-वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता से इसकी तुलना की जा सकती है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार व्यावहारिक जगत् अपनी सत्ता के लिये ब्रह्मसापेक्ष है। कारण के बिना कार्य अस्तित्व में नहीं आ सकता, अतः ब्रह्मसत्ता के बिना जगत् कार्य रूप में नहीं रह सकता। घटोऽस्ति, पटोऽस्ति इत्यादि बाह्य वस्तुयें अस्तिसापेक्ष हैं। वह अस्ति ही कारणरूप ब्रह्म है, अतः अद्वैत के अनुसार जगत्प्रपंच सापेक्षसत् है। विज्ञानवादी के अनुसार भी सभी वस्तुयें प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, अतः परतन्त्र स्वभाव हैं।[१७]

परिनिष्पन्न वस्तुस्वभाव है अर्थात् परिनिष्पन्न ही तत्त्व है। परिनिष्पन्न परतन्त्र का भी अधिष्ठान है। बिना परिनिष्पन्न के परतन्त्र की सत्ता हो ही नहीं सकती, क्योंकि परिनिष्पन्न को लेकर ही परतन्त्र का व्यवहार सम्भव है। यह ग्राह्य-ग्राहकादि भावों से परे है। यह परन्तत्र से भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं। हम इसे यह भी नहीं कह सकते कि यह परतंत्र से तादात्म्य है या भिन्न भी है। परतन्त्र से भिन्न इसलिये नहीं कह सकते, क्योंकि परिनिष्पन्न ही अविद्या के कारण परतन्त्र के रूप में भासने लगता है। साथ में परिनिष्पन्न परतन्त्र की पहुँच से सर्वथा बाहर है, अतः परतन्त्र से अभिन्न भी कहना समीचीन नहीं। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्त में एकमात्र विशुद्ध परमार्थ ब्रह्म ही सत्य है और सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठानरूप है फिर भी प्रपंच से वह परे है, उसी प्रकार परिनिष्पन्न शुद्ध और शाश्वत है। वह देश-काल से परे है। देश-काल उसी परिनिष्पन्न में आरोपित हैं। परिनिष्पन्न समस्त प्रपंच का आधार होते हुये भी प्रपंच से वह रहितावस्था है;[१८] अतएव यह इन्द्रियानुभवातीत है। यह निरपेक्ष सत् है। बाह्य विषय को अस्तित्व इसी के अस्तित्व से प्राप्त है। इसी सदधिष्ठान में घटादि विकल्प कल्पित हैं, क्योंकि कारणव्यतिरेक कार्य की सिद्धि नहीं है, अतः कारण ही कार्यरूप से भासित होता है।

इस प्रकार हमने दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवादानुसार बाह्यवस्तुयें विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति में आरोपित हैं। अद्वैत-वेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने पंचपादिका-विवरण में त्रिविध सत्ता की स्थापना करते हुए कहा है कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है, अर्थक्रियासामर्थ्यसत्व आकाशादि का, एवं अविद्योपाधिकसत्व शुक्ति-रजतादि का।[१९] जिस प्रकार रजतादि शुक्ति में आरोपित हैं, उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्म में आरोपित हैं, अतः शुक्ति-रजतादि के समान ही आकाशादि भी मिथ्या हैं। यहां पर विज्ञानवाद और अद्वैत मत की समानता है। अद्वैत में जिस प्रकार प्रातिभासिक को व्यावहारिक दृष्टि से सत्-स्वभाव-रहित कहा है और व्यावहारिक वस्तुओं को पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत्स्व-

---

१७. परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः ।। त्रिंशिका का० २१ ।

१८. निष्पन्नस्तस्य पूर्वेणरहितता तु या—त्रिंशिका का० २१ ।

भावरहित कहा है, उसी प्रकार आचार्य वसुबन्धु भी तीन प्रकार निःस्वभावों का कथन करते हैं। इन्हें लक्षणनिःस्वभावता, उत्पत्ति निःस्वभावता एवं परमार्थ निःस्वभावता कहते हैं। परिकल्पित वस्तुयें आकाशकुसुम के समान निःस्वभाव हैं। ये लक्षण से उपेक्षित हैं। परिकल्पित वस्तुओं की सिद्धि के लिये जिन लक्षणों का समावेश किया जाता है, वे वास्तविक नहीं हैं, अतः ऐसी वस्तुयें लक्षणों से निःस्वभाव होने के कारण लक्षण निःस्वभाव कहलाती हैं। परतन्त्र वस्तुयें कारण सापेक्ष होने के कारण उत्पत्ति निःस्वभाव हैं, क्योंकि स्वयं स्वभाव वाले परतन्त्र नहीं हैं। स्वयं स्वभाव वाले होते तो परतन्त्र ही नहीं कहलाते। इसी प्रकार परिनिष्पन्न परमार्थ निःस्वभाववाला है। परमार्थतः उसमें किसी प्रकार के धर्म नहीं हैं, अतः वह विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र होने के कारण परमार्थतः निःस्वभाव है।[20] इस प्रकार परमार्थ विशुद्ध विज्ञान ही एक निरपेक्ष सत्ता है। आचार्य असंग ने भी उक्त त्रिविध सत्वों का प्रयोग महायान सूत्रालंकार में किया है।[21]

वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विषय में ऊपर दिये गये विवरण से हम यह धारणा बना सकते हैं कि असंग तथा वसुबन्धु ने जगत् की बाह्यता को तो आरोपित या मिथ्या कहा है, किन्तु वे जगत् की बाह्यता का अपलाप नहीं करते। इन विज्ञानवादी आचार्यों के अनुसार बाह्यता या ग्राह्य-ग्राहक आदि सर्वप्रपंच विज्ञान में आरोपित हैं। आरोपित वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अतः वे मिथ्या हैं। अद्वैत में भी अध्यस्ततया प्रपंच को मिथ्या कहा है। वसुबन्धु ने जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम कहा है, और विशुद्ध विज्ञाप्ति को कार्य-कारण भाव से अतीत कहा है। जब विशुद्ध विज्ञप्ति सांसारिक द्वन्द्व या विकल्पों से परमार्थतः परे है, और शाश्वत एकरूप है, तब विशुद्ध विज्ञप्ति से कार्य-कारणात्मक संसार सम्बन्धित नहीं हो सकता, अथवा व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्धित मानना होगा, जैसाकि अद्वैत-वेदान्त का ब्रह्म परमार्थतः किसी का अधिष्ठान भी नहीं है, क्योंकि सत्य अर्थ में किसी का अधिष्ठान होना भी निर्गुणत्व को आघात पहुँचाना है, अतः कहा गया है प्रपंच ब्रह्म में विवर्त है। विवर्त का अर्थ है अध्यस्ततया कार्य का होना न कि वस्तुतः। इसी प्रकार वसुबन्धु की विशुद्ध विज्ञप्ति भी जब परतन्त्रों से भी सम्बन्धित नहीं है, फिर जगत् को विज्ञप्ति का परिणाम कैसे कहा जाय ? ऐसा लगता है वसुबन्धु जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम और पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्धविज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का परिणाम जगत् है, तब तो विशुद्ध विज्ञप्ति में भी विकृति आनी चाहिये ? ऐसा होता नहीं है। जगत् परिणाम के होने पर भी

---

१९. त्रिविधं सत्वं—परमार्थ सत्वं ब्रह्मणः, अर्थक्रियासामर्थ्य सत्वं मायोपाधिकमाकाशादेः, अविद्योपाधिकसत्वं रजतादेः। पंचपादिका—विवरण—पृ० १६५। (मद्रास, १९५८).

२०. त्रिशिका—का० २५।

२१. महायानसूत्रालंकार—११। ३९, ४०, ४१, बौद्धदर्शन मीमांसा २५० में उद्धृत, बलदेव उपाध्याय चौखम्बा, १९५४।

विज्ञप्ति विशुद्ध ही रहती है, अतः जगत् परिणाम को विवर्त के अर्थ में लेना आवश्यक है। इसी अर्थ में वसुबन्धु ने आत्म-धर्मों को विज्ञान में उपचरित कहा है, अर्थात् आत्मा और धर्मादि का उपचार होता है, न कि वस्तुतः हैं।

वसुबन्धु के द्वारा परतन्त्र वस्तुओं का स्वीकार करना ही सिद्ध करता है कि वसुबन्धु बाह्यता का सम्पूर्णतया अपलाप नहीं करते, जैसाकि आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन है कि इस विज्ञानवाद में 'प्रपंच की बाह्यता का प्रत्याख्यान नहीं किया गया'।[२१*] इस कारण विज्ञानवाद को विशुद्ध विषयीवाद नहीं कह सकते।[२२] विज्ञानवाद मात्र यह कहता है कि बाह्यता विज्ञानातिरिक्त के रूप में असत् है, किन्तु विज्ञानसापेक्ष बाह्यता है। यही अद्वैत के अनुसार बाह्यता की स्थिति है।

लंकावतार के दर्शन को विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही का मिश्रण कहा जा सकता है। यह न विशुद्ध शून्यवाद है, न ही विज्ञानवाद। इस ग्रन्थ के अनुसार एकमात्र चित्त ही सत्य है। लंकावतार में विशुद्ध विज्ञान के लिये चित्त शब्द का ही प्रयोग मिलता है।[२३] चित्त ही विज्ञान है, इस विज्ञान के अतिरिक्त काम, रूप एवं अरूप अर्थात् भौतिक वस्तुयें असत् हैं। बाह्यता नाम की कोई भी वस्तु वस्तुतः है नहीं। बाह्य वस्तु व्यक्तिगत मन की सृष्टि नहीं है, अपितु विशुद्ध विज्ञान की सृष्टि है। लंकावतार में बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान मिलता है।[२४] बाह्यवस्तुओं के प्रत्याख्यान में वसुबन्धु सम्भवतः इतना बल नहीं देते जितना कि लंकावतार देता है। लंकावतार में बाह्यवस्तुओं के अस्तित्वप्रत्याख्यान में नागार्जुन एवं गौड़पाद के समान स्वप्न माया वन्ध्यापुत्रादि के दृष्टान्तों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।[२५] लंकावतार के अनुसार सम्पूर्ण बाह्य वस्तुयें विकल्पमात्र हैं। यहां पर वस्तुतः न द्रष्टा है, न द्रष्टव्य ही कुछ है, न कोई वाच्य है, और न ही उसका वाचक।[२६] जिस प्रकार अद्वैत के ब्रह्म में परमार्थतः ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृत्व-भाव नहीं, उसी प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार भी प्रपंच परमार्थतः उक्त भेदों से रहित है। न ग्राह्य है, न ग्राहक, वन्ध्यापुत्र के समान सभी कल्पित हैं। न उत्पत्ति है और न ही कोई उत्पाद्य है, किन्तु व्यवहार में सभी कल्पित हैं।[२७] जिस प्रकार आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र न होने पर भी कहे जाते हैं, उसी प्रकार भाव वस्तुओं की कल्पना होती है।[२८] वस्तुतः सभी धर्म निःस्वभाव हैं। दार्शनिक विश्लेषण करने पर या कार्य-

---

२१.* The objectivity of the external world is not denied. A critical survey of Indian philosophy—P. 122.

२२. Vijnanvada can not be called subjectivism.—ibid.

२३. A critical survey of Indian philosophy—P. 110.

२४. लंकावतार—१८६ तथा १५८। (सम्पा०—बी० नानजिओ, लन्दन, १९२३।)

२५. स्वप्नोऽथवा मायानगरं गन्धर्वं शब्दितम्। लंकावतार पृ० ९।

२६. लंकावतार का० ४३, पृ० ९।

२७. वही का० १४४, द्वितीय परिवर्त।

२८. वही का० १६६, पृ० १०५।

कारण-भाव के विश्लेषण करने पर बाह्यवस्तुओं की सत्ता नहीं सिद्ध होती है, इसलिये अनभिलाप्य कहा गया है।[२९] अद्वैत के अनुसार भी प्रपंच को सद्सद् अनिर्वचनीय कहा है—अर्थात् सद्रूप से असद्रूप से अथवा उभयरूपों से वस्तुओं का कथन सम्भव नहीं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार सत् का बाध नहीं होता, असत् की प्रतीति नहीं होती। बाह्य वस्तुओं में दोनों बातें हैं, अतः सद्असद् अनिर्वचनीय है, इसी प्रकार लंकावतार में भी वस्तुओं को अनभिलाप्य कहा है, अर्थात् अनिर्वचनीय हैं। वस्तुओं के स्वभाव की खोज करने पर स्वभाव का परिचय नहीं मिलता, अपितु परभाव का ही परिचय मिलता है। घटादि का स्वभाव कुछ भी नहीं है, विज्ञानातिरिक्त घटादि की सत्ता नहीं है, किन्तु घटादि की प्रतीति होती है, इसी कारण घटादि माया के समान हैं। जिस प्रकार माया की सिद्धि सम्भव नहीं है, उसी प्रकार संसार की भी सिद्धि सम्भव नहीं।[३०] अद्वैत में भी माया को सदसद् अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि इसकी उक्तरूपों से सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार लंकावतार में यद्यपि प्रपंच के बाह्यत्व का जोरदार प्रत्याख्यान किया है, फिर भी उसके मायिक या परिकल्पित अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया गया। जैसाकि आचार्य पी० टी० राजू ने कहा है कि लंकावतार के अनुसार संसार न यथार्थ है, न भिन्न है, और न अभिन्न है, फिर भी यह बिना सत्य के नहीं है। इसे माया अवश्य कहा गया है, किन्तु माया असत्य अथवा अनस्तित्व का वाचक नहीं है। माया इसलिये कहा गया है, क्योंकि सत् न होने पर भी प्रतीत होता है।[३१] यही अद्वैत का, भावरूप अज्ञान के कारण प्रतीत संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यवस्तुयें हैं ही नहीं। यही बात अद्वैत के अनुसार भी कही गयी है। आरम्भणाधिकरण ब्रह्मसूत्र-भाष्य-टीकाओं में अद्वैताचार्यों ने वाचारम्भण के दृष्टान्त से कार्य को कारणाभिन्न कहा है।[३२] लंकावतार के द्वितीय परिवर्त में भी बाह्य जगत् को वाक्विकल्पित कहा गया है। अद्वैत के ही समान कहा गया है कि हे महामते, मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड न भिन्न है, न अभिन्न है। सुवर्ण भूषणों से न अन्य है, न अनन्य। यदि अन्य होता तो उनसे आरब्ध नहीं होता, अर्थात् यदि मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड एकान्त भिन्न होता, तब परमाणुओं से उसे आरब्ध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एकान्त भिन्न-एकान्त भिन्न वस्तु का कारण नहीं बन सकता। और यदि अभिन्न कहा जाय तो भी मृत्पिण्ड और परमाणुओं में कार्य-कारण-विभाग नहीं बन सकता।[३३] अतः कार्य न कारण से

---

२९. बुद्धया विवेच्यमानानां स्वभावोनावधार्यते।
तस्मादनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्चदेशिताः। लंकावतार सूत्र पृ० ११६ २। १७५।

३०. लंकावतार—पृ० १३०।

३१. The Idealistic thought of India—P. 264.

३२. विमतमधिष्ठानातिरिक्तसत्वशून्यं सावधित्वात्। न्यायनिर्णय पृ० ३७४।
भामती भी द्रष्टव्य पृ० ३७४।

३३. लंकावतार द्वितीय परिवर्त पृ० ३४।

अभिन्न है, न भिन्न है। अद्वैत के अनुसार भी कार्य जगत् न ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि अभिन्न होने पर कार्य की पृथक् प्रतीति नहीं होनी चाहिए, और न भिन्न ही है, ऐसा होने पर कारण सत्ता से कार्यसत्ता की भिन्नता सिद्ध होगी और द्वैतवाद की आपत्ति होगी। अद्वैतवाद के ही समान लंकावतार में भी त्रिविध-सत्ताओं का वर्णन है—परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न।[३४] परिकल्पित के अनुसार अवस्तु में भी वस्तुत्व की कल्पना करना है जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना, एक चन्द्र में द्विचन्द्र की कल्पना। परतन्त्र सापेक्षता को कहते हैं। सभी वस्तुयें प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। विश्लेषण करने पर निःस्वभाव हो जाती हैं। परिनिष्पन्न वस्तुओं का मूल सत्व है। वही विशुद्ध विज्ञान है।

ऊपर के विवरण से हम यह समझने में समर्थ हो सकते हैं कि किस प्रकार लंकावतार के विज्ञानवाद की बाह्यवस्तुविषयक धारणा अद्वैत के मिथ्यावाद से समानता रखती है। अन्तर इतना ही है कि अद्वैतवाद बाह्यवस्तुओं की अनिर्वचनीयता एवं उनकी प्रतीतिक बाह्यता की सिद्धि में बल देता है, इसके वितरीत उक्त विज्ञानवाद बाह्यता या बाह्यवस्तुओं की विज्ञानातिरिक्तता के प्रत्याख्यान में बल देता है। यह बात नहीं कि इस विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तुयें प्रातीतिक भी हैं नहीं। प्रतीति का अपलाप कोई भी नहीं कर सकता।

बौद्ध-विज्ञानवाद का दूसरा रूप है स्वतन्त्रविज्ञानवाद। इस विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्य दिङ्नाग हैं। आचार्य दिङ्नाग के विज्ञानवाद का अनुसरण आचार्य धर्मकीर्ति ने किया है। इनके बाद इस विज्ञानवाद का विकास आचार्य शान्तरक्षित एवं कमलशील ने किया है। यह वसुबन्धु के विज्ञप्तिमात्रतावाद से अत्यन्त भिन्न विज्ञानवाद है। इसी विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में किया है, न कि वसुबन्धु के शाश्वत विज्ञानवाद का।[३५] भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण में आचार्य चन्द्रधर शर्मा ने इसी को 'स्वतन्त्रविज्ञानवाद' कहा है।[३६]

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। जो कुछ भी घट-पटादि के रूप में दिखायी देते हैं, वे सब विज्ञान के ही आकार हैं। वस्तुतः विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित हो रहा है। दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं की कल्पना दो रूपों में की जा सकती है—अणुरूप में या संघात रूप में। अणु अविभाज्य एवं अमूर्त है। अणुओं का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष केवल मूर्त द्रव्य का ही सम्भव है। यदि एक अणु का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, तब अणुओं के संघात के विषय में भी वही बात होगी, अर्थात् अणुओं के संघात का भी प्रत्यक्ष असम्भव है। इस प्रकार बाह्य वस्तुयें न अणुरूप हो सकती हैं और न ही

---

३४. The Idealistic thought of India.—P. 264,

३५. A critical survey of Indian philosophy.—P. 323.

३६. ibid.—P. 124.

अणुओं का संघातरूप ही; किन्तु बाह्य वस्तुयें प्रत्यक्षगोचर होती हैं। अणु या संघात बाह्य वस्तुओं के कारण नहीं बन सकते।[३७] दिङ्नाग के अनुसार आन्तरिक प्रत्यय ही बाह्य वस्तुओं के रूप में भासित होते हैं। ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्य-ग्राहकता के रूप में अवभासित होते हैं। वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही आन्तरिक हैं। बाह्यता अलीक है।

धर्मकीर्ति के अनुसार "सत् वह है जो प्रभावोत्पादन में समर्थ हो" जो वस्तु किसी कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ है वह असत् है, अतः "अर्थ-क्रियाकारित्व-प्रभावोत्पादन सामर्थ्य" परमार्थ का लक्षण है। धर्मकीर्ति के अनुसार बाह्यवस्तुयें असत् हैं, फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एवं बाह्यत्व दिखायी देता है। परम सत् ग्राह्य-ग्राहकत्व से परे है। पाण्डु रोगी रोग के कारण जिस प्रकार शंख को पीला देखता है—उसी प्रकार अविद्याग्रस्त होने के कारण चित्त को परमसत् नहीं समझ पाते, न ही बाह्य वस्तुओं को ही असत् समझते हैं, आन्तरिक प्रत्ययों को ही बाह्य वस्तुयें मान बैठते हैं। एकमात्र चित्त ही शुद्ध सत् है, वह स्वयंप्रकाश एवं स्वतः देदीप्यमान है।[३८]

शान्तरक्षित ने भी धर्मकीर्ति के समान अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य को ही परमार्थ कहा है। वह प्रभावोत्पादन में समर्थ है तथा क्षणिक है। संसार की सभी वस्तुयें शान्तरक्षित के अनुसार क्षणिक हैं, क्योंकि वे विनाशी हैं। क्षणिक वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है।[३९] विनाश वस्तु में कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु वस्तु के साथ ही होता है।[४०] अविनश्वर और नित्य वस्तु असम्भव है। यह विवेक और तर्क के विपरीत है। यदि कोई वस्तु नित्य और शाश्वत है तो उसमें उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों की एकसाथ उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि निमित्तकारण या प्रभावोत्पादक कारण विद्यमान होने के कारण विलम्ब का कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार की कल्पना यथार्थ जीवन के विपरीत है। वस्तुयें प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। भ्रमवश उसकी सादृश्यता को हम एकरूपता मान बैठते हैं, और लगने लगता है कि वस्तुयें नित्य हैं। वस्तुतः वस्तुयें क्षणिक हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हुये शान्तरक्षित ने कहा है कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यता नहीं है। ज्ञातृ-ज्ञेय-ज्ञान, कर्म-कर्तृ-क्रिया आदि का भेद तात्विक नहीं है। ये सब क्षणिक विज्ञान के ही विलास-मात्र हैं। इस क्षणिक विज्ञान का प्रकाशक अन्य नहीं है। यदि प्रकाश्य-प्रकाशक हैं भी, तो भी वे विज्ञानमात्र हैं, इसीलिये विज्ञानवाद में ज्ञान और ज्ञेय को अभेद कहा है। दोनों में भेद नहीं है। इसी को धर्मकीर्ति ने प्रमाणविनिश्चय में सहोपलम्भ-

---

३७. आलम्बन परीक्षा का० १॥ एवं आलम्बन परीक्षावृत्ति पृ० ३ तथा ४। १९४२।

३८. प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवोमलाः। प्रमाणवार्तिक २–२०८। धर्मकीर्ति, सम्पा० राहुलसांकृत्यान, किताबमहल, इलाहाबाद, १९४३।

३९. तत्व-संग्रह कारिका ३७५।

४०. वही—पृ० ३७६।

नियम कहा है।[४१] इस नियम के अनुसार वस्तु और वस्तु के ज्ञान में पार्थक्य नहीं है। प्रत्ययवाद का यह मूल और प्रधान तर्क है कि विज्ञान और विज्ञेय में अन्तर नहीं किया जा जा सकता, क्योंकि प्रत्यवादी का कहना है कि कोई भी वस्तु ज्ञान के बिना उपलब्धि का विषय कैसे बन सकती है ? ज्ञान के बिना वस्तु को जानना वदतोव्याघात है। ज्ञान के बिना वस्तु की सिद्धि करना असम्भव है। जहां भी वस्तु की सिद्धि की जायेगी, ज्ञान वहीं पर होगा। ज्ञान और ज्ञेय में एक प्रकार यह व्याप्ति है, किन्तु प्रत्ययवादी का कहना है कि ज्ञान विषय-निरपेक्ष हो सकता है, विषय ज्ञान निरपेक्ष नहीं हो सकता। बर्कले ने भी इसी तर्क से बाह्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार 'सत्ता सर्वदा अनुभव-मूलक होती है'[४२] जहाँ अनुभव नहीं, सत्ता नहीं। इसी प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध का भी यही कथन है कि ज्ञान के बिना ज्ञेय के अस्तित्व की सिद्धि कैसे सम्भव है ? जहाँ पर भी घट को जाना गया वह ज्ञात पाया गया है। धर्मकीर्ति का सहोपलम्भ नियम भी यही बतलाया है कि विषय नील और उसकी धी अर्थात् ज्ञान दोनों अभिन्न हैं—नील वस्तु और नील ज्ञान दोनों अभिन्न पदार्थ हैं। जिसे ज्ञान का विषय कहा जाता है वह भी ज्ञान का ही आकार विशेष है। नीलाकार विज्ञानविशेष ही नीलवस्तु है। घटाकार विज्ञानविशेष ही घट है। ज्ञानातिरिक्त विषय की पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानातिरिक्त विषय असत् है। विज्ञानवादी विज्ञान और वस्तु में अभेदसिद्धि करने के लिये 'सहोपलम्भनियमात्' इस प्रकार 'सहोपलम्भ' का हेतुरूप से उपन्यास करते हैं। और इसी हेतुवल से अनुमान करके ज्ञान-ज्ञेय में नील और नीलज्ञान में अभेदसिद्धान्त की स्थापना करते हैं। ज्ञान और ज्ञेय के इस अभेद-सिद्धान्त को जानने के लिये उक्त अनुमान के हेतु 'सहोपलम्भ नियमात्' को जानना आवश्यक है। यहाँ पर 'सह' और 'नियम' दो विशेष शब्द हैं। ज्ञान के साथ ज्ञेय-नीलादि की उपलब्धि होती है। ज्ञान के बिना ज्ञेय विषय की उपलब्धि नहीं हो सकती यही उक्त 'सह' शब्द का अर्थ है, किन्तु 'सह' शब्द के इस प्रकार अर्थ करने पर ज्ञान और ज्ञेय में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती। 'किसी के होने पर किसी का होना' इससे दो पदार्थों की सिद्धि होती है, न कि अभेद की। 'सह' शब्द का स्वअर्थ है, साहित्य। साहित्य या सहभाव दो भिन्न पदार्थों में ही सम्भव है। अभेद में सहभाव कैसा ? इसी कारण भदन्त शुभगुप्त ने कहा है 'विरुद्धोऽयं हेतुः' यह सहोपलम्भनियम हेतु विरुद्धहेतु है।[४३] ज्ञान ओर ज्ञेय पूर्णरूप से अभिन्न होने पर सहभाव सम्भव नहीं, अतः उक्त हेतु ज्ञान-ज्ञेय में अभेद का साधक न होकर भेद का ही साधक हुआ, इसीलिये विपरीत हेतु होने के कारण विरुद्ध हेतु हुआ। विरुद्ध हेतु का अर्थ हुआ हेत्वाभास। हेत्वाभास-युक्त अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त हेत्वाभास-दोष

४१. सहोपलम्भनियमादभेदो-नीलतद्धियोः
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये—भामती में उद्धृत पृ० ५४४

४२. Essert Percipi.

४३. तत्व-संग्रह पंजिका ६९२। (कमलशील, बौद्ध भारती, वाराणसी, ६९२)।

से मुक्त होने के लिये शान्तरक्षित ने 'तत्त्व-संग्रह' में सह शब्द का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय के अभेदसिद्धान्त की स्थापना की है। शान्तरक्षित का कहना है कि नील ज्ञान और नील-वस्तु-ज्ञान दोनों एक हैं।[४४] एक या अभिन्नोपलब्धि ही सहोपलम्भ है। सर्वत्र ज्ञानाकार ही विषयाकार है, अतः ज्ञान की उपलब्धि ही विषय की उपलब्धि है, अतः ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय एक हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होने पर भी नेत्ररोग के कारण द्विचन्द्रमादर्शन किया करते हैं। वस्तुतः चन्द्रमा दो नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय एक हैं, फिर भी अज्ञानवश लोग दो समझ बैठते हैं।[४५] शान्तरक्षित ने एकोपलब्धि को सहोपलम्भ कहा है। इनके अनुसार 'सह' शब्द का अर्थ एक है, न कि साहित्य। तत्त्व-संग्रह पंजिका में किसी विज्ञानवादी आचार्य के अनुसार 'सह' शब्द का अर्थ 'एक काल' किया है। इनके अनुसार कालभेद वस्तुभेद का व्याप्य है। 'कालभेदस्य वस्तुभेदेन व्याप्यत्वात्'[४६] अर्थात् कालभेद होने पर वस्तु में भी भेद अवश्य होगा। ज्ञान और ज्ञेय की उपलब्धि एक काल में है, अतः दोनों एक हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र विज्ञानवादानुसार ज्ञान की उपलब्धि ही ज्ञेय सत्ता को सिद्ध करती है, अतः ज्ञान-व्यतिरिक्त ज्ञेय की पृथक् सत्ता नहीं है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार भी दृक् व्यतिरेक दृश्य की सिद्धि सम्भव नहीं, क्योंकि अध्यस्त कभी भी अधिष्ठानातिरिक्त नहीं होता। अधिष्ठानसापेक्ष होता है। उक्त सहोपलम्भनियम का और उससे साधित बाह्य सत्ता रहित विज्ञानवाद का अद्वैताचार्यों ने जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान किया है। अद्वैत आचार्यों का कहना है कि नील और नीलज्ञान अभेद अथवा एक साधक हेतु हेत्वाभासमात्र है, क्योंकि घट और घट-दर्शन का भेद संसार में प्रसिद्ध है। ज्ञान-ज्ञेय अभेद सिद्धान्त अथवा ज्ञान-ज्ञेय एक सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है। प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है, अतः प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा बाधित अनुमान प्रमाण की गति सम्भव नहीं है। उक्त हेतु प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास है, अतः एवं प्रकार हेतु से विज्ञानवादी विज्ञान और विज्ञेय में एकत्व या अभेदत्व साधन नहीं कर सकते। आचार्य शंकर ने 'नाभाव उपलब्धेः' (२।२।२८) ब्रह्मसूत्र के इस सूत्रभाष्य में विज्ञानवाद के उक्त सहोपलम्भनियम का जोरदार खण्डन किया है। वहिर्विश्व को विज्ञानातिरिक्त न मानने के सिद्धान्त के खण्डन में शंकर ने उपलब्धि का प्रश्न उठाया है, अर्थात् वहिर्विश्व घट-पटादि कैसे नहीं हैं ? हमारे सामने जो स्तम्भ या घट दिखायी दे रहे हैं उन्हें नहीं हैं—ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि उनकी उपलब्धि हो रही है।

---

४४. यत्संवेदनमेवस्याद्यस्य संवेदनंध्रुवम्
तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततोवान विभिद्यते ।। तत्वसंग्रह पृ० ६६१।

४५. आलम्बनपरीक्षा का० २ पृ० १

४६. तत्वसंग्रहपंजिका—पृ० ६६३

उपलभ्यमान वस्तु के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।[४७] वाचस्पति मिश्र का कहना है कि बाह्य वस्तु घटादि की उपलब्धि इतनी स्पष्ट है कि उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। मात्र स्पष्ट अनुभव ही नहीं 'यह घट है' 'यह पट है' इत्यादि सार्वजनिक अनुभव हुआ करता है, अर्थात् एक व्यक्ति के लिये जो घट प्रत्यक्षसिद्ध बाह्य वस्तु है, वह सभी के लिये प्रत्यक्षसिद्ध घट है, अतः उनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[४८] एक बात और भी है कि जो भी बाह्यविषय की उपलब्धि करता है, वह उपलब्धि की ही उपलब्धि नहीं करता, अपितु बाह्य विषय की उपलब्धि विषयतया करता है, अतः बाह्यार्थ का अभाव नहीं है।

अद्वैतवेदान्ती बाह्य वस्तु को विज्ञानातिरिक्त व्यावहारिक बाह्यवस्तुयें स्वीकार करते हैं, इसी कारण विज्ञानवाद के ऊपर उनका आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किये बिना ठहर नहीं सकते, क्योंकि बाह्यता का खण्डन करने के लिये भी उसे स्वीकार करना होगा।

आचार्य दिङ्नाग ने आलम्बन परीक्षा में विज्ञानवाद की स्थापना करते हुये कहा है कि—'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते'[४९] अर्थात् जो आन्तरविज्ञान है, वहीं बहिर्विश्व में ज्ञेयरूप से भासता है। ज्ञान के समान ज्ञेय वस्तु भी आन्तर है, बाह्य नहीं। बाह्यता अलीक है, अलीक बाह्यता ही मन में भासती है और उस बाह्यता को हम सत्य समझ बैठते हैं। आचार्य दिङ्नाग की इस उक्ति को उद्धृत करते हुये अद्वैताचार्यों ने इसका प्रत्याख्यान किया है। आचार्य शंकर का कहना है कि यदि बहिर्विश्व विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, तब तो घटादि भी अलीक वस्तु हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बहिर्वस्तुयें अलीक हैं। यदि ऐसी बात है कि बाह्य वस्तुयें अलीक हैं, तब उस अलीक वस्तु का उपमान कैसे सम्भव है? विज्ञानवादी जो कहते हैं—'बहिर्वत्,' यहाँ बहिर्वस्तु के अभाव में 'बहिर्वत्—'बाह्यवस्तु के समान' यह शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? अर्थात् यदि बाह्य वस्तुयें हैं ही नहीं तब उन्हें उपमान के रूप में कैसे लिया जा सकता है?[५०] बहिर्वस्तु यदि आकाशकुसुम के समान अलीक है, तब तो 'बहिर्वत्' करके उपमान नहीं दिया जा सकता, 'आकाशकुसुम के समान देखा जा रहा है' ऐसा कथन नहीं होता। 'विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्र के समान है' ऐसा कथन कोई भी नहीं करता।[५१] विज्ञानवादी बहिर्विश्व के अस्तित्व को नहीं स्वी-

---

४७. न खल्वभावो बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात्, उपलब्धेः।
ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य पृष्ठ ५४७।

४८. न हि स्फुटतरे सर्वजनीन उपलम्भे सति तदभावः शक्यो वक्तुम्।
भामती—पृ० ५४७।

४९. आलम्बनपरीक्षा—पृ० २ कारिका ६।

५०. प्रत्याख्यातुकामाश्च बाह्यमर्थं बहिर्वदितिवत्कारं कुर्वन्ति। ब्रह्मसूत्रभाष्य पृ० ५४८

५१. न हि विष्णुमित्रो वन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत।
ब्रह्मसूत्रभाष्य पृ० ५४८

कार करते, फिर भी 'बहिर्वत्' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार वे विरुद्धोक्ति करते हैं। ज्ञेय विषय से ही ज्ञान में विशेषता आती है। यदि ज्ञेय विषय के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तब ज्ञान में विशेषता कहाँ से आयेगी ? घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदि सभी में ज्ञान है। ऐसी अवस्था में घट-पटादि को अलीक कह दिया जाय, तब तो ज्ञान ही मात्र रह जायेगा जिसमें घट-पटादि विशेषताएं होंगी नहीं। इस पर यदि वासना-वैचित्र्य के कारण ज्ञान में वैचित्र्य माना जाय तो भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता, क्योंकि वासना-वैचित्र्य भी तो ज्ञेय वैचित्र्यता पर निर्भर करेगा। विना ज्ञेय वैचित्र्य के वासना में विचित्रता सम्भव नहीं। विज्ञानातिरिक्त बाह्य सत्ता के अभाव होने पर सर्वत्र ज्ञान का ही ज्ञान होगा, किन्तु व्यवहार में 'मैंने ज्ञान को जाना है' ऐसा बोध न होकर 'मैंने घट को जाना है' ऐसा होता है। यदि काल्पनिक बाह्य वस्तु को माना जाय, तब उसे मिथ्या रूप में स्वीकार करना ही होगा।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में (२।२।२९) जाग्रत् और स्वप्न के वैधर्म्य भी बतलाये हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यवस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं के समान निःस्वभाव हैं, किन्तु आचार्य शंकर यहां पर बाह्य वस्तुओं को स्वप्नतुल्य कहने के भी विरुद्ध हैं। उनका कहना है, जाग्रत् और स्वप्न में महदन्तर है। प्रथम वैधर्म्य तो बाध-अबाध है, अर्थात् स्वप्नदृष्ट वस्तुयें जाग्रत् में बाधित हो जाती हैं। स्वप्नदृष्ट महाजन समागम जागने पर नहीं रहता। स्वप्न में सिंह देखकर भीत हुआ व्यक्ति जागने पर भीत नहीं रहता। इस प्रकार स्वाप्निक वस्तुयें जाग्रत में बाधित हो जाती है, अतः जाग्रत् से स्वाप्निक वस्तुयें कम सत्ता वाली हैं।[५२] जाग्रत् वस्तुयें अनुभूत वस्तुयें होती हैं, जबकि स्वप्न की वस्तुयें स्मृति में निहित होती हैं। स्वप्न व्यक्तिगत होता है। जाग्रत् सार्वजनिक है, अर्थात् स्वप्न में देखी हुई वस्तुयें उसी स्वप्नद्रष्टा को ही दिखायी देती हैं, पास में सोये हुये को नहीं दिखायी देतीं, जबकि जाग्रत् की वस्तुयें सभी को समानरूप से दिखायी देती हैं। इस प्रकार शंकर ने जाग्रत्-स्वप्न में वैधर्म्य दिखाकर बाह्यवस्तुयें स्वप्नवत् नहीं हैं, सिद्ध किया है।

हमने ऊपर के विवरणों में देखा है कि किस प्रकार आचार्य शंकर और उनके अनुयायी बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन के प्रसंग में वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। इससे कुछ स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैतवादी प्रत्ययवादी होते हुये भी बाह्य वस्तुओं की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते, यह दूसरी बात है कि वे बाह्य वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते हैं। सहोपलम्भ नियम के प्रत्याख्यान से तथा जाग्रत् स्वप्न वैधर्म्य के कथन से अद्वैतवादी बाह्यविषयक धारणा में और भी स्पष्ट हो जाते हैं। बाह्य वस्तुओं का अद्वैत अपलाप नहीं करता। वाचस्पति मिश्र ने विज्ञानवाद के ज्ञेय निरपेक्ष विज्ञान के विषय में कहते हुये अद्वैत की बाह्य वस्तु विषयक धारणा को और

---

५२. ब्रह्मसूत्रभाष्य—पृ० ५५५।

स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि 'ब्रह्मवादी नीलादि की आकारवाली वित्ति को नहीं मानता किन्तु नील से अनिर्वचनीय को मानता है।[५३] इसी कारण महायानिक मत में उसका अनुप्रवेश नहीं होता। कल्पतरुकार ने भी भामती का समर्थन करते हुये कहा है कि बौद्धविज्ञानवादी नीलादि आकार को विज्ञानाकार मानते हैं न कि वेदान्ती।[५४] न्यायमकरन्दकार आनन्द भट्टारक ने भी अद्वैतमत को विज्ञानवाद से भिन्न प्रकार का बतलाने के लिये कहा है कि—हम प्रपंच को आकाशकमल नहीं कहते। यदि प्रातीतिक प्रपंच को स्वीकार न करते तब तो विज्ञानवाद में ही अनुद्रवेश हो जाता।[५५]

इस प्रकार हमने देखा कि अद्वैतवेदान्ती जगत् की अनिर्वचनीयता की रक्षा के लिये व्याकुल हैं, जबकि बौद्धविज्ञानवादी जगत् की वस्तुओं के आकारों को भी विज्ञानाकार बतलाते हैं। अद्वैतवेदान्त में 'दृष्टिसृष्टिवाद' नामक एक सिद्धान्त है, जिसकी तुलना विज्ञानवाद से की जा सकती है। प्रो० दासगुप्त के अनुसार अद्वैत में दृष्टिसृष्टिवादी आचार्य मण्डनमिश्र और बाद में उनका अनुयायी प्रकाशानन्द है। इस मत के अनुसार भी दृष्टि समकालीन सृष्टि मानी गई है। ज्ञान में प्रतिभास होता है, इसलिये विषय है, ज्ञान प्रतिभासक न होने पर विषय भी नहीं है। समस्त वस्तुयें इस मत के अनुसार साक्षी-भास्य हैं। यदि द्रष्टा जीव न हो तो जगत्दर्शन भी नहीं रहेगा, क्योंकि द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं हैं, दृश्य द्रष्टा के आधीन है। मण्डन मिश्र के अनुसार बाह्य वस्तुयें सिद्ध होती तो उन्हें ज्ञान निरपेक्ष कह सकते; किन्तु दृष्टि के बिना दृश्य असिद्ध है।[५६]

मण्डन मिश्र के उक्त सिद्धान्त का अनुसरण प्रकाशानन्द ने किया है और दृष्टि निरपेक्ष सत्ता का उन्होंने भी प्रत्याख्यान किया है।[५७] प्रकाशानन्द के अनुसार वौद्ध विज्ञानवाद के समान ही ज्ञान और ज्ञेय साथ में पाये जाने के कारण सब कुछ ज्ञान का ही प्रतिभास है।[५८] किन्तु अद्वैत वेदान्त के विवरण सम्प्रदाय के आचार्य पद्मपाद और प्रकाशात्मयति इस दृष्टिसृष्टि के विरोधी हैं। उनके अनुसार ज्ञान व्यतिरिक्त भी बाह्य वस्तुओं का व्यावहारिक अस्तित्व है।[५९] अद्वैतसिद्धिकार ने उक्त दृष्टिसृष्टि का अर्थ ही व्यावहारिक-सत्तापरक किया है। उनके अनुसार दृष्टिसृष्टि का अर्थ 'दृष्टि रेव सृष्टि' नहीं है, क्योंकि दृष्टि ही सृष्टि मानने पर बौद्ध विज्ञानवाद

---

५३. न हि ब्रह्मवादिनो नीलाकारां वित्तिमभ्युपगच्छन्ति। कित्वनिर्वचनीय नीलादिति। भामती—पृ०५४१।

५४. बौद्धाहि वित्तेर्विज्ञानस्यान्तरं नीलादिरूपमाचक्षते न वयमिति—कल्पतरु—पृ० ५४१

५५, न्यायमकरन्द—पृ० ६१।

५६. Indian Idealism.—P. 170.

५७. The world appearance and all objects contained in it have no existence whiley they are not perceived. —Ibid.—P.172.

58. Indian Idealism—P. 173. S. Dasgupta. Cambridge, 1962.

59. वही—पृ० १७८

में अनुप्रवेश होगा। न ही उन्होंने दृष्टि व्यतिरिक्त सृष्ट्यभाव को ही 'दृष्टिसृष्टि' माना है। 'दृष्टिसमकालीनसृष्टि' इस पक्ष का भी प्रत्याख्यान करके उन्होंने 'ज्ञातैकसत्व' अथवा 'अज्ञातसत्वाभाव' को ही दृष्टिसृष्टि' कहा है।[६०] घट-पटादि वस्तुएँ जब भी हैं ज्ञानपूर्वक हैं, अर्थात् उनकी सत्ता ज्ञात होती है। कोई भी वस्तु अज्ञातसत्व नहीं होती। इस प्रकार अद्वैतसिद्धि-कार ने बाह्यवस्तुओं को ज्ञान-भिन्न माना है। साथ में वे वस्तुयें ज्ञातसत्व होने के कारण दृगध्यस्त भी हैं। दृष्टिसृष्टि के अद्वैतसिद्धिकार द्वारा प्रदर्शित अर्थ से वस्तुएँ ज्ञानातिरिक्त होते हुए भी ज्ञानाध्यस्त होती हैं। इस प्रकार अद्वैत का अनिर्वचनीयवस्तुवाद शान्तरक्षित और धर्मकीर्ति के क्षणिक विज्ञानवाद से भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि इनके अनुसार' ज्ञातैकसत्व होना' ज्ञान ही हो जाना नहीं है। घट ज्ञात है, किन्तु ज्ञान से भिन्न सत्व वाला है। वह सत्व न सत् है न असत् है, किन्तु सदसदनिर्वचनीय है। उक्त स्वतन्त्र विज्ञानवाद से अद्वैत मत का अन्तर यह है कि अद्वैत मत में स्थिर अधिष्ठान में अध्यस्त मिथ्या जगत् को माना जाता है, जबकि विज्ञानवाद में क्षणिक विज्ञान ही सत् हैं।[६१]

स्वतन्त्र विज्ञानवाद में बाह्यवस्तुविषयक धारणा क्या है, ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाती है। जैसाकि हमने पहले दर्शाया है कि वसुबन्धु का विज्ञानवाद शाश्वतविज्ञानवाद है, जबकि धर्मकीर्ति-शान्तरक्षित की ओर से ऐसा कोई आग्रह नहीं। सहोपलम्भ नियम से उक्त विज्ञानवाद ने सिद्ध किया है कि विज्ञानातिरिक्त वस्तुएँ हैं नहीं, जबकि अद्वैत में ज्ञानातिरिक्त वस्तु की सिद्धि के लिए बहुत प्रयास देखा जाता है 'अन्तर्ज्ञेयरूप बहिर्वत्' के प्रत्याख्यान में देखा है कि किस प्रकार शंकर और उनके अनुयायी बाह्यवस्तुओं को विज्ञानरूपता से भिन्न सिद्ध करने को तत्पर हैं। इसी प्रकार जाग्रत् स्वप्न वैधर्म्य-विचार में भी अद्वैताचार्य दोनों में अन्तर दिखाते हैं। तात्पर्य यही निकलता है कि स्वप्न प्रातिभासिक है। स्वाप्निक वस्तुएँ भी प्रातिभासिक हैं। किन्तु जाग्रत् के घटादि पदार्थ उससे भिन्न व्यावहारिक हैं। घटादि पदार्थ सार्वजनिक होने के कारण व्यावहारिक हैं। साथ में घटादि का बाध ब्रह्म के ज्ञान से पूर्व नहीं होता, अतः घटादि वस्तुएँ प्रातिभासिक स्वप्न या रज्जु-सर्प के समान मिथ्या न होकर अन्य प्रकार मिथ्या हैं, अर्थात् व्यवहारविषय होते हुए भी त्रिकालाबाध्य न होने के कारण मिथ्या हैं। स्वप्नादि के दृष्टान्त अद्वैत में भी दिये गये हैं, किन्तु व्यवहार में दोनों में सत्ताभेद को स्वीकार करते हुए ही ऐसे दृष्टान्त दिये गये हैं।[६२]

शून्यवाद

नागार्जुन माध्यमिक कारिका में शून्यवाद की स्थापना करते हैं। उनके अनुसार बाह्यवस्तुएँ अबोध्य होने के कारण अवास्तव हैं। बाह्यवस्तुओं के स्वभाव में

---

६०. अद्वैतसिद्धि—पृ० ५३३।

६१. संक्षेप शारीरक—२।२८ पृ० २०। सर्वज्ञात्ममुनि, काशी, सं० १९४४।

६२. Indian Idealism—P. 180.

विरोध है जिस कारण उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य सर्वदा सर्वथा एकरूप होता है। यह प्रपंच, चाहे आन्तर हो चाहे बाह्य, प्रातीतिक है। यहां पर विज्ञान और विज्ञेय, दोनों अवास्तव हैं। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता तीनों के रूप में वस्तुएँ सिद्ध नहीं हो सकतीं। सम्बन्धों की जटिलता को ही लोग संसार कहते हैं, परन्तु विश्लेषण करने पर सम्बन्ध दुर्बोध्य हैं। नागार्जुन ने चेतन अचेतन सभी को अवास्तव कहा है। जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या हैं उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या हैं।[६३] आचार्य नागार्जुन ने संसार की सभी वस्तुओं को अवास्तव कहा है, क्योंकि वे प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं। प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है, कारण पर निर्भरशीलता। कोई भी कार्य अपने कारण से व्यतिरिक्त उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण नाना हैं। इसका अर्थ हुआ नाना कारणों पर निर्भरशीलता ही कार्य है। कार्य यथार्थ नहीं हैं। यदि वे यथार्थ हैं तब उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता ? यदि अयथार्थ हैं, तब कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? नागार्जुन के अनुसार जो भी सापेक्ष हैं, प्रातीतिक हैं। संसार की वस्तुएँ सापेक्ष हैं, इसलिये अवास्तव हैं।[६४] कार्य से अन्य रूप से कारण की, और कारण से अन्य रूप से कार्य की उपलब्धि नहीं होती, यदि अतिरिक्त रूप से कारण कार्य की उपलब्धि हो, तब तो उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध ही नहीं होगा, क्योंकि कार्य-कारण का सम्बन्ध अनिवार्य माना गया है। विग्रहव्यावर्तिनी में नागार्जुन कहते हैं कि सभी धर्म तत्त्व-रहित हैं, निःस्वभाव हैं, क्योंकि वे प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं।[६५] इसी प्रकार आत्मा और स्कन्धों की सत्ता का भी प्रत्याख्यान किया है। इनके अनुसार जो परमार्थ है वह उत्पत्ति और विनाश का विषय नहीं बनता। वस्तुएँ भी वस्तुतः न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होतीं हैं।[६६] उत्पत्ति-विनाश प्रतीत होते हैं। वस्तुएँ न भावरूप हैं, न अभावरूप हैं, न वस्तु का लक्षण सम्भव है, न वस्तु ही लक्ष्य बन सकती है।[६७] लक्ष्य-लक्षण-भाव, कार्य-कारण-भाव आदि बातें काल्पनिक हैं। माध्यमिक के अनुसार वस्तु न सत् है, न असत् है और न सदसत् है, न उभयभिन्न है। इस प्रकार वस्तु 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' है। जिस वस्तु का कथन उक्त किसी भी पक्षावलम्बनपूर्वक सम्भव नहीं उस वस्तु की उपलब्धि के विषय में किस प्रकार का कथन सम्भव है ? अर्थात् वस्तु का कथन किसी भी पक्ष से सम्भव नहीं।[६८] भाव पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होते

---

६३. माध्यमिक शास्त्र ७—६४

६४. A critical Survey of Indian Philosophy.—P. 100.

६५. विग्रहव्यावर्तिनी—पृ० २६ (बड़ोदा १६२६)

६६. Mahayan Vimsaka of Nagarjuna.--P. 11. Bhattacharya, Cal, 1931.

६७. तस्मान्नभावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणम्। माध्यमिक शास्त्र पृ० ५३

३८. सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते। चतुः शतक—१६, २५
माध्यमिक शास्त्र में उद्धृत—५

हैं, न परतः और न दोनों से, न बिना हेतु के ही होते हैं। इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते।[६९] जिनकी उक्त प्रकार से उत्पत्ति सम्भव नहीं, उनकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। यदि उत्पत्ति उक्त विरोध के कारण सम्भव नहीं, तब विनाश या निरोध भी सम्भव नहीं।[७०]

नागार्जुन वस्तुओं को ही शून्य नहीं कहते, अपितु तत्त्व को भी शून्य कहते हैं। तत्त्व को शून्य कहने का तात्पर्य है स्वभावशून्यता। तत्त्व में किसी प्रकार के स्वभाव नहीं हैं, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या निःस्वभावता से ही की है।[७१] धर्मशून्यता या स्वभावशून्यता तो अद्वैत-ब्रह्म में भी है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्म में सत्यत्वादि गुण भी नहीं रहते। वह निर्धर्मक है। अद्वैत में भी कार्य को कारण-व्यतिरिक्त कहा है। पारमार्थिक दृष्टि से कार्य जगत् कारणानन्य है और व्यावहारिक दृष्टि से कारणभिन्नत्वेन प्रतीत होने के कारण कार्य-जगत् मिथ्या है। शून्यवाद के अनुसार कारणाधीन कार्य है, अतः कार्य-सत्ता भिन्न नहीं। जब कारणाधीन कार्यसत्ता है तब कार्य की अपनी सत्ता नहीं है, अतः वह मिथ्या है, 'स्वसत्ताराहित्य' ही मिथ्या है। शून्यवादी कार्यकारणात्मक जगत् का सत्व नहीं मानते। कहीं-कहीं पर कार्य-जगत् को नरशृंग, स्वप्नसदृश कहा गया है। कहीं पर मरीच्युपम कहा है। कहीं पर उदक प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व समझाया है।[७२] शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में मायोपम कहा है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं।[७३] इसी प्रकार उक्त रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के लिये प्रतिभास शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[७४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक वस्तुओं को जब शून्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य स्वभावशून्यता से है, न कि वस्तुओं के अभाव से। इसी कारण से वस्तुओं के विषय में निजस्वभाव और परस्वभाव का खण्डन किया गया है। वस्तुतः वस्तुओं के अभाव का कथन सम्भव ही नहीं। न्याय की भाषा में अभाव-प्रतियोगी-सापेक्ष होता है। यदि वस्तुओं के पूर्ण अभाव का कथन हो तब तो प्रतियोगित्वेन अन्यत्र वस्तुएँ सिद्ध हो जायेंगी। नागार्जुन सापेक्षता के कारण वस्तुओं की सत्ता का खण्डन करते हैं। अद्वैत वेदान्त में भी कार्य-जगत् अधिष्ठान सापेक्षतया सत्स्वभाव-शून्य है। अद्वैतवादी कहते हैं कि 'घट' सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान-बाध्य है।

---

६९. माध्यमिक शास्त्र—पृ० ४
७०. वही—पृ० ७०
७१. माध्यमिक शास्त्र-प्रसन्नपदा टीका—१६१
७२. माध्यमिक शास्त्र १६३। (दरगंजा १९६०)
७३. मायोपमं सुभूते रूपं, मायोपमा वेदना मायोपमा संज्ञा, मायोपमाः संस्काराः, मायोपमं विज्ञानम्। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—परिवत ६ पृ० ९०७।
७४. प्रतिभासोपमं सुभूते रूपम् इत्यादि—वही पृ० ९०८। (कलकत्ता १९०२)

अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। घटाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य को जान लेने पर अद्वैत के अनुसार 'घट' बाधित हो जायेगा। तब वह सत् नहीं रहेगा, क्योंकि जो बाध्य है वह परमसत् नहीं है। व्यावहारिक सत् भले ही हो। यहां पर सापेक्षता द्वारा वस्तुओं को मायोपम कहना अद्वैत के मिथ्यात्व से साम्य रखता है। अद्वैत में मिथ्यात्वानुमान में 'परिच्छिन्नत्व' हेतु दिया है। सभी वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं, अतः मिथ्या हैं। वस्तुएँ देशगत और कालगत हैं, कोई भी वस्तु देश और काल से परे नहीं है। देश-काल से वस्तुएँ सीमित हैं। घट न उत्पत्ति के पूर्व था, न विनाश के बाद में रहेगा, अतः मिथ्या है। इसी प्रकार घट किसी देश में होता है और घट घट ही में व्याप्त है, पट में नहीं है, अतः मिथ्या है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुएँ इसी अर्थ में सापेक्ष हैं। सापेक्ष वस्तु परमसत् नहीं हो सकती। परमसत् निरपेक्ष होगा। यद्यपि नागार्जुन ने वस्तुओं के लिये शशविषाण, गन्धर्वनगरादि उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और वस्तुओं को असत् कहा है, फिर भी व्यवहार का वे अपलाप नहीं करते। अद्वैत के ही समान वे जागतिक वस्तुओं को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने, (जिनमें अद्वैत भी है) शून्यवाद को सर्वाभाववाद के रूप में लिया है। न्याय-दर्शन में माध्यमिक के शून्यवाद को 'सर्वाभाववाद'[७५] कहा है, क्योंकि शून्यवादी सभी वस्तुओं को असत् कहते हैं। वाचस्पति मिश्र ने भी शून्यवाद को अभाववादपरक ही कहा है। उनका भी कहना है कि इस मतानुसार अश्वात्मना गौ नहीं है और गवात्मना अश्व नहीं है। इतरेतराभाव सिद्ध होने के कारण सर्वत्र सर्व का अभाव है।[७६] आचार्य शंकर ने भी भाष्यों में 'शून्य' को अभाव के रूप में ही लिया है 'सदभावमात्रं तत्वं परिकल्पयन्ति बौद्धाः'[७७] बौद्ध शून्यवादी तत्त्व को सदभाव के रूप में कहते हैं। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर ने व्यावहारिक सत्य को सर्वप्रमाण-सिद्ध कहा है। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता तब तक लोक-व्यावहारिक वस्तुओं का अपलाप नहीं किया जा सकता।[७८] पंचपादिकाकार ने भी शून्यवाद को असदर्थ में ग्रहण किया है। बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत ब्रह्मवाद में अन्तर दिखाते हुए उन्होंने भी कहा है कि अध्यस्त वस्तु को असत् नहीं कहा जा सकता, ऐसा कहने पर उसकी प्रतीति की संगति नहीं बनेगी। अध्यस्त वस्तु प्रतीत होती है, अतः अद्वैत के अनुसार अध्यस्त वस्तु सदसदनिर्वचनीय है, किन्तु बौद्धमत के अनुसार वस्तु असत् ही है। 'ननु सर्वमेवेदमसदिति भवतो मतम्'[७९]। खण्डनकार श्रीहर्ष ने भी बौद्ध शून्यवाद और अद्वैत के अनिर्वचनीयतावाद में भेद सिद्ध किया है, किन्तु खण्डनकार ने पूर्वोक्त आचार्यों के समान

---

७५. सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः—न्यायदर्शन ४।१।३७

७६. असन् गौरश्वात्मना अनश्वो गौरसन्नश्वो गवात्मना
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका पृ० ४३० तथा ४३१

७७, छान्दोग्यभाष्य—६।२।१

७८. ब्रह्मसूत्रभाष्य—५५७ (निर्णयसागर १९३८)

७९. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—द्वितीय भाग पृ० १०३२। (उद्धृत)

शून्यवाद के साथ अन्याय नहीं किया है। खण्डनकार ने शून्यवाद के लिये कहा कि शून्यवाद सभी को अनिर्वचनीय कहता है जबकि अद्वैतवादी विज्ञानस्वरूप ब्रह्म को छोड़कर विश्व को सदसद् रूप से अनिर्वचनीय कहते हैं।[८०]

ऊपर के विचारों से वैदिक दार्शनिकों की शून्यवाद के प्रति धारणा को हम ठीक प्रकार से समझ सकते हैं। शून्य का अर्थ इन दार्शनिकों ने विशेष न करके लोक में गृहीत अर्थ ही किया है और विश्व को सापेक्षतया शून्य कहने वाले माध्यमिक को सर्वाभाववादी सिद्ध किया है।[८१] परन्तु शून्यवाद का प्रधान ग्रन्थ माध्यमिक कारिका के साक्ष्य पर माध्यमिक सर्वाभाव या असत्वादी सिद्ध नहीं होता।[८२] माध्यमिक विश्व की सांवृतिक सत्ता का अपलाप नहीं करता। प्रपंच को माध्यमिक संवृतिसत्य कहता है। वस्तुत: अद्वैतवेदान्त के ही समान माध्यमिक भी व्यवहार और परमार्थ में भेद करता है। माध्यमिक के अनुसार सत्य दो हैं–सांवृतिक सत्य और परमार्थ सत्य।[८३] संवृति का अर्थ है अविद्या जो वस्तु के ऊपर आवरण डाल देती है। अद्वैत में अविद्या की दो शक्तियां मानी गई हैं–आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति वस्तुस्वरूप को आवृत कर लेती है, विक्षेप शक्ति उसी में नवीन वस्तु का आरोप करती है। जैसे रज्जुगत अज्ञान की आवरण शक्ति द्वारा रज्जु को आवृत कर दिया जाता है और विक्षेपशक्ति द्वारा वहीं पर सर्पज्ञान की दृष्टि होती है, इस प्रकार अध्यस्त मिथ्या वस्तु की उत्पत्ति होती है। माध्यमिक के अनुसार संवृत्ति का कार्य भी–वस्तु को आवृत करके अवस्तु का ज्ञान कराना है।[८४] बोधिचर्यावतार में कहा है–'जिस प्रकार कामला रोगी रोग के कारण श्वेत वस्तु (शंखादि) के श्वेत रूप को पीलेपन में आवृत कर देता है और उसके स्थान पर अन्य रूप–अर्थात् पीतरूप को आरोपित कर देता है, उसी प्रकार अविद्या वस्तु के स्वरूप को आवृत करके अविद्यमान रूप को आरोपित करती है।'[८५] अविद्या के कारण असत् का सत् में आरोप होता है और असत् सत् के समान लगने लगता है। जो दृश्यमान है, वह सत् नहीं है, क्योंकि वह विनाशी है। संवृत्ति से सम्पूर्ण व्यावहारिक वस्तुओं का कथन है जिसे साधारण लोग सत्य समझते हैं। यह सांवृतिक सत्य भी दो प्रकार का है–लोकसंवृत्ति और अलोकसंवृत्ति। लोक-

---

८०—यदादिम: सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति......विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्व सत्वासत्वाभ्याम-निर्वचनीयं ब्रह्मवादिन: संगिरन्ते।

खण्डनखण्डखाद्य—१८३

८१—भारतीय दर्शन की रूपरेखा—२२१ तथा २२२। अंग्रेजी संस्करण हिरियन्ना, लन्दन १९५८

८२—बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय-दर्शन—पृ० ६६१, प्रथम खण्ड।

८३—द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्य च परमार्थत:। माध्यमिक शास्त्र पृ० २१५

८४—बौद्ध-दर्शन मीमांसा—पृ०२६१।

८५—अभूतं ज्ञापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते
अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्। बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन प्रथम भाग। उद्धृत पृ० ६८६।

संवृत्ति परमार्थ ज्ञान होने से पूर्व तक सत्य हैं। कार्यकारणभावादि सर्वजगत् सापेक्षतया परमार्थज्ञान अर्थात् शून्यता के स्वरूप ज्ञान से बाध्य है। साथ में परमार्थ ज्ञान के लिये साधना भी इसी लोसंवृत्ति में ही करनी है। अतः लोकसंवृत्ति आकाशकुसुमादि से भिन्न है, क्योंकि आकाशकुसुमादि की सत्ता की कभी भी प्रतीति लौकिक वस्तुओं के समान नहीं होती। लौकिक वस्तुयें अपरमार्थ होने पर भी हैं। दूसरी है अलोक-संवृत्ति। अलोक- संवृत्ति भ्रान्ति है, जैसे सीपी में चांदी का भ्रम। यह अलोक-संवृत्ति है। अद्वैत वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता ही माध्यमिक की लोकसंवृत्ति है और अलोक-संवृत्ति अद्वैत की प्रातिभासिक सत्ता के समान है। अलोकसंवृत्ति की पृथक् सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अलोकसंवृत्ति भी लोकसंवृत्ति के अन्दर ही आ जाती है।[८६] वस्तुतः सत्ता तो परमार्थशून्यता की है। परमार्थिक दृष्टि से संवृत्ति का बाध हो जाता है।[८७]

ऊपर के विवरण माध्यमिक सम्प्रदाय का अद्वैत सम्प्रदाय के साथ साम्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। अद्वैत के समान त्रिविध सत्तावाद के द्वारा नागार्जुन अपने दर्शन को सर्वाभाववाद से बचा लेते हैं।[८८] साथ में व्यावहारिक जीवन एवं वस्तुओं की आवश्यकता को भी अक्षुण्ण रखते हैं। जब माध्यमिक अलोकसंवृत्ति सत्य रज्जु-सर्पादि भ्रम के विषयों को कहता है तब लोकसंवृत्ति सत्य को प्रतिभासिक या शशविषाण के समान अलीक कैसे कहा जाय? शशविषाण और रज्जु-सर्प में अन्तर तो अगत्या मानना पड़ेगा। जहां पर नागार्जुन शशविषाण या गन्धर्वनगरादि शब्दों का प्रयोग बाह्यवस्तु के लिये करते हैं, वहां पर उन्हें मात्र उदाहरण के रूप में समझना चाहिए। तात्पर्यमात्र 'बाध' से है। जिस प्रकार आकाशकुसुम का अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार भ्रमकालीन सर्प का वस्तुतः अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार व्यावहारिक कार्य कारणात्मक वस्तुओं का भी अस्तित्व नहीं रहेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन तीनों स्वभावों में अन्तर है ही नहीं। इन तीनों में जो व्यक्तिगत सर्वजनीनादि तथा कालगत अन्तर हैं वे अवश्य नागार्जुन को भी स्वीकार्य हैं। ए० बी० कीथ का यह कथन कि नागार्जुन संसार को वन्ध्यापुत्र के समान अलीक मानता है समीचीन नहीं है।[८९] आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि माध्यमिक जब वन्ध्यापुत्रादि शब्दों का प्रयोग करता है तो उसका तात्पर्य अलीक कथन करना नहीं है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सत्ताशून्य से तात्पर्यता है।[९०] इसी कारण माध्यमिक ने मध्यम मार्ग

---

८६. The Central Philosophy of Buddhism.—P. 244, 245, T. R. V. Murti, Ruskin House, London, 1955,

८७. वही पृ० २५२ तथा २५३

८८. Mahayana Buddhism.—p. 90 Surzhki.

८९. Buddhist Philosophy. A.B.keith P.261. ixford, 1923.
They use such expressions only to emphasize the ultimate

९०. Unreality of Phenomena.
A Critical Survey of Indian Phil.-p.32

को अपनाया है। अद्वैतवेदान्त में संसार मायामय है और मिथ्या है मिथ्यात्व के एक लक्षण में कहा गया है 'ज्ञाननिर्वर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्' जिसका अर्थ हुआ ज्ञान द्वारा बाधित। ज्ञान द्वारा बाधित घट होता है। जब ब्रह्म-स्वरूप का ज्ञान होता है तब घटादि वस्तुएं भी बाधित होती हैं–जैसाकि रज्जु-ज्ञान से भ्रमस्थानीय सर्प का बाध हो जाता है, वैसा ही ब्रह्म-ज्ञान से सभी वस्तुएँ बाधित होती हैं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार घटादि प्रपंच का अधिष्ठान ब्रह्म है। बाधितत्वेन प्रपंच मिथ्या है। इसी प्रकार माध्यमिक के अनुसार भी परमार्थ ज्ञान से प्रतीत्य-समुत्पन्न जगत् बाधित होता है और परमार्थशून्यता ही दिखती हैं, अतः जगत् को बाध्यत्वेन मिथ्या कहा जा सकता है। सद्-विविक्तत्त्व को भी मिथ्यात्व का लक्षण कहा है। नागार्जुन के अनुसार परमार्थसत् शून्य है। जगत् परमार्थ सत् से रहित है, अतः मिथ्या है। फिर भी प्रतीतिकालीन जगत् की सत्ता तो है ही। डॉ० मूर्ति के अनुसार 'वस्तुएं शून्य हैं' का अर्थ सापेक्ष और परतन्त्र स्वभाव है।[६१] परमार्थशून्य को व्यावहारिक दृष्टि से शून्य कहा गया है, विश्व को सापेक्षतया शून्य कहा गया है। वस्तुतः शून्यवाद और अद्वैत में अन्तर केवल इतना है कि शून्यवाद बाह्यवस्तु की सत्तासिद्धि पर जोर नहीं देता जबकि अद्वैत वेदान्त प्रपंच के अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि के लिए तत्पर रहता है।

जगन्मिथ्यात्ववाद और कुछ वैष्णव दार्शनिक

रामानुज :

रामानुज ने अद्वैत वेदान्त द्वारा प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्मवाद को स्वीकार नहीं किया। निर्गुण ब्रह्मवाद में सहयोगी जगन्मिथ्यात्ववाद तथा मायावाद का रामानुज ने प्रत्याख्यान किया है। रामानुज के अनुयायी विशिष्टाद्वैताचार्य वेदान्त-देशिक ने अद्वैत के मिथ्यात्ववाद का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है।

ब्रह्मसूत्र द्वितीय अध्याय प्रथम पाद के आरंभण अधिकरण में शंकर ने कार्यरूप जगत् को ब्रह्मरूप कारण से अनन्य कहा है।[६२] अनन्य का अर्थ है कारण-सत्ता से कार्यसत्ता व्यतिरेक नहीं है। आनन्दगिरि ने न्याय-निर्णय में कहा है कि 'कार्य अधिष्ठानसत्तातिरिक्त सत्वशून्य है, क्योंकि वह सावधि है।[६३] जिस प्रकार मृत्तिकोपादान में घट उत्पन्न हो जाता है, किन्तु घट उक्त उपादन से अनन्य है, क्योंकि कारण जो मृत्तिका है, उसके बिना घट की स्थिति सम्भव नहीं है, अतः कारण से कार्य अव्यतिरिक्त है। कार्य की सत्ता पृथक्रूप से तात्विक नहीं है।[६४] जिसकी सत्ता अन्याधीन है या जो सीमित है, अद्वैत के अनुसार वह मिथ्या है, क्योंकि सीमा का अर्थ परिच्छिन्न है, परिच्छिन्नता देशकाल और वस्तु से होती है।[६५]

---

६१. The Central Philosophy of Buddhism.-p. 229.

६२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य– पृ० ४५५

६३. न्यायनिर्णय टीका—पृ० ३७४

६४. भामती—पृ० ४५५

वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि जो कि प्रत्यक्ष नष्ट होने वाले पदार्थ हैं, वे वस्तुसत् नहीं हैं, इस प्रकार अद्वैत के अनुसार कार्य परमार्थतः कारणानतिरिक्त है और अतिरिक्तत्वेन मिथ्या है। जो कुछ भी भिन्नत्वेन दिखाई देता है, वह ब्रह्म का विवर्त है। अद्वैत के इस मिथ्या कार्यवाद को ब्रह्मसूत्र उक्त अधिकरण के श्रीभाष्य में रामानुज ने खण्डन किया है। रामानुज ने ब्रह्मकारण से कार्य–जगत् को अभिन्न तो माना है किन्तु वैसा अभिन्न नहीं माना है, जैसा कि अद्वैत में माना गया है। रामानुज के अनुसार कार्य कारण की विशेषता है या गुण है। गुण कभी भी गुणी से अलग नहीं हो सकते, अतएव कारणाभिन्न कार्य है, न कि मिथ्या। इसी प्रसंग में अद्वैत का खण्डन करते हुए रामानुज कहते हैं कि 'जो लोग कार्य के मिथ्यात्वसिद्धिपूर्व कारण–कार्य के एकत्व की सिद्धि करते हैं उनके मत में कारण-कार्य का अनन्यत्व सिद्ध नहीं होता।'[९७] अद्वैत के मत में कार्य मिथ्या है और कारण सत्य। ऐसी स्थिति में सत्य मिथ्या की एकत्र स्थिति सम्भव न होने के कारण कार्य–कारण की अनन्यता उनके मत में कैसे सम्भव? रामानुज का कहना है कि यदि सत्यमिथ्या में ऐक्य हो गया तब या तो सत्य ब्रह्म मिथ्या हो जायेगा अथवा कार्यजगत् की सत्यता होगी।[९८] रामानुज अद्वैत के विवर्तवाद के विरोधी हैं। उनके अनुसार जगत् ब्रह्म का परिणाम है। रामानुज का आग्रह है कि परिणाम से कारणरूप ब्रह्म के ऊपर किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ता, अर्थात् ब्रह्म में किसी प्रकार की विक्रिया नहीं आती।[९९] जिस प्रकार दूध से दधि बनता है उसी प्रकार ब्रह्म से संसार की सृष्टि होती है, किन्तु दूध दधि बनने पर दूध नहीं रहता। ब्रह्म स्वस्वरूप में सर्वदा है। ब्रह्म स्वशक्ति द्वारा जगत् रूप में परिणत होता है। रामानुज ने सत्कार्यवाद स्वीकार किया है। सत्–कार्यवाद का ही एक रूप ब्रह्मपरिणामवाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार उपादान कारण में परिवर्तन हुआ करता है।[१००] वह अवस्था विशेषों में परिवर्तित होता है। कारण की अवस्था-विशेष में परिणति ही परिणामवाद के अनुसार कार्य है, जैसे कि रूचकादि सुवर्णाभूषण सुवर्ण के कार्य हैं, घटादि कार्य मृत्तिका की परिणति हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण चिदचित्मय जगत् ब्रह्म का ही परिणाम या अवस्थाविशेष है। अद्वैत का विवर्तवाद रामानुज का हृदय-स्पर्श नहीं करता। विवर्तवाद कारण कारण कार्य दोनों में से तो कारण को सत्य एवं कार्य को मिथ्या बतलाता हैं। अद्वैत के अनुसार सत्य मिथ्या का सत्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है—जैसा

---

९५. कल्पतरु परिमल—पृ० ४५५

९६. भामती ४५५

९७. ये तु कार्य-कारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण वर्णयन्ति न तेषां कार्यकारणयोनन्यत्वं सिध्यति। श्रीभाष्य २५६।

९८. तथा सति ब्रह्मणों मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात्। श्रीभाष्य २५६

९९. Idealistic Thought of India,.—P. 155.

१००. A Critical Survey of Indian Philosophy. -Sharma. -P.357.

कि आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्यभूमिका में कहा है।[१०१] सत्य मिथ्या का काल्पनिक सम्बन्ध होता है। काल्पनिक सम्बन्ध मिथ्या होता है। अद्वैत उक्त विवर्तवादानुसार कार्य को मिथ्या ही ठहराता है। इसी कारण रामानुज ने ब्रह्म-परिणामवाद की व्याख्या दी है, जिसके अनुसार कारण और कार्य दोनों सत्य हैं। मृत्तिका भी सत्य है, और घट भी। वाचारम्भण श्रुति का भी तात्पर्य रामानुज के अनुसार सत्ता अभेद से है, अर्थात् कारण सत्ता एवं कार्य सत्ता एक हैं। ब्रह्म की सत्ता तथा जीव जगत् की सत्ता अभिन्न हैं। रामानुज अद्वैत वेदान्त की इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि कारण से कार्य अनन्य है। कार्य कारणाधीन है। कार्य की सत्ता कारणसत्ता है, इन बातों को रामानुज स्वीकार करते हैं, क्योंकि परिणामवाद में भी ये बातें साधक हैं। अद्वैत से रामानुज का विरोध है तो मात्र इस बात में कि कार्य मिथ्या है। वाचस्पति मिश्र ने कहा था कि कार्य दृष्टनष्टस्वरूप हैं, अतएव मिथ्या हैं। रामानुज ने इस तर्क का भी खण्डन किया है। रामानुज का कथन है कि 'उपलब्धिविनाशयोगो हि न मिथ्यात्वं साधयति किन्त्वनित्यत्वम्।'[१०२] अर्थात् कोई वस्तु दृश्य है, अतएव मिथ्या है—ऐसी बात नहीं; न ही कार्य नाशवान् होने के कारण मिथ्या है। विनाशी होने का अर्थ अनित्य होता है। रामानुज अनित्य को मिथ्या मानने को तैयार नहीं। घटादि वस्तुएं विनाशी हैं, किन्तु वे मिथ्या नहीं हैं, अनित्य अवश्य हैं। शंकर जिस अर्थ में 'मिथ्या' शब्द का प्रयोग करते है, रामानुज नहीं करते। अद्वैतवेदान्त के अनुसार अनित्य होना ही मिथ्या है। अद्वैत के अनुसार मिथ्यात्व में निम्न प्रकार से भी अनुमान बन सकता है—'जगत् मिथ्या अनित्यत्वात् रज्जु-सर्पवत्।'[१०३] अर्थात् अनित्यतया जगत् मिथ्या है—जैसे कि रज्जु सर्प। किन्तु रामानुज मिथ्यात्व अनित्यत्व में भेद करते हैं।[१०४] वेदान्त-कल्पतरुकार ने कहा था 'विमतं मिथ्या सावधिकत्वात्' अर्थात् परिच्छिन्न होने के कारण कार्य जगत् मिथ्या है। इसी प्रकार के तर्क परिमलकार अप्पय दीक्षित ने भी दिये हैं। मिथ्यात्वनिरूपणाध्याय में हमने देखा है कि परिच्छिन्नत्व हेतु से किस प्रकार अद्वैतसिद्धिकार ने जगत् मिथ्यात्व सिद्ध किया है। परन्तु रामानुज मिथ्यात्व के इस हेतु का खण्डन करते हुए कहते हैं कि — परिच्छिन्नता चाहे देशगत हो चाहे कालगत, इससे मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती। एक वस्तु यदि इस देश में नहीं, अन्यत्र किसी देश में है तो वह यहां पर बाधित होने के कारण मिथ्या कैसे हो सकती है? अन्यत्र या अन्यकाल में विद्यमान वस्तु रामानुज के अनुसार यहाँ पर इस कार्य में बाधित होने पर भी मिथ्या नहीं। इस प्रकार बाधित होने पर भी घटादि मिथ्या नहीं हैं, अपितु सत्य हैं।[१०५]

---

१०१. ब्रह्मसूत्रभाष्यभूमिका—६,७।

१०२. श्रीभाष्य २४४

१०३. श्रुतप्रकाशिका २४४

१०४. वेदान्तकल्पतरुपरिमल ४५५

१०५. घटादिकार्यं सत्यं देशकालादिप्रतिपन्नोपाधावबाधितत्वात् आत्मवत्। श्रीभाष्य २४४।

अद्वैत के अनुसार 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इत्यादि व्यवहारों में सर्वत्र विशेष वस्तुओं का बाध होता है और 'अस्ति' रूप से सन्मात्र की सर्वत्र अनुवृत्ति होती है। जिसकी सर्वत्रानुवृत्ति होती है, वही सत्य है और जिसका बाध होता है, वह मिथ्या है, अर्थात् अनुवृत्ति सत्य का मापदण्ड हुआ तथा व्यावृत्ति मिथ्या का, जो कि 'घट है', 'पट है' इत्यादि प्रतीतियों में घटपटादि की व्यावृत्ति होती है, अतः घटपटादि मिथ्या हैं। सन्मात्र की अनुवृत्ति होती है, अतः सन्मात्र सत्य है। रामानुज सत्य मिथ्या का उक्त मापदण्ड मानने को तैयार नहीं। रामानुज के अनुसार किसी वस्तु की व्यावृत्ति वस्तु को मिथ्या सिद्ध नहीं करती, क्योंकि देशकालभेद से एक वस्तु की एक स्थान में एवं एक काल में व्यावृत्ति होने पर भी अन्यत्र अन्य काल में वह वस्तु विद्यमान हो सकती है। जो लोग ऐसी स्थिति में वस्तु को अपरमार्थ कहते हैं, वे बाध्य-बाधक-भाव को नहीं समझते न ही अनुवृत्ति और व्यावृत्ति को ही समझते हैं। इसीलिये 'घटादि अपरमार्थ हैं' यह उक्ति भ्रान्तिपूर्ण है।[१०६] वेदान्तदेशिक ने भी अद्वैत के उक्त सिद्धान्त का प्रत्याख्यान 'शतदूषणी' में किया है। वेदान्तदेशिक ने 'व्यावर्तमानत्व' पर विकल्प करके प्रश्न किया है। उनका कथन है कि उक्त व्यावर्तमानत्व का अर्थ क्या कहीं किसी वस्तु से अन्यत्व ही व्यावर्तमानत्व है? जैसे कि घट से पट अन्य हैं? अथवा किसी देश में असत्व? अथवा प्रध्वंसवत्व या प्रतिपन्नोपाधि में निषेधप्रतियोगित्व है? या कभी कहीं प्रकाशमानत्व?[१०७] इनमें से कोई भी पक्ष व्यावर्तमानत्व का अर्थ होने पर उससे मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती। किसी से अन्यत्व होना व्यावर्तमान होने पर और उससे मिथ्या होने पर तो एक घट से अन्य घट व्यावर्तमान है, किन्तु इतने में घट मिथ्या नहीं हो जाता। वेदान्तदेशिक का तर्क है कि ब्रह्म स्वयं युष्मत् से भिन्न है। अतः युष्मत् से अस्मत् ब्रह्म व्यावर्तमान है। व्यावर्तमानत्वेन मिथ्यात्व ब्रह्म में भी चला जाता है। इस प्रकार ब्रह्म भी मिथ्या होने लगेगा। यदि ब्रह्म को युष्मत् से व्यावर्तमान नहीं माना जायेगा तब ब्रह्म स्वयं युष्मत्रूप होगा। युष्मत् आत्मेतर वस्तुएं हैं। इस प्रकार युष्मत् होने के कारण भी ब्रह्म में मिथ्यात्व आ जायेगा, अथवा ब्रह्म के साथ एकत्व होने पर जगत् की सत्यता हो जायेगी।[१०८]

द्वैताचार्य न्यायामृतकार के समान शतदूषणीकार वेदान्तदेशिक ने भी अद्वैत के 'मिथ्यात्व' की परिभाषा का प्रश्न उठाया है। शतदूषणी में मिथ्यात्व के कई सम्भावित लक्षणों पर विचार किया गया एवं उन सभी लक्षणों के दोषपूर्ण होने के कारण मिथ्यात्व का लक्षण असम्भव है। न्यायामृतकार के ही समान वेदान्तदेशिक ने 'मिथ्यात्व' के मिथ्यात्व का प्रश्न उठाया है। यदि मिथ्यात्व स्वयं मिथ्या है तब

---

१०६. यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणां व्यावर्तमानत्वेनापारमार्थ्यमुक्तम्.........भ्रान्तिपारिकल्पितम्। श्रीभाष्य १२६ तथा १३२।

१०७. शतदूषणी—१,२ पृ० (सुदर्शन प्रेमकीय १६०४)

१०८. Advaita and Visistadvaita–P. 106. S. M. Srinivasachari, Asia Pub. (London. 1961).

तो प्रपंच की सत्यता हो जायेगी, यदि 'मिथ्यात्व' स्वयं एक सत्य है तब भी ब्रह्म के साथ प्रपंच मिथ्यात्व के अतिरिक्त सत्य होने के कारण द्वैतवादापत्ति आयेगी, अतः मिथ्यात्व की सिद्धि असम्भव है।[१०९]

इसी प्रकार वेदान्तदेशिक ने मिथ्यात्वानुमान में हेतुरूप से प्रयुक्त दृश्यत्व, जड़त्वादि हेतुओं का भी प्रत्याख्यान किया है। उनका तर्क है कि दृश्यत्व का अर्थ है ज्ञान विषयत्व, ज्ञान विषयक घटादि हैं, अतएव यदि घटादि मिथ्या है तब तो ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि श्रवणादि ज्ञान का विषय ब्रह्म भी है।[११०] श्रीभाष्य-श्रुतप्रकाशिकाकार सुदर्शन सूरि का भी यही तर्क है। 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादि प्रतीतियों में सत्-प्रपंच घटादि का ग्रहण एक ही ज्ञान से होता है, अतः ब्रह्म के भी दृश्यत्व होने से दृश्यत्व हेतु अनैकान्तिक दोष से ग्रस्त है। अनेकान्त-दोषयुक्त हेतु साध्य को एकान्त रूप से सिद्ध न करके असाध्य या साध्येतर को भी व्याप्त करता है, जैसाकि दृश्यत्व हेतु साध्येतर ब्रह्मसत् में भी व्याप्त है।[१११] ब्रह्म दृश्य या ज्ञान विषय है, इसमें श्रुत प्रकाशिकाकार श्रुति प्रमाण देते हैं। श्रुति है कि **'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य** इति।' उक्त श्रुतियों में ब्रह्म को सूक्ष्म-बुद्धि-ग्राह्य कहा गया है एवं आत्मा का दर्शन करने का विधान है।[११२] इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान का विषय है। इसीलिये तो श्रुति जानने के लिये विधान करती है, अन्यथा जिनको जाना ही नहीं जा सकता या जो ज्ञान का विषय ही नहीं बनता उसके लिये श्रुति विधान कैसे कर सकती है?

वेदान्तदेशिक ने दृश्यत्व के समान जड़त्व और बाध्यत्वादि हेतुओं का भी प्रत्याख्यान किया है।[११३]

पूर्वोक्त खण्डनों में रामानुज का तात्पर्य यह है कि वस्तुएं सीमित हों चाहे जड़ हों, फिर भी वे मिथ्या नहीं होती। कालगत सीमा से अर्थात् प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव से वस्तुएं अनित्य अवश्य हो सकती हैं, जैसा कि घट पहले भी नहीं था, नष्ट होने पर भी नही रहेगा, अतः एतावता वह अनित्य अवश्य है, न कि मिथ्या। इसी प्रकार रामानुज ने भेद की भी सिद्धि की है। अद्वैत का अभेदवाद उन्हें स्वीकार नहीं। भेद मिथ्या नहीं है। रामानुज के अनुसार जीव-जगत् और ईश्वर तीनों ही सत्य हैं। घट से पट और पट से घट भिन्न हैं। संसार में सर्वत्र भेद का साम्राज्य है। अद्वैत के अनुसार 'नेह नानाऽस्ति किंचन' का अर्थ है एक मात्र कारण रूप ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त कार्य-जगत् मिथ्या है, अतः नानात्व भी मिथ्या है। किन्तु रामानुज के अनुसार 'नेह नानाऽस्ति' का अर्थ कारण रूप से ब्रह्म ही चित्-अचित्

१०९. वही पृ० १०२
११०. Advaita and Visistadvaita.-P. 104.
१११. श्रुतप्रकाशिका—पृ० १३१
११२. वही—पृ० १३१
११३. शतदूषणी—पृ० ७

में व्याप्त है, अतः नानात्व के निषेध की विशिष्टाद्वैत के अनुसार भी संगति बैठ जाती है। कारण से परिणामी कार्य भिन्न नहीं है।[११४] फिर भी कार्यावस्था भिन्न है। इस प्रकार रामानुज श्रुतिवाक्य की भी संगति बैठाते हैं, साथ में नानात्व का भी समर्थन करते हैं। रामानुज का कहना है कि यदि नानात्व कार्यरूप से स्वीकार नहीं किया जायेगा तो 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान' श्रुति की भी संगत नहीं बैठेगी। अद्वैत के अनुसार नाना वस्तुएं हैं ही नहीं, फिर उनके अनुसार 'एक के जानने से सब का ज्ञान' कैसे सम्भव ? विशिष्टाद्वैत के अनुसार कारण रूप से वस्तुओं को जान लेने पर तत्कृत कार्य का भी ज्ञान कारणात्मना हो जाता है। अद्वैत के अनुसार कारण के अतिरिक्त सभी असत् हैं। फिर सर्व के अभाव में सर्व-विज्ञान कैसे सम्भव ? श्रुति का अर्थ बाधित हो जायेगा उक्त मत में।[११५]

रामानुज के अनुसार जीव-जगत् ईश्वर के विशेषण हैं और विशेषण कभी भी विशेष्य को त्यागकर नहीं रहता। सृष्टि ईश्वर का स्वभाव है। या यों कहा जाय कि ईश्वर की शक्ति ईश्वर का स्वभाव है। और उसी का सत्य परिणाम सृष्टि है। अद्वैत के समान सृष्टि को मिथ्या नहीं कहा गया है।[११६] मिथ्या का अद्वैताभिमत अर्थ रामानुज ने स्वीकार नहीं किया है। अद्वैत के अनुसार सृष्टि ब्रह्म का विवर्त एवं माया या अज्ञान का परिणाम हैं। सृष्टि रज्जु-सर्प के समान अविद्या का विक्षेप है, इसीलिये इसे मिथ्या कहा गया है। रामानुज ने अद्वैत की अविद्या या अज्ञान का जोरदार प्रत्याख्यान किया है। उन्होंने अविद्या के सिद्धांत पर सप्तधा अनुपपत्तियां दी हैं। अविद्या को मानने पर ये आपत्तियां उठती हैं। उक्त सप्तधानुपत्ति निम्न प्रकार है। आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानानुपपत्ति, स्वरूपानुपत्ति, अनिर्वचनीयत्वानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति एवं निवृत्त्यनुपपत्ति।[११७] रामानुज का कहना है कि अविद्या को मानने पर उसे जीवाश्रित स्वीकार करने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। ब्रह्माश्रित मानने पर ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व की हानि होगी। प्रकाश में अन्धकाररूप अविद्या की स्थिति सम्भव नहीं है। अन्यथा ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान हो जायेगा। एवंभूत अविद्या में किसी प्रकार प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीयभावरूप अज्ञान रामानुज को स्वीकार नहीं है। रामानुज के अनुसार अविद्या जब ब्रह्माश्रित होगी, तब उसका निवर्तक कौन होगा ? ब्रह्म तो अविद्याग्रस्त हो गया है, अतः अविद्या की निवृत्ति ही सम्भव नहीं होगी। निवर्तक के अभाव में निवृत्ति का भी अभाव होगा। इस प्रकार रामानुज ने अविद्या के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करके कहा है कि एवंभूत अविद्या जगत् का उपादान नहीं बन सकती।

---

११४. History of Indian Philosophy-Sinha-P. 676, (pt. II) Cal., 1956
११५. सर्वदर्शनसंग्रह २१२, २१३, २१४। (चौखम्बा १९६४)
११६. A Critical Survey of Indian Philosophy-Sharma. P. 357.
११७. श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिका पृ० २५७।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार उपादान कारण अविद्याभावरूप है,[११८] क्योंकि भावरूपता से संसार रूपी कार्य में भी भावरूपता आ सकती है। अन्यथा भावरूप अज्ञान न मानने पर अज्ञान ज्ञानाभाव को कहा जायेगा, ऐसी स्थिति में ज्ञानाभाव अर्थात् अभाव से सृष्टि कैसे मानी जा सकती है ?[११९] अज्ञान ज्ञानाभाव है, ऐसा मानने पर अभाव में सृष्टि स्वीकार कराने से अद्वैत मत का शून्यवाद में प्रवेश हो जायेगा। इसी कारण अद्वैतवेदान्त में भावरूप अविद्या को ही जगदुपादान कहा गया है। अन्यथा अलीक से सृष्टि का अर्थ होता असत् सृष्टि, असत् सृष्टि सम्भव नहीं। अद्वैत में जगदुपादान अज्ञान को भावरूप अवश्य स्वीकार किया है, किन्तु उसे ब्रह्म के समान भावरूप नहीं स्वीकार किया गया। ब्रह्म की सत्ता त्रिकालाबाध्य है। इसके विपरीत असत् है जिसकी तीनों कालों में प्रतीति नहीं होती। दोनों से भिन्न को ही भावरूप शब्द से अभिव्यक्त किया है। अज्ञान न अलीक है, जैसाकि रामानुज अज्ञान को ज्ञानाभाव मानते हैं और न ब्रह्म के समान अबाधित सत्ववाला है, क्योंकि अज्ञान की प्रतीति होती है; साथ में ब्रह्मज्ञान से अज्ञान का बाध भी हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत ने भावरूप अज्ञान को मानकर सत्कार्यवाद की रक्षा की; साथ में ब्रह्मज्ञान से बाधित मानकर विवर्तवाद की भी स्थापना की। एवंभूत कारण से कार्य भी उक्त प्रकार का होगा। जैसे लाल तन्तुओं से लाल ही वस्त्र होता है, उसी प्रकार उक्त अर्थ में भावरूप अज्ञान से उक्त अर्थ में भावरूप कार्य होता है। घटादि कार्य भावरूप हैं, क्योंकि उनकी प्रतीति होती है। घटादि कार्य ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध्य हैं, क्योंकि वे ब्रह्म के समान सत् नहीं हैं, अतः घटादि कार्य उक्त अर्थ में मिथ्या हैं। अज्ञान के उक्त प्रकार स्वरूप को रामानुज ने नहीं स्वीकार किया है। रामानुज ने उसे अभाव के अर्थ में ही लिया है। इस प्रकार के अर्थ करने पर रामानुज अद्वैत वेदान्त के ऊपर अलीकवादी होने का आरोप कर सकते हैं। अज्ञान अभावरूप होगा तो उसका कार्य भी अभावरूप होगा, अतः उक्त प्रकार मिथ्या अज्ञान को कार्य का कारण मानने पर अद्वैती को अगत्या कार्य को भी अलीक अर्थ में मिथ्या मानना होगा। इसी कारण से रामानुज ने अद्वैत के भावरूप अज्ञान के प्रत्याख्यान में श्रीभाष्य में जोर दिया है। अद्वैतवेदान्ती जो अविद्या में 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रमाण देते हैं रामानुज के अनुसार उनसे ज्ञान का प्रागभाव ही सिद्ध होता है, न कि भावरूपत्व।[१२१] अनुमान प्रमाण भी भावरूप अज्ञान को सिद्ध करने में

---

११८. अनादिभावरूपं यद् विज्ञानेन विलीयते। तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं संप्रचक्षते।

चित्सुखी—५७।

११९. इसी कारण से अद्वैत वेदान्ती भावरूप अज्ञान की सिद्धि में अधिक तत्पर दिखायी देते हैं।
विवरणप्रमेयसंग्रह—'भावरूपाज्ञान में अनुमान' पृ० ५८।

१२१. ज्ञानाभाव एवं अहमज्ञो मामन्यं च न जानामि इत्यनुभूयत इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

श्रीभाष्य—१६

असमर्थ है।[१२२]

रामानुज को अज्ञान की अनिर्वचनीयता भी स्वीकार नहीं है। रामानुज के अनुसार ऐसी कोई भी वस्तु संसार में नहीं है, जो सदसद्विलक्षण हो। अद्वैत के अनुसार अनिर्वचनीय का अर्थ सदसद् से विलक्षण वस्तु है। रामानुज का तर्क है कि सभी वस्तुएं या तो सत्रूप होती हैं या असद्रूप।[१२३] सदसद् दोनों से विलक्षण-रूप वस्तुएं होती ही नहीं, अतः अविद्या को अनिर्वचनीय कहना युक्ति-संगत नहीं है। श्रुतप्रकाशिकाकार का तर्क है कि अनिर्वचनीयता विद्वानों के सामने दुरुपपादनीया है। सदसद् विलक्षण जो प्रतीति है, वहां पर भी सद्रूप-असद्रूप से दो प्रतीतियां हैं।[१२४] एक ही विषय का सदसदाकारत्व अनुपपन्न है। रामानुज का तर्क है कि संसार में उक्त दो श्रेणियों के अतिरिक्त तृतीय श्रेणी वस्तुसत्ता की नहीं है। ऐसी स्थिति में सदसद्विलक्षण वस्तु मानने पर 'विरोध के नियम' को तथा 'मध्यमयोग-परिहार नियम' को तिलांजलि देना होगा। शंकर ने जिस अर्थ में सदसद् शब्दों का प्रयोग किया है, रामानुज उस अर्थ में प्रयोग नहीं करते। रामानुज सापेक्ष सत् और निरपेक्ष सत् दोनों को सत् शब्द वाच्य समझते हैं, तथा असत् शब्द का वाच्य अलीक को समझते हैं।

ऊपर के विचारों में रामानुज के विचार स्पष्ट हो जाते हैं। रामानुज के अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है। उसी सत्यमाया से विश्वसृष्टि हुई है। रामानुज विश्वसृष्टि को ईश्वर का स्वभावपरिणाम मानते हैं। रामानुज एक ओर तो चिदचिद् तत्त्वों को ईश्वर के गुण कहते है, दूसरी ओर पदार्थ तीन हैं–कहते हैं। यदि जीव-जगत् ईश्वर के गुण हैं, तब तो रामानुज का सिद्धान्त स्पिनोजा के अद्वैतवाद के निकट है। किन्तु रामानुज ईश्वर से जीव-जगत् को भिन्नाभिन्न दोनों मानते हैं। फिर भी इनके अनुसार भेद प्रधान और अभेद गौण है।[१२५] रामानुज के अनुसार घटादि वस्तुएं मिथ्या नहीं हैं, क्योंकि ये अर्थ क्रिया सम्पादन में समर्थ हैं।[१२६] जो सफल प्रवृत्ति का जनक ज्ञान है वह मिथ्या ज्ञान नहीं है, उक्त ज्ञान का विषय भी मिथ्या नहीं है। रामानुज ने ख्यातिवाद में अपने विचार बाह्यवस्तुओं के विषय में स्पष्ट कर दिये हैं। हमने 'अध्यास और ख्यातिवाद' के विचार के समय में देखा है कि किस प्रकार रामानुज भ्रमस्थलीय वस्तुओं को भी वास्तविक सत्ता प्रदान करने में तत्पर हैं, किन्तु इतना होने पर भी रामानुज यह

---

१२२. श्रीभाष्य—२१

१२३. सर्वा च प्रतीतिः सदसदाकारा। श्रीभाष्य—जिज्ञासाधिकरण—६

१२४. तस्मात् सदसदाकारायाः प्रतीतेः
सदसदाकार एव विषयः न सदसद्विलक्षणः।
श्रीभाष्यश्रुतप्रकाशिका जिज्ञासाधिकरण–१०६

१२५. Idealistic Thought of India-P. 156.

१२६. भारतीय दर्शन—द्वितीय खण्ड—पृ० ७०१। (राधाकृष्णन्, अंग्रेजी सं० १ लन्दन १९२७)

स्वीकार करते हैं कि प्रातिभासिक ज्ञान का विषय व्यवहार योग्य नहीं है। यद्यपि व्यावहारिक वस्तुएं घटादि और भ्रमस्थलीय वस्तु रज्जु-सर्पादि दोनों उनके अनुसार सत्य हैं, तो भी एक सफल प्रवृत्ति का विषय है, दूसरा निष्फल प्रवृत्ति का। इसका अर्थ हुआ कि निष्फल प्रवृत्ति के विषय रज्जु-सर्प को सत्य मानने का एक प्रकार आग्रह ही हुआ।[१२७] एक ओर तो रामानुज अर्थक्रियासमर्थ को सत् कहते हैं, दूसरी ओर भ्रमस्थलीय वस्तु को भी सत् कहते हैं, जबकि रामानुज के अनुसार भ्रमस्थलीय रज्जुसर्प, शुक्तिरजत निष्फल प्रवृत्ति का विषय है। रामानुज के अनुसार 'निरपेक्षता या स्वतन्त्रता' ही सत्यत्व की कसौटी नहीं है। जिस प्रकार निरपेक्ष या स्वतन्त्र ईश्वर सत्य है, उसी प्रकार जीव-जगत् भी सत्य है, जबकि जीव-जगत् अपनी सत्ता के लिये ईश्वर-सापेक्ष हैं। आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि रामानुज निरपेक्ष को ही सत्य मानते हों, ऐसी बात नहीं, क्योंकि उनके अनुसार सत्य की वह कसौटी नहीं है। इस प्रकार रामानुज तत्त्व की साधारण परिभाषा को भी नहीं स्वीकार करते।[१२८] अद्वैत निरपेक्ष को ही सत्य मानता है। जो सापेक्ष है, मिथ्या है। जो अनित्य है, जो विकारी और विनाशी है, मिथ्या है। रामानुज यद्यपि ईश्वर और जीव-जगत् की एक ही सत्ता मानते हैं, फिर भी रामानुज उनमें यानी ईश्वर और जीव-जगत् में स्वभाव-भेद मानते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि रामानुज ईश्वर और जीव-जगत् में स्वभाव भेद करते हैं। ईश्वर नित्य है, जगत् की वस्तुएँ परिणामी हैं, अतएव अनित्य हैं। जागतिक वस्तुओं में परिवर्तन अस्थिरता रामानुज मानते हैं, फिर भी वे उनको मिथ्या कहने को तैयार नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त इन्हीं अनित्य अशाश्वतादि बातों के कारण जगत् को मिथ्या कहता है। प्रातिभासिक वस्तु भी मिथ्या है, किन्तु प्रातिभासिक और व्यावहारिक में सत्ताभेद है। एक रामानुज के ही सिद्धान्त के समान अव्यावहारिक है, दूसरा व्यावहारिक है, अतः दूसरी को व्यवहार-कालीन सत्य कहा गया।[१२९] सापेक्ष सत्य कहा गया। ब्रह्म के समान निरपेक्ष सत्य न होने के कारण वह मिथ्या है।

माध्व (द्वैतवाद)

हमने 'मिथ्यात्व में पूर्वपक्ष' एवं 'मिथ्यात्वलक्षण' अध्यायों में माध्व सम्प्रदाय के आचार्य परमपण्डित श्री व्यासराज के विचारों को प्रदर्शित किया है।[१३०] व्यासराज ने न्यायामृत ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादित सभी मिथ्यात्वलक्षणों का खण्डन युक्ति-तर्कों के द्वारा किया है। विशेषकर प्राचीन अद्वैताचार्यों के **पंचमिथ्यात्वलक्षणों**

---

१२७. भारतीयदर्शन—द्वितीय खण्ड—पृ० ६७६ (राधाकृष्णन आंग्ल सं० १ लन्दन १९२७)

१२८. A thing in order to be real need not be independent.
A Critical Survey of Indian Philosophy-Sharma.-p. 357.

१२९. A Critical Survey of Indian Philosophy.-P. 253.

१३०. यहां पर उन विचारों की पुनरुक्ति की आवश्कता नहीं है। यहाँ मात्र माध्व के उन विचारों का सामान्य निष्कर्ष दिया जा रहा है।

का प्रत्याख्यान जोरदार शब्दों में किया है। हमने ख्यातिवाद में संकेत दिया है कि किस प्रकार माध्व भ्रमस्थलीय वस्तु को असत् कहते हैं। माध्व के अनुसार भ्रम-स्थलीय रज्जु-सर्प आकाशकुसुम के समान अलीक हैं। वे अद्वैत के समान प्रातिभासिकत्व को स्वीकार नहीं करते, न ही रामानुज के समान उक्त स्थल में रज्जु-सर्प के अवयवों को स्वीकार करते हैं। इसी कारण रज्जु-सर्प वाला दृष्टान्त ही माध्व के अनुसार साध्य-विकल है।

माध्व के अनुसार कार्यरूप जगत् ईश्वरसृष्ट है, अतः मिथ्या नहीं है। जगत् ईश्वर-परतंत्र है। स्वतन्त्र सत्ता एकमात्र ईश्वर की है।[१३१] श्रुति आकाशादि की सृष्टि का कथन करती है, अतः सृष्टि मिथ्या नहीं है। माध्व भी शुक्ति-रजत की अर्थक्रिया-कारिता नहीं मानते। इसलिए शुक्तिरजत असत् यानी अलीक है, किन्तु व्यावहारिक विश्व की वस्तुएं अर्थक्रिया में समर्थ हैं, अतः सत्य हैं।[१३२]

अद्वैत के अनुसार भेद मिथ्या है। 'नेह नानास्ति' आदि श्रुतियों का अर्थ अद्वैत में नानात्वनिषेधपरक किया गया है, किन्तु माध्व के अनुसार नानात्व वास्तविक है। जयतीर्थ ने वादावली ग्रन्थ में व्यासराज के ही समान मिथ्यात्व लक्षणों का खण्डन किया है तथा भेदसमन्वित विश्व को सत्य प्रतिपादित किया है। जयतीर्थ के अनुसार अभेद स्वाभाविक नहीं है, किन्तु भेद ही स्वाभाविक है, एवं सत्य है।[१३३] जयतीर्थ का कहना है कि नानात्व या भेद मुक्ति में भी होता है।[१३४] भेद आविद्यक नहीं है, जिससे कि उसे मिथ्या कहा जा सके। यदि अज्ञान के बिना भेद नहीं दिखाई देता तब तो ईश्वर को अज्ञान नहीं, अतः जीव से अभिन्न होकर जीव के सुख-दुखों से ईश्वर भी सुखी-दुखी होने लगेगा।[१३५] जयतीर्थ ने अद्वैत के 'भेदो मिथ्या भेदत्वात् चन्द्रभेदवत्' इस अनुमान का खण्डन किया है और कहा है कि वस्तुतः चन्द्रभेद है ही नहीं, ऐसी स्थिति में अलीक चन्द्रभेद को दृष्टान्त कैसे बनाया जा सकता है? अतः उक्तानुमान का दृष्टान्त साध्यविकल दोषयुक्त है।[१३६] जयतीर्थ ने भेदसत्यत्व का अनुमान प्रस्तुत किया है– 'विमतो भेदः पारमार्थिकः असद्व्यतिरिक्तत्वात् ब्रह्मवत्'। ब्रह्म जिस प्रकार असत् से भिन्न होने के कारण सत् है, पारमार्थिक है, उसी प्रकार भेद भी उसी हेतु से परमार्थ है, सत्य है।[१३७]

माध्व 'नेह नानास्ति' 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि श्रुतियों का अर्थ सजातीय भेद

---

१३१. द्विविधं तत्वं स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। सर्वदर्शनसंग्रह—२४७।

१३२. History of Indian Phil. Dasgupta. Cambridge Univ., 1949. खण्ड IV पृ० 248,249.

१३३. वादावली—१५०। (जयतीर्थ, मद्रास १६४३)

१३४. विमतो भेदो मुक्तौ न निवर्तते। वादावली — १४६।

१३५. वादावली — १४७।

१३६. वादावली — ६६।

१३७. वही — १५३।

निरसनपरक करते हैं। [१३८] माध्व के अनुसार 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान' का कथन करने वाली श्रुति कार्य जगत् को मिथ्या नहीं बतलाती, क्योंकि सत्य के द्वारा मिथ्या का ज्ञान नहीं हुआ करता। कभी भी शुक्ति-रजत में शुक्ति ज्ञान से रजत का ज्ञान नहीं होता, किन्तु रजत मिथ्या है, ऐसा ज्ञान होता है अर्थात् रजताभाव का ही ज्ञान होता है।[१३९] 'ग्राम के प्रधान पुरुष को जानने पर ग्राम जान लिया' के समान यहाँ पर भी एक कारणतत्व के जानने पर तदधीन सभी सादृश्य वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।[१४०]

ऊपर के वर्णनों से नानात्व के विषय में माध्व के विचार स्पष्ट हो जाते हैं। माध्व यद्यपि जीव-जगत् तथा ईश्वर को सत्य मानते हैं, फिर भी उनके अनुसार द्रव्य की संज्ञा पूर्ण पदार्थ को ही मिल सकती है। जैसाकि डॉ० राधाकृष्णन कहते हैं– 'वास्तविक अर्थों में द्रव्य संज्ञा केवल ऐसे ही पदार्थ के लिए प्रयुक्त हो सकती है जो अपने आप में पूर्ण हो जिसका निर्धारण भी अपने से ही हो और जिसकी व्याख्या भी पूर्ण रूप से अपने ही द्वारा हो सके। माध्व इस विषय को जानते हैं कि इस प्रकार की यथार्थता केवल सर्वोपरि आत्मा के ही अन्दर है।" [१४१] यदि उपरोक्त विचारों की सहायता ली जाय तब कहीं माध्व के दर्शन में ईश्वरेतर पदार्थों की सत्ता का स्वल्प अवमूल्यन होता दिखता है। फिर भी सापेक्षतया उन्हें अद्वैत के मिथ्या के साथ तुलना भले ही कर लें किन्तु माध्व के अनुसार ऐसी वस्तुएं अनित्य हो सकतीं हैं, न कि मिथ्या। हमने पहले ही निवेदन किया है कि माध्व 'मिथ्या' शब्द का अर्थ अलीक वस्तु आकाश कुसुमादि के लिये प्रयोग करते हैं, न कि घटादि सापेक्ष तथा अनित्य वस्तुओं के लिये। अद्वैतवेदान्त में शंकर के अनुयायियों के द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्वानुमानों के जड़त्वादि हेतु भी अद्वैत के उक्त 'मिथ्यात्व' के प्रतिपादनमें समर्थ नहीं हैं। यही व्यासराज जयतीर्थादि की धारणा है, अतः अद्वैत के सदसद् विलक्षणत्व मिथ्यात्व का माध्व दर्शन में स्थान नहीं है, क्योंकि माध्व के अनुसार भी रामानुज के ही समान सद्भिन्न असत् होता है। असत्भिन्न सत् होता है। दोनों के मध्य अनिर्वचनीय नाम की वस्तु प्रसिद्ध नहीं।

निम्वार्क

निम्वार्क वेदान्त के अनुसार तत्त्व तीन हैं–ईश्वर, जीव और जगत्। जीव-जगत् ईश्वर-सत्ता-सापेक्ष हैं। [१४२] फिर भी ये तीनों तत्त्व सत्य हैं। निम्बार्काचार्य के अनुसार सृष्टि मिथ्या नहीं, क्योंकि यह ईश्वर की शक्ति का परिणाम है। सृष्टि

---

१३८. वही —६०,६१।

१३९. न हि सत्यज्ञानेन मिथ्याज्ञानं सम्भवति।
सर्वदर्शनसंग्रह—२७

१४०. सर्वदर्शनसंग्रह — पृ० २८०।

१४१. भारतीय दर्शन—राधाकृष्णन, द्वितीय खण्ड, पृ० ७५०। (आंगल सं० १ लन्दन १९२७)

१४२. A Critical Survey of Indian Philosophy- Sharma- p.376.

ईश्वर-संकल्पसृष्ट है। ईश्वर ने ईक्षण द्वारा सृष्टि की है।[१४३] ईश्वर का ईक्षण मिथ्या की सृष्टि नहीं कर सकता। ईश्वर से जीव-जगत् भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। ब्रह्म कारण है, जीव-जगत् कार्य है। ब्रह्म शक्तिमान् है, जीव-जगत् शक्ति हैं। ब्रह्म स्वयं जीव-जगत् का अंशी है और जीव-जगत ब्रह्म के अंश हैं। कारण-कार्य, अंशी-अंश, शक्तिमानशक्ति, सर्वदा भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। कार्य कारण से अभिन्न हैं, क्योंकि कार्य कारणरूप हैं। कारणभिन्न कार्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। फिर भी कार्य कारण से कार्यात्मना भिन्न भी हैं, क्योंकि कार्य की अर्थक्रिया भिन्न होती हैं। इसी कारण निम्बार्क दर्शन का दूसरा नाम स्वाभाविक भेदाभेदवाद है।

निम्बार्क वेदान्त में अद्वैत वेदान्त स्वीकृत 'विवर्तवाद' का कोई स्थान नहीं, क्योंकि निम्बार्क के अनुसार कार्यजगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर ब्रह्म की शक्ति का परिणाम है। इस विषय में रामानुज और निम्बार्क एकमत हैं। ब्रह्मसूत्र (२।१। १४) के भाष्य में निम्बार्काचार्य ने कार्य के कारण से अभिन्नत्व की व्याख्या की है, किन्तु कार्यकारण से अभिन्न का अर्थ अत्यन्त भिन्न नहीं है,-किया है।[१४४] कारण से कार्य की सत्ता अभिन्न होने के कारण ही कार्य मिथ्या नहीं है। कारण सत् होने पर कार्य भी सत् होगा। निम्बार्क सत्कार्यवादी है। सत् कार्य के अनुसार कारण-गुण कार्य में आते हैं, अतः यदि कारणरूप ब्रह्म सत् है, कार्य जीव–जगत् भी सत् हैं। छान्दोग्य के 'एक विज्ञान से सर्व विज्ञान' भी इसी कारण सार्थक हैं।कार्य मिथ्या हो और कारण सत् हो तो कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान सम्भव नहीं हो सकेगा; क्योंकि विरुद्ध स्वभाव की एक वस्तु के ज्ञान से विरुद्ध की दूसरी वस्तु का ज्ञान कैसे सम्भव? मृत्तिका से घटादि कार्य अभिन्न हैं अतः मृत्तिका के ज्ञान से कारणात्मक कार्य घटादि वस्तुओं का ज्ञान सम्भव है। इसी प्रकार ब्रह्म विज्ञान से ब्रह्मकारणक जीव-जगत् का भी ज्ञान सम्भव है। घटादि कार्य सम्पूर्ण रूप से अलीक होने पर मृत्तिका के ज्ञान से घटादि का ज्ञान असंभव होने के कारण उक्त श्रुतिवाक्य निरर्थक हो जाता है। इसलिए जगत् पूर्णरूप से मिथ्या या अस्तित्वहीन नहीं है।[१४५] वेदान्त कौस्तुभ-प्रभाकार केशवकाश्मीरी का तर्क है कि जगत् यदि मिथ्या या अध्यस्त होता तब मिथ्यावस्तु के परिपालन का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में ईश्वर में जगत्नियंतृत्वादि बातें किस प्रकार सम्भव हो सकती हैं? ब्रह्म सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ ब्रह्म के लिये मिथ्यावस्तु के परिपालन में प्रवृत्ति सम्भव नहीं। श्रुति में जगत् परिपालनादि बातें कही गई हैं, वे सत्य हैं, क्योंकि श्रुतिवाक्य मिथ्या नहीं हो सकते। इसी से सिद्ध होता है कि जगत् मिथ्या या अध्यस्त नहीं है।[१४६]

---

१४३. वेदान्तदर्शन—निम्बार्कभाष्य स्वामी सन्तदास जी की भूमिका—पृ० ३३। (इलाहाबाद १९८६ सं०)

१४४. कार्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति नत्वत्यन्तभिन्नत्वम्—ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य सू० २। १। १४

१४५. वेदान्तदर्शन निम्बाक भाष्य सन्तदास द्वारा व्याख्या—भूमिका पृ० ३४।

१४६. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा सू० २। १। १४ केशवकाश्मीरी (दिल्ली १९३८)

केशवकाश्मीरी का कहना है कि जगत्कार्य यदि शुक्ति–रजत के समान मिथ्या हैं तब तो कारण-ज्ञान से कार्यज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्य कारणज्ञान से ही सत्य कार्यज्ञान सम्भव है। शुक्ति–रजत में शुक्तिज्ञान से रजतज्ञान नहीं होता, अपितु शुक्ति–ज्ञान से रजत–ज्ञान बाधित होता है। इसी प्रकार जगत्-मिथ्यात्ववादी के मत में ब्रह्मज्ञान से जगत् कार्यज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्मज्ञान से जगत्प्रपंच बाधित हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'वाचारम्भण' श्रुति का अर्थ निरर्थक तो नहीं हो सकता। जगत्प्रपच सत्य न होने पर 'एक विज्ञान' श्रुति के अर्थ की संगति सम्भव नहीं।[१४७] केशवकाश्मीरी का तर्क है कि यदि जगत् मिथ्या है तब अद्वैत के अनुसार वेदान्तशास्त्रविचारादि व्यर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार मोक्ष की भी सिद्धि नहीं होती।[१४८] विवर्तवाद का खण्डन करते हुए वेदान्तरत्नमंजूषाकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्य ने कहा है कि यदि श्रुति का तात्पर्य जगत् को ब्रह्म का विवर्त सिद्ध करना ही होता तब उक्त वाचारम्भण श्रुति में 'विवर्त' या 'भ्रान्ति' शब्द का उल्लेख होता। सृष्टि के विषय में कहीं पर भी श्रुतिवाक्यों में शुक्ति-रजत या मृगतृष्णोदकादि के दृष्टान्त नहीं दिखते। विवर्त या भ्रान्ति शब्द का भी उल्लेख नहीं दिखता। इसके विपरीत उक्त वाचारम्भण श्रुति में मृत्पिण्ड और विकार शब्दों का ही प्रयोग है। श्रुति में विशेषकर 'विकार' शब्द के प्रयोग से कार्यजगत् कारण का सत्य परिणाम सिद्ध होता है।[१४९] इसी प्रकार पुरुषोत्तमाचार्य आगे कहते हैं कि यदि घटादि कार्यमय जगत् सम्पूर्णभाव से मिथ्या है तब मिथ्याभूत अर्थात् अलीक कार्य का आरोप नहीं हो सकता। पूर्वानुभूत कार्य का ही अनुभव हुआ करता है। जो सम्पूर्णभाव से अलीक है, उसका पूर्वानुभाव सम्भव नहीं। और पूर्वानुभव के बिना उसका अध्यास या आरोप नहीं हो सकता।[१५०] निम्बार्कमतानुसार जगत् ब्रह्म के शक्तिविक्षेपरूप परिणाम हैं। यह ब्रह्म का स्वरूपपरिणाम नहीं है।[१५१]

ऊपर प्रतिपादित विचारों से सिद्ध होता है कि निम्बार्क दार्शनिकगण विवर्त-वाद या जगन्मिथ्यात्ववाद का घोर विरोधी हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्य माधवमुकुन्द ने 'परपक्षगिरिव्रज' नामक ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित मिथ्यात्व का घोर प्रतिवाद किया है। उन्होंने उक्त ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के प्रायः प्रमुख सिद्धान्तों का तर्कों द्वारा खण्डन किया है। अद्वैत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व-लक्षणों का वैसा ही खण्डन किया है जैसाकि द्वैताचार्य व्यासराज ने 'न्यायामृत' ग्रन्थ में किया है। मिथ्यात्व के पंचलक्षणों के खण्डन में माधवमुकुन्द ने जो तर्क दिये है वे सभी तर्क न्यायामृतकार के तर्क के समान है। हमने मिथ्यात्व में पूर्वपक्ष एवं मिथ्यात्व-

---

१४७. वेदान्त कौस्तुभ प्रभा सू० २। १। १४

१४८. वही

१४९. वेदान्तरत्नमंजूषा—पृ० ६७

१५०. वेदान्तरत्नमंजूषा—पृ० ६५ पुरुषोत्तम (चौखम्बा १९०७)

१५१. वेदान्त कौस्तुभभाष्य—सू० १।४।२६

लक्षण अध्यायों में न्यायामृतकार के तर्कों का विस्तृत विचार किया है अतः मिथ्यात्व-लक्षणों के विरुद्ध माधवमुकुन्द द्वारा प्रस्तुत तर्कों का उल्लेख करने की यहां पर आवश्यकता नहीं है।[१५२] वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार केशवकाश्मीरी ने भी मिथ्यात्व-लक्षणों का खण्डन किया है। मिथ्यात्वानुमान के हेतुओं के प्रत्याख्यान में भी व्यास-राज के ही समान युक्ति-तर्कों के प्रयोग केशवकाश्मीरी एवं माधवमुकुन्द ने किये हैं। पुरुषोत्तमाचार्य ने मिथ्यात्वानुमान के दृश्यत्व हेतु का खण्डन करते हुए कहा है कि ब्रह्म स्वयं दृश्य है–अर्थात् ज्ञान का विषय है। शुद्ध ब्रह्म भी ध्यानादि का विषय होता है। ऐसी स्थिति में दृश्यत्वेन मिथ्यात्वानुमान का साध्य जगन्मिथ्यात्व ही नहीं ब्रह्ममिथ्यात्व भी हो जायेगा।[१५३]

प्रपंच जगत् की स्थिति या सत्यता के विषय में हमने निम्बार्काचार्यों के विचारों को देखा है। प्रदर्शित विचारों से स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि निम्बार्का-चार्यगण जगत् की सत्ता के विषय में क्या दृष्टिकोण रखते हैं। उनके अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है, किन्तु ऊपर के खण्डनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निम्बार्काचार्यगण मिथ्या शब्द से अलीक अर्थ लेते हैं। ऐसा करके निम्बार्काचार्यों ने अद्वैत के साथ अन्याय किया है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त यह स्पष्ट घोषणा करता है कि 'मिथ्या' का अर्थ अलीक नहीं है, अपितु सदसद्-विलक्षण है। अलीकत्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न रह जाता है केवल त्रिकालाबाध्य ब्रह्म और उत्पत्ति-विनाशशील विकारी घटादि वस्तुमय जगत् का। इन दोनों को क्या एक श्रेणी में रखा जाय या भिन्न-भिन्न श्रेणियों में? निम्बार्क-वेदान्ती अलीक आकाशकुसुमादि के अतिरिक्त स्वतन्त्रस्वरूप ब्रह्म और परतन्त्र तथा विकारादि से ग्रस्त जगत् को एक ही श्रेणी में रखते हैं। ऐसा करके भी निम्बार्काचार्य को स्वतन्त्र और परतन्त्र सत्ता का विभाजन तो करना ही पड़ता है, क्योंकि निम्बार्क के अनुसार भी जीव-जगत् की सत्ता परतन्त्र सत्ता है, ब्रह्म की सत्ता स्वतन्त्र।[१५४] सत्ताभेद न मानते हुए भी निम्बार्क यह मानते हैं कि जीव-जगत् ब्रह्म पर आश्रित हैं।[१५५] जो आश्रित है उसकी सत्ता आश्रय की ही सत्ता है, फिर भी वह आश्रय के समान-श्रेणी का तत्त्व कैसे हुआ? कार्य जगत् ब्रह्म का परिणाम है। परिणाम विकार को कहा जाता है। ब्रह्म स्वयं अविकृत रहता हुआ परिणाम लाभ करता है। इससे तो ब्रह्म और परिणामी जगत् में स्वभाव से महान अन्तर हुआ। जगत् में देखा जाता है—जो परिणामी कारण बनता है वह विकृत होता है, जैसे दूध से दधि बनता है। एक बार जो दूध दधि के रूप में परिणत हो जाता है, पुनः उस दधि से सार रूप में

१५२. मिथ्यात्वलक्षणों के प्रत्याख्यान में माधवमुकुन्द द्वारा प्रदर्शित तर्कों के लिये तत्कृत परपक्षगिरिवज्र 'पृ० ११६,११७,११८,११९ द्रष्टव्य हैं।

१५३. वेदान्तरत्नमंजूषा—पृ० ६८—६९।

१५४. A Critical Survey of Indian Philosophy—P. 377.

१५५. भारतीय दर्शन द्वितीय खण्ड—पृ० ७५३। (रा० कृ० आंग्ल सं० १ लन्दन १९२७)

विशुद्ध दूध नहीं निकल सकता, अतः अद्वैत में कारण की विशुद्धता की रक्षा के लिये ही विवर्तवाद को माना गया है। विवर्तवाद के अनुसार कारण की शुद्धता में वैसा ही प्रभाव नही पड़ता जैसा रज्जु-सर्प में सर्प की अभिव्यक्ति से या प्रतीति से रज्जु की शुद्धता पर किसी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ता। विवर्तवाद भी तो सत्कार्यवाद है, अतः अद्वैताचार्यों ने आरम्भणाधिकरण में वाचारम्भण श्रुति की व्याख्या करते समय सत्कार्यवाद का पूर्णरूप से निर्वाह किया है।[१५६] सत्कार्यवाद के अनुसार कारण से कार्य अन्य नहीं। यही कारण से कार्य की अनन्यव्याख्या अद्वैताचार्यों ने भाष्य-टीकाओं में दी है। और अनन्यतया कार्य कारणरूप से सत् है, ऐसा कहा गया है। ऐसी ही व्याख्या उक्त आरम्भण सूत्र की निम्बार्कभाष्य में की है, अतः घटादि कार्य के कारणानन्यत्वेन अलीक मानने का प्रश्न अद्वैत वेदान्त में नहीं उठता, ऐसी स्थिति में निम्बार्काचार्यों का अद्वैत के कार्य-कारणवाद में आक्षेप अनुपन्न हो जाता है। जहाँ तक कारण से भिन्न रूप कार्य की बात है वह रज्जु-सर्पवत् मिथ्या है। कारण-भिन्नरूप से कार्य के मिथ्यात्व को निम्बार्काचार्यों को भी स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि कारण से भिन्न स्वतन्त्ररूप कार्य व्यावहारिक जीवन में भी दिखायी नहीं देता। मृत्तिका से भिन्न घटादि की उपलब्धि कैसे सम्भव हो सकती है ? ब्रह्म से भिन्नरूप जगत् की उपलब्धि कैसे सम्भव ? यदि कारण मृत्तिका से एकान्त भिन्न घट को समझा गया तब ऐसी स्थिति में उक्त घट कार्य को मिथ्या ही नहीं अलीक कहा जायेगा। ब्रह्माधीन नहीं, ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र रूप से जीव-जगत् का अस्तित्व निम्बार्क वेदान्ती भी नहीं मानते या मान सकते; क्योंकि वे सत्कार्यवादी (परिणामवादी) हैं। वेदान्तदर्शन निम्बार्कभाष्य के व्याख्याकार स्वामी सन्तदास बाबा ने स्पष्ट कहा है कि "ब्रह्म से भिन्न एवं स्वतन्त्र वस्तु कह कर जो बोध है वही भ्रम और मिथ्या है। ब्रह्मज्ञान होने से यह भ्रम विनष्ट होता है और जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा बोध होता है।"[१५७] उन्होंने आगे और भी जोर देकर कहा है कि जगत् ब्रह्म से भिन्न है, ऐसा समझना ही भ्रम है। 'ब्रह्म से भिन्न रूप से जगत् का अस्तित्व ही नहीं है।' वाचारम्भण श्रुति द्वारा यही उपदिष्ट हुआ है।[१५८] इस प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि कारणव्यतिरेक कार्य मिथ्या है। यही बात अद्वैत में कही गयी। अद्वैत का भी यही तात्पर्य एवं कथन है कि कारण-व्यतिरेक कार्य मिथ्या है। शंकरभाष्यरत्नप्रभाकर ने इसलिये कहा हैं 'कार्यस्य कारणादभिन्नसत्ताकत्वम्'[१५९] कारण से कार्य की सत्ता अभिन्न है। इसी प्रकार न्यायनिर्णयकार ने भी कहा है—कि कारण के भाव होने पर ही कार्य का भाव होता है, अतः कारण से कार्य अनतिरिक्त है।[१६०] निरपेक्ष

१५६. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य—पृ० ४६२।
१५७. वेदान्त पारिजात—सौरभव्याख्या—भूमिका—पृ० ३४। (सन्तदास)
१५८. वही—पृ० सूत्र २।१।१४ पृ० २८०
१५९. भाष्यरत्नप्रभा—३८५

और सापेक्ष में अद्वैत ने सत्ताभेद स्वीकार किया है, क्योंकि निरपेक्ष ब्रह्म के साथ सापेक्ष के स्वभाव का मेल नहीं खाता । इसीलिये सापेक्ष की व्यावहारिक सत्ता और निरपेक्ष की पारमार्थिक सत्ता मानी गई, अतः अद्वैत ने कभी भी व्यावहारिक वस्तुओं को अलीक नहीं कहा है । निम्बार्क जिसे परतन्त्र सत्त्व कहते हैं, अद्वैत उसी को मिथ्या शब्द से कहते हैं ।

जगन्मिथ्यात्ववाद और काश्मीरशैवदर्शन, अरविन्द

काश्मीर शैव दर्शन

काश्मीर शैव दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं । इस मत के अनुसार एकमात्र शिव ही परमतत्व है । वह एक है, वह द्वितीय-रहित है । परमशिव स्वतन्त्र हैं । वह सत् और चित् है । सम्पूर्ण विश्व परम शिव के अन्दर है, अतः शिवमय ही सम्पूर्ण विश्व है ।[१६१] जगत् की व्याख्या इस मत में शिव की इच्छाशक्ति से दी गई है । परम शिव स्वयं द्वैतरहित है । वह विषय-विषयीभाव से परे है, फिर भी उन दोनों का अधिष्ठानरूप है । शिव से भिन्न रूप से जगत् की व्याख्या नहीं दी जा सकती । शिव ही विश्व के रूप में अवभासित होता है । शिव ही विषय और विषयी रूपों में भिन्नतया प्रतीत होता है । वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् की सिद्धि परम शिव से पृथक् करके नहीं की जा सकती । परम शिव ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है । कारण होने पर भी परम शिव में किसी प्रकार विकृति नहीं होती । वह स्वतन्त्ररूप से विच्युत नहीं होता । इस प्रकार परम शिव अद्वैत-वेदान्त का कूटस्थ ब्रह्म है, जोकि अपरिणामी नित्य है । परिणामी जगत् शिव की स्पन्द-शक्ति का परिणाम है । स्पन्द-शक्ति ही परिवर्तन का कारण है । परम शिव की स्थिति एक-रूप और विश्वातीत है । अभिनवगुप्त के अनुसार उस स्थिति में द्वैत और अद्वैत दोनों ही नहीं होते[१६२] । यह दोनों से परे की स्थिति है । शिव की शक्ति शिव से भिन्न नहीं है । अद्वैतवेदांत में भी ब्रह्म की मायाशक्ति ब्रह्म से अभिन्न है; परन्तु अद्वैतवेदांत में माया या अविद्याशक्ति को सदसद्विलक्षण, अतएव अनिर्वचनीय कहा है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अनिर्वचनीय न कहकर शक्ति को शिवा-भिन्न ही कहा है । सम्पूर्ण जगत् शिव में वैसे ही स्थित है जैसे कि समुद्र में लहरें । सृष्टि को प्रत्यभिज्ञादर्शन में कारणाभिन्न माना है । अद्वैतवेदांत में कार्यकारण विचार में यह स्पष्ट कहा गया है कि परमार्थतः कार्य कारणाभिन्न हैं, किन्तु व्यवहार में कार्य

---

१६०. विमतं कारणानतिरिक्तं तद् भावभाननियतभावभानत्वात् तत्स्वरूपवत्—न्यायनिर्णय —पृ० ३८३ ।

१६१. शुद्धं तत्वं परम शिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धत्ते तन्मयमेव तत् । शिवसूत्र विमर्शिनी पृ० ३५ खण्ड १ । क्षेमराज काश्मीर स्टेट १९११

१६२. न द्वैतं नापिचाद्वैतम् । तंत्रालोक भाग ३ अभिनवगुप्त पृ० २४१ रिसर्च विभाग जम्बू १९२१

कारण का विवर्त है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव को विशुद्ध चेतन और जगत् का कारण भी कहा गया है। शिव की शक्ति भी शिव से अभिन्न है। इस प्रकार सम्पूर्ण कारणता शिव में ही आती है; ऐसी स्थिति में विवर्तवाद की स्वीकृति के बिना जगत्रूप कार्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। शिव विशुद्ध भी है और जगत् कारण भी है; इस प्रकार दोनों बातें विवर्तवाद को मानकर ही सिद्ध की जा सकती हैं। विवर्तवाद में पारमार्थिक दृष्टि से कारण से कार्य अभिन्न है। व्यावहारिक दृष्टि से कारण से कार्य भिन्न-सा लगता है, अतः मिथ्या है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में कार्य-कारण-सम्बन्ध की पर्याप्त व्याख्या नहीं दी गई है। परम शिव को स्वतन्त्र और स्वप्रकाश कहा गया है। जो स्वतन्त्र है, वह जड़ नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ प्रकाशार्थ अन्याधीन है।[१६३] अद्वैतवेदान्त में पराधीन प्रकाशरूप से जगत् को मिथ्या कहा है। पराधीन वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। अद्वैतवेदांत के समान ही इस दर्शन में आत्मा को विशुद्ध चैतन्य कहा गया है।[१६४] जिसमें चैतन्य नहीं है उसे अवस्तु कहा गया है। क्षेमराज ने कहा है कि चेतन-सम्बन्ध के बिना कोई भी सत्व नहीं है।[१६५] विश्व में वस्तुएं ज्ञान के लिये आत्मा में अध्यस्त हैं और आत्मा का भी अभिमान अनात्मा शरीरादि में होता है। यह अद्वैत के अनुसार मिथ्याध्यास ही है। क्षेमराज भी उक्त अभिमान को अज्ञानमूलक ही कहते हैं।[१६६]

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की जगत् विषयक धारणा से अद्वैत के मिथ्यात्ववाद की पर्याप्त समानता है। इतना होने पर भी जिस प्रकार अद्वैत में विवर्तवाद द्वारा जगत् की व्याख्या दी है उस प्रकार शैव-दर्शन में नहीं दी गई। व्यावहारिक या पारमार्थिक दृष्टिभेद के बिना जगत् की सत्ता की ठीक-ठीक व्याख्या एक तत्त्व मानकर देना कठिन है। शिव तत्त्व को जब शैव-दार्शनिक विश्वातीत एवं कूटस्थ मान लेते हैं और शक्ति को शिवाभिन्न कहते हैं, तब वस्तुओं की सत्ता व्यावहारिक ही कही जायेगी। अद्वैतवेदांत में जिस प्रकार ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति कही गई है, उसी प्रकार इस दर्शन में भी प्रत्यभिज्ञा द्वारा जीवभाव से शिवभाव में प्रवेश कहा गया है, क्योंकि इस दर्शन में भी जीवात्माओं का वास्तविक नानात्व स्वीकृत नहीं है।

अरविन्द

श्री अरविन्द ने सर्वांगाद्वैततत्वब्रह्म को मानकर जगत् की व्याख्या दी है। 'दिव्य जीवन ग्रन्थ' में उन्होंने विशुद्ध आत्मवाद और विशुद्ध जड़वाद दोनों का प्रत्याख्यान किया है। श्री अरविन्द के अनुसार सत् सर्वोपरि और शाश्वत है। वह असीमित

---

१६३. स्वतन्त्रं हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते। जाड्यं परप्रकाश्यत्वमुच्यते।
तंत्रालोक भाग ६ पृ० १३ अभिनवगुप्त

१६४. चैतन्यमात्मा। शिवसूत्र प्रथम भाग पृ० ४ सू० १। (वसुगुप्त)

१६५. शिवसूत्र विमर्शिनी प्रथम भाग पृ० ४ क्षेमराज

१६६. वही। पृ० १३।

और अपने स्वरूप में अप्रमेय है। सीमित मन उसे नहीं जान सकता।[१६७] अपने स्वरूप में ब्रह्म विषय-विषयीभाव से भी परे है, फिर भी अरविन्द के अनुसार जो कुछ भी है वह सब समग्ररूप से ब्रह्म के अन्दर ही है। काश्मीर शैव-दर्शन के ही समान अरविन्द भी परमसत् में विकृति को स्वीकार किये बिना ही जगत् की व्याख्या देते हैं। विषय-विषयीरूप सम्पूर्ण सृष्टि सत् कारण में पहले ही से विद्यमान थी, क्योंकि कारण में जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। अरविन्द सत्कार्यवादी हैं।[१६८] सत्कार्यवाद में कारणव्यतिरिक्त कार्य नहीं माना जाता। श्री अरविन्द अपने समग्राद्वैत सत् के सिद्धान्त को औपनिषदीय सिद्धान्त कहते हैं। उपनिषदों में अरविन्द के अनुसार केवल निषेधात्मक पद्धति से ही ब्रह्म का वर्णन नहीं है, अपितु भावात्मक पद्धति से भी वर्णन है।[१६९] एतदर्थ अरविन्द ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की व्याख्या की है। 'सर्वं खल्विदं-ब्रह्म' की व्याख्या द्वारा अरविन्द नानात्व को समग्रात्मक परमतत्व के अन्तर्भूत करके उसको निषेध की स्थिति से निकालना चाहते हैं। इसी कारण अरविन्द ने अद्वैत के जगत्-मिथ्यात्ववाद का प्रत्याख्यान किया है। अरविन्द का कहना है कि विषय-विषयी में से विषय को मिथ्या कहने पर विषयी भी मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि दोनों एक दूसरे के सापेक्ष हैं, इसी कारण अरविन्द ने विषयीनिष्ठ विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान किया है। अरविन्द को अद्वैत द्वारा दी गई जगत् की व्याख्या भी सन्तोषजनक नहीं लगती, उनके अनुसार अद्वैतवेदान्त में जगत् की व्याख्या न करके उसकी उपेक्षा कर दी गई है।[१७०] श्री अरविन्द ने अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत माया (अविद्या) का प्रत्याख्यान किया है। अविद्या के विरुद्ध दिये गये उनके तर्क नये नहीं हैं, क्योंकि रामानुज ने श्रीभाष्य में वे तर्क अद्वैत के मायावाद के विरुद्ध प्रस्तुत किये थे।

अद्वैतवेदान्त में नानात्व के निषेधपूर्वक अद्वैत की सिद्धि की गई है। नानात्व का निषेध ही जगत् का मिथ्यात्व है, किन्तु अद्वैतवेदान्त यह नहीं कहता कि जगत्-प्रतीति का कोई आधार नहीं। मिथ्या का अर्थ (जैसाकि हमने पूर्वाध्यायों में देखा है) अद्वैत के अनुसार निरधिष्ठानक भ्रम नहीं है। मिथ्यात्व विचार द्वारा शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ताचार्यों ने यही सिद्ध किया है। अरविन्द के अनुसार कार्य-जगत् कारणरूप

---

१६७. The Life Divine vol. II (I)—P. 41 (Calcutta, 1940).
१६८. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—P. 166.
१६९. The Upanishads not only describe Brahman by negation (neti, neti) but also declare positively "All this is Brahman". Ibid.—P. 162.
१७०. Brahman alone is real and the world is an illusion produced by Maya is not wholly satisfactory. It ignores the world rather than explain it. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—P. 161.

से सत् और सत्-कारण से होने के कारण कार्यरूप में भी कार्य जगत् सत् हैं। सत् से निकली हुई वस्तु असत् नहीं हो सकती। यह व्याख्या अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत नही है। 'सत् से निकली हुई वस्तु' इसी पर अद्वैतवेदान्ती आपत्ति उठायेंगे, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में सत् की कूटस्थता एवं एकत्व बनाये रखने के लिए कार्य-जगत् को सत् से निकला हुआ न कह कर सत् का विवर्त कहा गया है। अद्वैतवादी सत्कार्यवादी होने पर भी विवर्तवादी है। विवर्तवाद के अनुसार कार्य कारणाभिन्न है अर्थात् परमार्थतः कार्य कारण ही है। व्यवहार में कार्य कारण से भिन्नतया प्रतीत होने लगता है, अतः कारण भिन्न होने से कार्य मिथ्या है। प्रातीतिक हैं। कारण ज्ञान से बाध्य है। इस प्रकार अद्वैतवेदान्ती भिन्नरूप से प्रतीत कार्य-जगत् का नेति-नेति करके निषेध करते हैं, और अद्वैतब्रह्म की सिद्धि हो जाती है। अरविन्द समग्रग्राही परम सत् के अन्दर कार्यजगत् को उसके गुण के रूप में स्थापित कर देते हैं, साथ में गुण परमसत्सम्बन्धित है किन्तु परम सत् को गुण सीमित नहीं कर सकते। परम सत् में गुणमय जगत् अर्थात् कार्यमय जगत् का निषेध करने पर अरविन्द के अनुसार वह सीमित हो जायगा, क्योंकि निषेध और विधान दोनों ही परम सत् को सीमित करते हैं।[१७१] अद्वैतवेदान्त के अनुसार परमार्थतः परम-सत् ब्रह्म में नानात्व या किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर अद्वैत की सिद्धि नहीं होगी। अरविन्द परम-सत् में स्वाभिव्यक्ति आदि धर्मों को मानते हैं। इस प्रकार अरविन्द एक ही परम-सत् में निर्गुणत्व-सगुणत्वादि विरुद्ध धर्मों को स्वीकार करते हैं। एक ही सत् वास्तविक अर्थ में सृष्टि में अनुस्यून और उससे परे भी है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म में पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टिकोणों के भेद से जगत् कारणत्व और कारण-कार्यभावातीतत्व भी रह सकते हैं। एक ही दृष्टिकोण से विरुद्ध धर्मों को परम सत् में मानने पर तार्किक विरोध नियम का उल्लघंन होता है। अरविन्द का कहना है कि हमारा मन सीमित है। परम-तत्त्व का ज्ञान समग्ररूप से हमारे मन को नहीं हो सकता, इसी कारण सीमित मन की दृष्टि से वहाँ पर विरुद्ध धर्मों का कथन स्वविरोधी लगता है। अतिमानस तत्त्व तक पहुंचकर देखने पर वहां सभी चीजों का समन्वय दिखाई देगा, कोई विरोध उस स्थिति में नहीं रहेगा।[१७२] अतिमानस की स्थिति से देखने पर विरोधों का अन्त हो जाता है।

यहां पर एक बात ध्यान देने की है कि अरविन्द के अनुसार अतिमानस द्वारा ज्ञान साधारण मन के ज्ञान का बाध कर देता है, और तब समग्र परम-सत् का ही दर्शन होता है। यदि अतिमानस ज्ञानावस्था में विश्वदर्शन की स्थिति बदल जाती है तब उसके द्वारा जागतिक अन्य ज्ञानों के बाध होने पर उस दृष्टिकोण से मन द्वारा देखा गया जगत् असत्य हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत के ही समान

---

१७१. The Life Divine, Vol. II (I)—P. 42.
१७२. The Chief Currents of Contemporary Philosophy—P. 163.

अरविन्द का अतिमानसतत्व एक प्रकार पारमार्थिक दृष्टि ही है। अरविन्द परम सत् सच्चिदानन्द के विचार द्वारा जगत् के विकास की व्याख्या देना चाहते हैं, जबकि अद्वैत वेदान्त में जगत् को व्यावहारिक सत्य या पारमार्थिक मिथ्या मानने पर भी विकास की भी व्याख्या हो जाती है।

मिथ्यात्वनिरूपण तथा कुछ पाश्चात्य विचार-धाराएं

प्लेटो :

प्लेटो के अनुसार तत्त्व (Substance) प्रत्यय (Ideas) हैं।[१] दर्शनशास्त्र में तत्त्व की परिभाषा भिन्न है। दर्शन शास्त्र के अनुसार 'तत्त्व वह है जोकि स्वसत्ता और ज्ञान के लिये स्वतन्त्र हो' इस अर्थ में प्लेटो के प्रत्यय तत्त्व हैं, क्योंकि प्लेटो के अनुसार वे स्वतन्त्र हैं। उनकी सत्ता स्वसत्ता है, जैसाकि अद्वैत में ब्रह्म की सत्ता स्वसत्ता है। ब्रह्म की सत्ता से ही अन्य वस्तुएं सत् सी प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार प्लेटो के अनुसार भी प्रत्ययों की सत्ता से ही वस्तुओं की सत्ता है। वस्तुएं प्रत्ययों की सत्ता पर निर्भर हैं।[२]

हमने अद्वैत वेदान्त के अनुसार कार्यजगत् की सत्यता किस प्रकार है, देखा है। अद्वैताचार्यों ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के आरम्भण अधिकरण में वाचारम्भण श्रुति की व्याख्या करते हुए सिद्ध किया है कि कार्य की सत्ता कारण की सत्ता है। कारण-व्यतिरिक्त कार्य की सत्ता नहीं, किन्तु कार्य के बिना कारण की सत्ता है। इसी प्रकार प्लेटो के दर्शन में इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं की स्थिति है। प्लेटो के अनुसार बाह्य वस्तुएं प्रातीतिक सत्य हैं, क्योंकि उनको सत्ता प्रत्ययों से मिली है। जागतिक वस्तुएं (Particulars) प्रत्ययों में भाग लेते हैं,[३] इसी कारण उनमें कुछ सत्ता है। अद्वैत के समान प्लेटो ने प्रातीतिक सत्ता एवं वास्तविक सत्ता में भेद किया है।[४] प्लेटो के अनुसार प्रत्यय ही सार्वभौम हैं, वस्तुएं सीमित हैं। वस्तुएं देशकाल से सीमित हैं, वस्तुएं उत्पत्ति-विनाशशील हैं, अतएव वे पूर्ण सत्य नहीं हो सकतीं। वस्तुओं में से प्रत्यय (Ideas) को निकाल देने पर वस्तुओं की सत्ता नहीं रह सकती। उनका अस्तित्व उनके अधिष्ठान के रूप में प्रत्ययों के रहने के कारण ही है। अद्वैत में कहा गया था कि सर्वत्र 'घटोऽस्ति' 'पटोऽस्ति' इस प्रकार 'अस्ति' जोकि सद्रूप ब्रह्म है, के कारण ही घटादि भी प्रतीत होते हैं। अस्ति के बिना घटादि की प्रतीति भी सम्भव नहीं, क्योंकि घटादि वस्तुएं सद्रूप में ही परिकल्पित हैं।[५] प्लेटो के अनुसार भी सार-वस्तु

१, Greek Philosophy, Stace—P. 186. (Macmillan, New York, 1964)

२. वही पृ० १८८

३. वही पृ० १९४

४. History of Western Philosophy, Bertrand Russell P. 135. (Allen Unwin, London, 1964).

५. घटादि भेदाः सद्रूपे परिकल्पिताः। प्रमाण माला पृ० ६, आनन्दबोध, चौखम्बा, १९०१।

मात्र प्रत्यय हैं। प्रत्ययों के बिना वस्तुओं में अस्तित्व नहीं । प्रत्ययों के बिना जब बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं तब प्रातीतिक बाह्य वस्तुएं क्या हैं ? प्लेटो का उत्तर है कि वे तथाकथित बाह्य वस्तुएं प्रत्ययों की 'प्रतिकृति' (copies) हैं । कहीं पर प्लेटो ने बाह्य वस्तुओं को प्रत्ययों के 'अनुकरण' और कहीं पर 'छाया' कहा है।[६] जेलर का भी कहना है कि प्लेटो बाह्य वस्तुओं को सत्य की छाया या प्रतिबिम्ब कहता है।[७] बाह्य वस्तुओं को सत्य की प्रतिकृति या छाया कहने का तात्पर्य उनकी सत्य पर आश्रितता से है। ये वस्तुएं सत्यसापेक्ष हैं। सत्य जोकि प्रत्यय हैं, सर्वदा निरपेक्ष हैं। वस्तुएं सत्ता और ज्ञान के लिये प्रत्यय-सापेक्ष हैं । प्रत्यय वस्तुओं के सार हैं, अतः सार के बिना वस्तुएं निःसार होंगी। निःसार का अर्थ है, तत्त्वरहित होना और तत्त्वरहित होने का अर्थ अतत्व या मिथ्या है । इस प्रकार वस्तुएं ज्ञान के लिये भी सारतत्व-प्रत्यय सापेक्ष हैं। सार के ज्ञान के बिना वस्तुओं का ज्ञान कैसे सम्भव है ? मृत्तिका घट का सार तत्त्व है, घट मृत्तिका पर आश्रित है अर्थात् मृत्तिका के बिना घट का अस्तित्व एक पल भी सम्भव नहीं । यदि घट विषयक सत्य ज्ञान प्राप्त करना है तो मृत्तिका का ज्ञान भी आवश्यक है। कारण को जाने बिना कार्य का अपूर्ण ज्ञान हो सकता है नकि पूर्ण ज्ञान । अपूर्ण ज्ञान तथ्यात्मक ज्ञान नहीं होता; अतः वह भ्रान्ति है। प्लेटो के अनुसार भी विचार की दुनिया मनोमय दुनिया है । अतः विचारात्मक (opinion) ज्ञान असत्य ज्ञान है। मात्र प्रत्ययों का ज्ञान ही सत्य ज्ञान है।[८] वस्तु विषयक सत्य ज्ञान भी प्रत्यय विषयक ज्ञान के माध्यम से सम्भव है; इसलिये आश्रित और सापेक्षतया प्लेटो के दर्शन के अनुसार बाह्य वस्तुएं मिथ्या हैं। छाया जिस प्रकार स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रख सकती, 'प्रतिकृति' की जिस प्रकार स्वतन्त्र सत्ता नहीं हो सकती, उसी प्रकार बाह्य वस्तुओं की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, किन्तु प्लेटो के अनुसार बाह्य वस्तुएं अलीक या असत् नहीं हैं। बाह्य वस्तुएं वैसे ही असत् नहीं हैं जैसेकि छाया असत् नहीं। प्रतिबिम्ब बिम्ब की प्रतिकृति होती है। बिम्ब सत्य होता है, प्रतिबिम्ब उसकी नकल। नकल यद्यपि असल के समान सत्य नहीं है, फिर भी असत् भी नहीं होती। प्लेटो ने बाह्य वस्तुओं की सत्ता का अपलाप नहीं किया है, किन्तु उनकी सत्ता प्रत्ययों के समान सत्ता नहीं है। इसलिये प्लेटो के अनुसार जैसाकि स्टेस महोदय कहते हैं—"बाह्य वस्तुएं अस्ति नास्ति के मध्य मार्ग में है, अर्द्ध सत्य हैं।'[९] बर्ट्रेण्ड रसेल के विचार से भी प्लेटो के अनुसार पार्टिकुलर्स सत्य के अंश हैं। प्रत्यय पूर्ण सत्य एवं पार्टिकुलर्स

---

६. History of Greek Philosophy, Stace—P. 194.

७. History of Greek Philosophy, Zeller—P. 130, 131, [New York, 1901).

८. History of Greek Philosophy— Stace. 191.

९. They are, therefore, half way between being and not being. They are half real. History of Greek Philosophy,—Stace—P. 191.

अर्ध सत्य हैं। अर्ध सत्य का अर्थ अल्प सत्य है। इसका अर्थ हुआ प्रातीतिक वस्तुएं प्लेटो के अनुसार असत् नहीं हैं। रसेल ने लिखा है कि 'यदि प्रातीतिक वस्तु की प्रतीति होती है तब तो वह अलीक या असत् नहीं है, किन्तु सत् का अंश है।'[१०] इन्द्रियग्राह्य वस्तुएं सत्य में भाग लेती हैं अर्थात् सत्य में आश्रित रहती हैं, इसलिये असत् नहीं है और असत् में भाग लेने के कारण पूर्ण सत् भी नहीं हैं। पूर्ण असत् में भाग लेने का अर्थ है पूर्ण असत् भी है। प्लेटो के अनुसार यह पूर्ण असत् जड़ (Matter) है। यह पूर्णतया स्वरूप रहित है। एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त की अविद्या से इसकी तुलना की जा सकती है, किन्तु अद्वैत की अविद्या सदसद्विलक्षण अतएव अनिवर्चनीय है। जड़ता (Matter) में भाग लेने के कारण ही बाह्य वस्तुएं पूर्ण सत् नहीं हैं। अद्वैत के अनुसार भी जड़त्व हेतु से जगन्मिथ्यात्व का अनुमान किया जाता है अर्थात् जागतिक वस्तुएं जड़ होने के कारण मिथ्या हैं। बाह्य वस्तुएं जब पूर्ण सत् भी नहीं और पूर्ण असत् भी नहीं तब मध्यम सत्य हैं। बाह्य वस्तुओं के विषय में ये विचार अद्वैत वेदान्त के "सदसद्विलक्षणानिर्वचनीयत्व मिथ्यात्व" की याद दिलाते हैं। अद्वैत के अनुसार त्रिकालाबाध्य होने के कारण बाह्य वस्तुएं सत् भी नहीं कही जा सकतीं और प्रतीति के विषय होने के कारण प्रतीति काल में असत् भी नहीं कहीं जा सकतीं। ऐसी स्थिति में ये वस्तुएं सदसदनिर्वचनीय हैं। व्यावहारिक वस्तुओं की सत्ता न्यून सत्ता मानी गयी है—अर्थात् कारण-सत्ता से कार्य-सत्ता न्यून है। यही प्लेटो के अनुसार अर्ध सत्य है।[११] अद्वैत के अनुसार भी घटादि वस्तुओं को यहां तक कि शुक्ति रजत को प्रातिभासिक वस्तुओं को भी अलीक नहीं माना गया। प्लेटो ने भी बाह्य वस्तुओं को आकाशकुसुम के समान अलीक नहीं माना है। अद्वैत वेदान्त के मिथ्या जगत् और प्लेटो के 'सापेक्ष पार्टिकुलर' में अन्तर इतना ही है कि अद्वैत में उक्त मिथ्या जगत् के अतिरिक्त एक पारमार्थिक स्तर की बात कही है जहां पर स्थित होने पर व्यावहारिक वस्तुएं मिथ्या लगने लगती हैं, अर्थात् व्यावहारिक वस्तुओं का ब्रह्मज्ञान द्वारा बाध हो जाता है, जैसे कि प्रातिभासिक वस्तुओं का बाध व्यवहार-ज्ञान द्वारा होता है। प्लेटो के दर्शन में इस प्रकार सत्ता-भेद की कल्पना स्पष्ट नहीं है, यद्यपि प्रत्ययों के ज्ञान की तुलना पारमार्थिक ज्ञान से की जा सकती है।

इस प्रकार हमने देखा कि अद्वैत-वेदान्त-प्रतिपादित 'जगन्मिथ्यात्व' की समानता प्लेटो के सापेक्ष एवं न्यून-सत्ताक वस्तुओं से है।

---

१०. If appearance really appears it is not nothing, and is, therefore part of reality,— History of Western Phil.—P.143.

११. Half real and half unreal, they are partly real, because they participate in being, they are partly unreal, because they participate in not-being.
History of Greek Philosophy—P. 203.

स्पिनोजा

स्पिनोजा के अनुसार एकमात्र परमतत्त्व ही सत्य है। परमतत्त्व का लक्षण स्पिनोजा के अनुसार इस प्रकार है–"द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिये किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो"[१२] अर्थात् स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य अपनी सत्ता में स्वतन्त्र है और ज्ञान में भी। इस प्रकार का द्रव्य या तत्त्व स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर है। ईश्वर परमतत्त्व है और असीम है। असीम होने के ही कारण वह एक भी है, क्योंकि दो असीम अपने में ही असंगत है। परमतत्त्व-ईश्वर के अतिरिक्त स्पिनोजा ने गुणों की बात कही है। स्पिनोजा ने गुण का लक्षण इस प्रकार दिया है–"गुण से तात्पर्य है कि जिन्हें बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।"[१३] स्पिनोजा ने ईश्वर में दो गुण माने हैं–चेतन और विस्तार। कहीं–कहीं पर स्पिनोजा ने ईश्वर को अनन्तगुणवाला बतलाया है, फिर भी वह निर्गुण है। यदि ईश्वर ही एकमात्र तत्त्व है तो गुणों का क्या होगा? स्पिनोजा के अनुसार गुणात्मक विश्व ईश्वर में ही है। ईश्वर या तत्त्व से बाहर नहीं। तत्त्व समग्र है। किसी भी ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती जो ईश्वर से बाहर हो। ईश्वर ही सभी वस्तुओं का कारण है, फिर भी कार्य या गुणरूप जगत् ईश्वर से अनन्य है। जैसाकि अद्वैताचार्यों ने कार्य को कारणानन्य कहा है, स्पिनोजा भी सभी वस्तुओं को कारणभिन्न कहते हैं। वस्तुओं की सत्ता कारण सत्ता से अन्य नहीं है। कारण सत्ता से अनन्य होने के कारण वस्तुओं की सत्ता अपने में नहीं है। जिस प्रकार अद्वैत में वाचारम्भण श्रुति की व्याख्या में कहा गया था कि मृत्तिका की सत्ता ही घट-सत्ता है। सुवर्ण की सत्ता ही वलयसत्ता है। बिना उक्त कारणों की उक्त कार्यों की सत्ता स्वतन्त्र रूप से नहीं है, उसी प्रकार स्पिनोजा भी परमतत्त्व ईश्वर से स्थावर-जंगमात्मक विश्व को भिन्न नहीं मानते।[१४] वस्तुएं सत्ता के लिए ईश्वर-सापेक्ष हैं, जबकि ज्ञान के लिये बुद्धि-सापेक्ष है, यद्यपि बुद्धि भी ईश्वर की ही सत्ता से सत्तायुक्त है। इस प्रकार वस्तुएं ज्ञान और सत्ता दोनों के लिये ईश्वर-सापेक्ष हैं। जो सापेक्ष है वह परमतत्त्व नहीं है। जो परम-तत्त्व नहीं है, वह परमतत्त्व का है। परम तत्त्व सम्पूर्ण जगत् का कारण है। इसका अर्थ यह नहीं कि परमतत्त्व से वस्तुएं पृथक् होकर निकलती हैं। समग्ररूप परम-

---

१२. By substance, I understand that which is in itself and is conceived through itself,
The Philosophy of Spinoza P. 122 (Edited by J. Ratner, Carlton House, New York)

१३. By attribute, I understand that which the intellect perceives of substance, as constituting its essence.
The Philosophy of Spinoza.—P. 122.

१४. History of Philosophy—Hegel—P. 270. (vol.III). (London, 1895).

तत्त्व से वस्तुएं पृथक् दिखायी नहीं जा सकतीं। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर सबका कारण है, फिर भी वह शुद्ध है।[१५] उसमें विकृति नहीं आती। कारण की शुद्धता को बनाये रखने के लिये स्पिनोजा के परमतत्त्व को विवर्त कारण कहा जा सकता है, तभी शुद्ध कारण तत्त्व से गुणात्मक जगत् की व्यख्या दी जा सकती है। गुणात्मक जगत् को परमतत्त्व का विवर्त न मानने पर कारण को पारगामी होना पड़ेगा, परन्तु स्पिनोजा ऐसा नहीं मानता। परमतत्त्व में गुणों की उपस्थिति की व्याख्या परिणामवाद से देने पर उक्त दोष से नहीं बचा जा सकता। वस्तुतः जब ईश्वर या परमतत्त्व स्पिनोजा के अनुसार निर्गुण और शाश्वत है तब उसमें परिणाम नहीं माना जा सकता। कोई वस्तु शाश्वत, निर्गुण हो, साथ में उसमें परिणाम या परिवर्तन भी, ऐसा नहीं होता, अतः स्पिनोजा के अनुसार सृष्टि की व्याख्या कारण को विवर्तकारण मानकर करनी होगी। विवर्तवाद के अनुसार कार्य की स्थिति से कारण के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कारण एकरूप रहता है, जैसाकि रज्जुसर्प ज्ञान में कारण रज्जु है, उसमें सम्पन्न कार्य सर्प वस्तुतः कारण को प्रभावित नहीं कर सकता। वह प्रातीतिक है। वस्तुतः रज्जु ही सत्य है। इसी प्रकार स्पिनोजा के कारणवाद में भी स्वीकार करना होगा, अन्यथा स्पिनोजा की इस उक्ति का विरोध होगा कि 'ईश्वर निर्गुण है'। उक्त प्रकार के अर्थ करने पर स्पिनोजा के गुण की परिभाषा भी संगत हो जाती है, क्योंकि स्पिनोजा ने कहा है कि–'गुण वह है जिसे बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है।' इसी कारण हेगल ने कहा है कि स्पिनोजा के अनुसार एकमात्र ईश्वर ही सत्य है, विश्व या जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि कुछ है तो अलीक है। सीमित सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है।[१६] 'सभी वस्तुएं एक में लीन हो जाती हैं, इसीलिये सर्वत्र एक ईश्वर ही है। 'गुण' की परिभाषा में समझना (Conceives) शब्द है, इसी 'समझना' शब्द का ही अर्थ करके कहा जा सकता है कि विश्व में हम जो परिवर्तन और कार्य-कारण-भाव देखते हैं, वह हमारे दृष्टिभ्रम के कारण है। हमारी दृष्टि में परिवर्तन प्रतीत होता है, वस्तुतः सम्पूर्ण परिवर्तन प्रातीतिक है। गुण बुद्धि का प्रतिभास है, अर्थात् गुण विषयिनिष्ठ है। वस्तुतः कार्यजगत् है नहीं। जो कुछ भी है परमतत्त्व है। उसमें गुणों को पृथक् समझना प्रातीतिक है। गुणों को विषयि-निष्ठ न मानने पर परमतत्त्व की असीमता, निर्गुणता, एकता आदि नहीं रह पायेंगी। इस प्रकार स्पिनोजा के अनुसार एकमात्र

---

१५. The History of Philosophy—vol. II—P. 59—60. (Ueberrwerg., London).

१६. Spinoza maintains that there is no such thing as what is known as the world, it is merely a form of God, and in and for itself it is nothing.

History of Philosophy—Hegel—P. 281.

परमतत्त्व को ही सत्य और जगत् को प्रातीतिक माना जा सकता है। परमतत्त्व विशेषणों से रहित है, अर्थात् किसी प्रकार के विशेषण उसमें नहीं हो सकते। उससे वह सीमित हो जायेगा। स्पिनोजा की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'आल डिटरमिनेशन इज़ नेगेशन'[१७] सभी विशेषण वस्तु को विशेषित करते हैं। घट को यदि किसी विशेषण से युक्त करें तो उसमें व्यापकता कम होती जायेगी, वह सीमित होता जायेगा। उदाहरणार्थ घट को यदि 'श्याम घट' कहें तो उसमें 'श्याम' शब्द के द्वारा घट को श्वेत लाल आदि से वंचित कर दिया जाता है, क्योंकि श्याम घट श्वेत या रक्त आदि विशेषणों से युक्त नहीं हो सकता, किन्तु पूर्व में जैसा था 'घट' मात्र रहने पर वह श्याम, लाल, श्वेत आदि सभी घटों का वाचक हो सकता है। इसका अर्थ है कि वस्तु को विशेषण से विशेषित करके अधिक सीमित कर दिया जाता है—अर्थात् अधिकांशों में वह असत् हो जाता है। श्याम घट का अस्तित्व श्याम घट में है, रक्त घट में नहीं। वह रक्तादि घटों से व्यावृत्त हो जाता है। वह मात्र अपने श्याम-घट में ही सीमित रह जाता है। इसी प्रकार उसमें और एक विशेषण अधिक लगाया जाय तो और अधिक सीमित हो जायेगा—जैसे वर्तमानकालिक श्याम घट। इससे भूतकालिक एवं भविष्यकालिक श्यामघट व्यावृत्त हो जाते हैं, केवल वर्तमानकालिक श्याम घटों का ही बोध उक्त विशेषणों के कारण होता है। इस प्रकार वस्तु में जितने विशेषण अधिक लगाते जायेंगे, वस्तु उतनी ही विशेषित होकर सीमित होती जायेंगी एवं अन्यत्र उसका निषेध होता जायेगा। उसके अस्तित्व का क्षेत्र कम होता जायेगा, क्योंकि वह विशेषणों द्वारा इतर-व्यावृत्त होता हुआ स्व में स्थित होता है। इसीलिये स्पिनोजा ने कहा है कि 'विशेषीकरण निषेध को जाग्रत करता है।' जहाँ भी विशेषण लगाया जायेगा निषेध होता जायेगा। परमतत्व में किसी विशेषण को लगाने का अर्थ उसे सीमित करना है। उसे इतरव्यावृत्त करना है। परमतत्व को जब चेतन और विस्तार-युक्त कहा जाता है, तब इन वह दोनों में सीमित होने लगेगा। वस्तुतः परमतत्त्व सीमित नहीं है; अतः चेतन और विस्तारमय जगत् को बौद्धिक प्रतीयमान कहा गया है, अर्थात् जगत् की प्रतीति बुद्धि के कारण है। यह परिकल्पनाज्ञान और इन्द्रिय प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रतीति है। आनुभूतिक ज्ञान में तो एकमात्र परमतत्त्व ही दिखायी देगा। वहां पर गुण की प्रतीति का बाध हो जाता है। इसी कारण स्पिनोजा के गुण की परिभाषा की रक्षा करने के लिये जगत् को प्रातीतिक या आभास स्वीकार करना होगा।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार व्यावर्त्तमान वस्तुएं मिथ्या हैं।[१८] 'सन् घटः' 'सन् पटः' इत्यादि में सत् की अनुवृत्ति होती है और घट पटादि की व्यावृत्ति। इस प्रकार व्यावर्त्तमान होने से घटादि मिथ्या हैं। इसी प्रकार स्पिनोजा का विशेषण दूसरी

१७. History of Philosophy—Hegel—P. 286.

१८. गीता शांकरभाष्य.— पृ० ३६, श्लोक २। १६ ।।गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००८। (सप्तम संस्करण)

वस्तुओं को व्यावृत्त करता हुआ स्वयं भी व्यावृत्त होता है, अतः प्रातीतिक, अर्थात् मिथ्या है।

ऊपर के विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि स्पिनोजा के दर्शन में अद्वैत के मिथ्यात्व को खोजने के लिये बहुत प्रयास करना पड़ता है, क्योंकि स्पिनोजा के कथनों से जगत् मिथ्या है, ऐसा अर्थ भी निकाला जा सकता है। साथ में 'गुणविशिष्ट ईश्वर है', ऐसा भी अर्थ निकाला जा सकता है। हेगल के अनुसार अद्वैत के जगन्मिथ्यात्ववाद से स्पिनोजा की गुणविषयक धारणा मिलती है। फिर भी अद्वैत के सद्सद्विलक्षण मिथ्यात्व स्पिनोजा के जगत् मिथ्यात्व से कुछ भिन्न है। इसका कारण स्पिनोज़ा परमतत्त्व को समग्ररूप में अधिक देखने के इच्छुक हैं। परमतत्व के अतिरिक्त-रूप में जगत् मिथ्या है। अद्वैत में भी ब्रह्म के अतिरिक्त के रूप में जगत् मिथ्या है।

बर्कले

बर्कले ने बाह्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। लॉक के तथाकथित अनुमेय बाह्य वस्तुयें वस्तुतः हैं ही नहीं, बर्कले की यही प्रस्थापना है। बाह्य जड़ वस्तुओं के प्रत्याख्यान के लिये बर्कले ने एक सूत्र का उपन्यास किया है ('Esseest Percipi'[१६]) अर्थात् सत्ता अनुभवमूलक है। इस सूत्र के आधार पर बर्कले ने जड़ वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। यह एक ज्ञान का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो वस्तु ज्ञात है उसी की सत्ता स्वीकार्य है। हमारा सम्बन्ध सर्वदा रूप, रस, शब्दादि प्रत्ययों से होता है न कि बाह्य जड़ वस्तुओं से। तथाकथित गौण और प्राथमिक गुण मानसिक हैं। आत्मा के बाहर उनकी स्थिति नहीं है। यदि जड़ नामक कोई स्थायी वस्तु के साथ हमारा सम्बन्ध होता तो वह एकरूप ही दिखाई देती, किन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तुएं दूर से देखने पर छोटी, पास से देखने पर बड़ी लगती हैं। इसका अर्थ हुआ कि हम जो कुछ भी देखते हैं आत्म-सापेक्ष देखते हैं। हमारी दृष्ट वस्तु हमें एकरूप नहीं दिखायी देतीं; अतः वह जड़वस्तु न होकर आत्मनिष्ठ विज्ञान है, अर्थात् आत्मसापेक्ष विज्ञान या प्रत्यय है।[२०] ये प्रत्यय वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ हैं, क्योंकि इन प्रत्ययों के अतिरिक्त वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता।[२१] बर्कले का तर्क है कि प्रत्ययों के अधिष्ठान के रूप में भी हम जड़वस्तुओं को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि जड़ वस्तुएं प्रत्ययों का अधिष्ठान हैं—यह बात हम नहीं जानते। प्रत्ययों के उत्पादक-रूप में भी बर्कले जड़-वस्तुओं को मानने को तैयार नहीं। बर्कले के अनुसार जड़वस्तुएं आत्मा में प्रत्ययों का उत्पादन नहीं कर सकतीं, क्योंकि वे स्वयं जड़ हैं।[२२] बर्कले

---

१६. Being is to be perceived or known.
Selections from Berkeley—p. 36. Fifth Ed. (A.C. Fraser, Oxford, 1899).

२०. Selections from Berkeley—P. 40

२१. वही—पृ० ४३

२२. वही—पृ० ४६

यहां पर न्याय-वैशेषिक के इस विचार को मानने को तैयार नहीं कि ज्ञान सर्वदा वस्तुविषयक होता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान सर्वदा 'घट ज्ञान', 'पट ज्ञान' के रूप में विषयपरक होता है। निर्विषयक ज्ञान नहीं होता। बर्कले ज्ञान को प्रत्यय-परक मानता है, किन्तु जड़वस्तुविषयक नहीं मानता। ज्ञान बर्कले के अनुसार भी निर्विषयक नहीं है, किन्तु प्रत्यय विषयक है।[२३] यदि वस्तुएं हैं, बर्कले के अनुसार वे प्रत्यय ही हैं।[२४] इनके अतिरिक्त वस्तुएं हों भी तो हम जान नहीं सकते।[२५] हमने पहले ही देखा है कि बर्कले अज्ञात वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते। बर्कले का कहना है कि अज्ञात वस्तु की सत्ता का कथन स्वव्याघात है। कोई ऐसा कैसे कह सकता है कि अज्ञात घट है? घट का कथन करना ही सिद्ध करता है कि घट कुछ न कुछ ज्ञात है। अज्ञात वस्तुओं का वर्णन अर्थहीन है, और स्वविरोधी है।[२६] बर्कले कहते हैं कि अज्ञात वस्तुएं कभी भी सुख और दुख पैदा नहीं कर सकतीं, क्योंकि सुख-दुख उत्पादन करना जड़ वस्तुओं का काम नहीं है। जड़वस्तुएं ज्ञान से सम्बन्धित होकर ही सुख-दुख मन में पैदा कर सकतीं हैं, अतः अज्ञात वस्तुएं नहीं हो सकतीं।[२७]

बर्कले बाह्य जड़ वस्तुओं की सत्ता का प्रत्याख्यान उनके ज्ञान के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं। बर्कले के सिद्धान्त का तात्पर्य वस्तुओं को ज्ञानाधीन बतलाना है, अतः बर्कले की स्थिति बौद्धविज्ञानवादी धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित के समान नहीं है। उक्त विज्ञानवादियों ने 'सहोपलम्भ-नियम' द्वारा ज्ञान-ज्ञेय को एक सिद्ध किया है। वे उपलब्धि के आधार पर वस्तुओं को ज्ञानाभिन्न सिद्ध करते हैं, जैसाकि हमने विज्ञान-वाद के विचार में दर्शाया है। उपलब्धि या ज्ञानातिरिक्त रूप में उक्त विज्ञानवादी आत्मा-परमात्मा का भी प्रत्याख्यान करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार विज्ञानाद्वैत-वाद सिद्ध होता है। बर्कले की स्थिति उससे कुछ भिन्न है। बर्कले प्रत्ययों की स्थिति आत्मा में मानते हैं।[२८] बर्कले उन प्रत्ययों को ईश्वर सृष्ट मानते हैं। बर्कले का कथन है कि 'वस्तुएं' सर्वदा ज्ञात होती हैं। या तो मुझे उनका ज्ञान है या अन्य व्यक्ति को अथवा शाश्वत आत्मा को।[२९] इस प्रकार बर्कले दृष्टिसृष्टिवाद से सुरक्षित हो जाते हैं। बर्कले सार्वभौम प्रत्ययों को ईश्वरसृष्ट मानते हैं, नकि जीव-सृष्ट; अतः

२३, वही—पृ० ३४

२४. The Idealist Tradition. P. 31.—A. C. Ewing. (New York, 1956).

२५. वही—पृ० ३४

२६. The absolute existence of unthinking things are words without a meaning or which include a contradiction. The Idealist Tradition—P. 36.

२७. Selections from Berkeley—P. 123.

२८. They exist in the mind. Ibid—p. 55,

२९. The Idealist Tradition—P. 31.

बर्कले के अनुसार प्रत्यय जीवात्मा की व्यक्तिगत कल्पना नहीं है, किन्तु ईश्वर द्वारा सृष्ट प्रत्यय हैं। बर्कले इनकी बाह्यता एवं जड़त्व का प्रत्याख्यान करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्यय ज्ञानसापेक्ष है। इसका अर्थ ज्ञात होने के लिये ज्ञानसापेक्ष है, न कि उत्पत्ति के लिये ज्ञानसापेक्ष। 'मन से बाहर वस्तुएँ नहीं हैं'—का अर्थ वस्तुएँ नहीं है, अपितु प्रत्यय हैं। वे प्रत्यय ज्ञात होने के लिये मन के ऊपर निर्भर करते हैं, अतः उनकी स्थिति भी मन में ही है। प्रत्ययों की ज्ञानसापेक्षता के साथ अद्वैत के दृष्टि-सृष्टिवाद की कुछ समानता है। विज्ञानवाद के प्रसंग में हमने देखा है कि किस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में दृष्टिसृष्टि का अर्थ दृष्टि से सृष्टि या दृष्टि ही सृष्टि न करके 'ज्ञातैकसत्व या अज्ञातसत्वाभाव'[३०] किया है। इसका अर्थ यही हुआ कि वस्तुएँ ज्ञानाधीन हैं, अर्थात् ज्ञात होने के लिये ज्ञान-पराधीन हैं। इष्टसिद्धिकार ने भी बाह्यवस्तुओं को 'दृगध्यस्त' कहा है; क्योंकि वस्तुओं के साथ 'दृक्' ज्ञान का किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं बन सकता; अतः वे ज्ञानाध्यस्त हैं।[३१] अद्वैतसिद्धिकार एवं इष्टसिद्धिकार का आशय यहीं है कि वस्तुएँ ज्ञात होने के लिये ज्ञानाधीन हैं। बर्कले के 'सत्तानुभवमूलक' सिद्धान्त के साथ उक्त सादृश्य होने पर भी अद्वैत मत में बाह्यार्थ की स्थिति बर्कले के दर्शन में स्वीकृत स्थिति से भिन्न है। 'नाभाव उपलब्धेः' (२।२।२८) इस सूत्र के भाष्य और टीकाओं में अद्वैताचार्यों ने बाह्य वस्तुओं की स्थिति ज्ञान से भिन्न मानी है, फिर भी अद्वैत में बाह्य वस्तुएँ ज्ञानाध्यस्त या मिथ्या हैं, अलीक नहीं। बर्कले के अनुसार बाह्यता अलीक है, सब कुछ आन्तर है। यही अद्वैत और बर्कले में बाह्यार्थ की स्थिति में अन्तर है।

ह्यूम

ह्यूम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ज्ञानमीमांसा से तत्वमीमांसा में पहुंचते हैं। ह्यूम अनुभववादी हैं। उनके अनुसार हमें प्रत्ययों का ही अनुभव हो सकता है। इन्द्रिय अनुभव से प्रत्ययों के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं का ग्रहण नहीं हो सकता। इसी प्रकार से ह्यूम ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर देते हैं। अनुभूति एवं बाह्य वस्तुएँ एक दूसरे से भिन्न हैं।[३२] दोनों का किसी प्रकार वास्तविक सम्बन्ध सम्भव नहीं है। बाह्य वस्तुओं को ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता। कार्य-कारण-नियम सार्वभौम नियम नहीं है। ह्यूम कार्यकारण-नियम का खण्ड करते हैं। अद्वैत वेदान्त के समान ह्यूम का भी कहना है कि कार्य-कारण में किसी प्रकार का बौद्धिक-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। कार्य-कारण की धारणा हमारा एक प्रकार

---

३०. दोषप्रयुक्तत्वनिबन्धनस्य ज्ञातैकसत्वस्याज्ञातसत्वाभावस्य वा।

अद्वैतसिद्धि—पृ० ५३३।

३१. इष्टसिद्धि—पृ० २ तथा ३।

३२. A History of Philosophy—F. Thilly—P. 373 (Revised Ed., Allahabad, 1951).

का स्वभाव है।[३३] वस्तुओं में कार्य-कारण-भाव निहित नहीं है, अतः वस्तुओं का निश्चित ज्ञान सम्भव नहीं है।[३४] कार्य-कारण के नियम के खण्डित होने पर बुद्धि द्वारा बाह्य वस्तु, आत्मा और ईश्वर का अनुमान भी सम्भव नहीं; क्योंकि अनुमान का आधार कार्य-कारण-नियम (साहचर्य नियम व्याप्ति) है। इस प्रकार द्रव्य या तत्त्व की धारणा आत्मद्रव्य या जड़ के रूप में निरर्थक है।[३५] इसी प्रकार नैतिक धारणाएँ भी ह्यूम के अनुसार अबौद्धिक हैं।

ह्यूम ने कार्यकारण-नियम का प्रत्याख्यान अवश्य किया है, इस नियम के प्रत्याख्यान में ज्ञान-ज्ञेय के सम्बन्ध का भी प्रत्याख्यान अद्वैत के ही समान किया है, किन्तु ह्यूम कार्य-कारण-भाव के प्रत्याख्यान में निषेधात्मक विश्लेषण में ही रह जाते हैं। अद्वैतवेदान्त में भी विषयी और विषय में या दृक् और दृश्य में सत्य सम्बन्ध का प्रत्याख्यान किया है, किन्तु उनमें आध्यासिक सम्बन्ध माना गया है। आध्यासिक सम्बन्ध मिथ्या सम्बन्ध है। ह्यूम भी व्यवहार का अपलाप नहीं करते। कार्य-कारण सम्बन्धादि को बुद्धि का स्वभाव होने के कारण काल्पनिक कहते हैं। ह्यूम कार्य-कारण-भाव के प्रत्याख्यान द्वारा बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। अद्वैतवेदान्त बाह्य वस्तुओं को अस्वीकार नहीं करता, अपितु उन्हें सत्वासत्वरूप से अनिर्वचनीय कहता है।

इस प्रकार अद्वैत के प्रपंच मिथ्यात्ववाद और ह्यूम के बाह्य वस्तुओं की सत्ता की धारणा में बहुत अन्तर है। ह्यूम आत्मा और अनात्म वस्तुओं की सत्ता के विषय में सन्देहवादी बन गये हैं। अद्वैत में सत्यानृतविवेक द्वारा सत्य की सिद्धि की गई है। अद्वैत में सत्य-मिथ्या की परिभाषा प्रस्तुत करके उनका विश्लेषण किया गया है। ह्यूम ने सत्य-मिथ्या का तात्विक विश्लेषण नहीं किया। ह्यूम की पद्धति मनोवैज्ञानिक और निषेधात्मक है। विचार की दृष्टि से ह्यूम विषय-विषयी और ईश्वर इन तीन तत्त्वों के निषोधात्मक पक्ष में पहुँचते हैं, फिर भी वे प्रत्ययों का निषेध नहीं कर पाते। अद्वैतवेदान्त के अनुसार ह्यूम के Impressions एवं Ideas भी आत्मा में अध्यस्ततया मिथ्या हैं। फिर भी अद्वैतवेदान्त विषय-विषयी तथा ईश्वर की सत्ता का प्रत्याख्यान करके ह्यूम के समान पूर्णतया निषेधात्मक पक्ष में नहीं पहुँचता। पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत की पद्धति निषेधात्मक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से वह

---

३३. History of Philosophy. vol. II, P. 134
Ueberweg (V ed., London)

३४. Thus we have no absolute, self-evident or certain knowledge of matters of facts, our knowledge never reaches absolute certainty. A History of Philosophy—Thilly—P. 374

३५. The Idea of substance is meaningless, whether applied to matter or to mind

A History of Philosophy—Thilly—p. 375

स्वीकारात्मक पद्धति द्वारा विषय-विषयी आदि सभी पदार्थों को सदसदनिर्वचनीय कहता है।

कान्ट

कान्ट ज्ञान सीमांसा से अपनी तत्वमीमांसा में पहुँचते हैं। ज्ञानमीमांसा में 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' नामक ग्रन्थ में कांट की प्रस्थापना है कि व्यावहारिक ज्ञान के लिये ज्ञान के माध्यम **बुद्धि विकल्प (केटेगोरीज़) एवं देशकाल** हैं। इन्हीं के माध्यम से हमें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होते हैं। व्यावहारिक ज्ञान अवभासों (Phenomena) का ज्ञान होता है, वस्तुस्वरूप का नहीं। कान्ट का कथन है कि 'जो अवभास (एपीयरेन्स) नहीं है वह अनुभव का विषय नहीं बन सकता। बुद्धि संवेदन के उन नियमों का अतिक्रमण नहीं कर सकती, जिनके माध्यम से वस्तुओं की उपस्थापना अवभास के रूप में होती है।[३६] बौद्धिक-ज्ञान के लिये संवेदन प्राप्ति हेतु देश-काल प्रकार (forms) हैं। इन्हीं प्रकारों के माध्यम से हमें वस्तुस्वरूपों (Things in themselves) के अवभास प्राप्त होते हैं, किन्तु देश और काल वस्तुस्वरूपों को जानने के माध्यम नहीं हैं।[३७] इसी कारण वस्तुस्वरूपों का ज्ञान हमें तद्रूप में नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकारों के माध्यम से प्राप्त संवेदनों के द्वारा ही हम जानते हैं और प्रकारों के द्वारा अवभास ही प्राप्त होते हैं, न कि वस्तुस्वरूप।[३८] यही हमारे बौद्धिक-ज्ञान की सीमा है। वस्तुस्वरूप हमारे मनोराज्य से परे हैं। जो हमें अवभास प्राप्त होते हैं वे वस्तुस्वरूप परमार्थों द्वारा उत्थापित हो जाते हैं; इसका अर्थ यह नहीं कि अवभास और वस्तुस्वरूपों में अंशांशिभाव है—अर्थात् अवभास वस्तुस्वरूपों के भाग हैं।[३९] परमार्थ वस्तुस्वरूप इन अवभासों के कारण तो अवश्य हैं, किन्तु इस कारणता की भी स्थापना हम नहीं कर सकते; क्योंकि कारणता की स्थापना के लिये भी कार्य-कारण के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यहाँ पर कारणत्वेन वस्तुस्वरूपों का ज्ञान सम्भव ही नहीं।[४०] कान्ट के अनुसार इन्द्रिय-संवेदनों से जो भी ग्राह्य हैं वे अवभास हैं।[४१] उनके अनुसार अवभासों को उपस्थापित करने वाले कारण वस्तुस्वरूपों की सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं है। वे इसी से सिद्ध हैं कि बिना उनके अवभास सम्भव नहीं।[४२] इस प्रकार कान्ट के अनुसार हमें परमार्थ वस्तुस्वरूपों का ज्ञान नहीं हो सकता; हम व्यावहारिक अवभासों को ही जान सकते हैं। जिस प्रकार अवभासों

---

३६. Critique of Pure Reason—P. 152.
३७. Kant's Metaphysic of Experience—P. 223, Vol. II
३८. Kant's Metaphysic of Experience—P. 62, Vol. I
(H. J. Paton, London & New York, III Ed., 1961)
३९. Ibid.
४०. Critique of Pure Reason—P. 193.-N.K. smith (Macmillan. 1952)
४१. Kant's Metaphysic of Experience—p. 415 Vol. II.
४२. Ibid.—P. 70. Vol. I.

को उत्थापित करने वाले वस्तुस्वरूप अज्ञेय हैं उसी प्रकार कान्ट के अनुसार आत्मा का स्वरूप भी अज्ञेय है। हम जब भी आत्मा को जानते हैं, उसे सोचने की प्रक्रिया में जानते हैं। वस्तुतः सोचने की प्रक्रिया को त्यागकर विशुद्ध अधिष्ठानस्वरूप आत्मा को हम नहीं जान सकते, क्योंकि वह भी हमारे मन से परे है।[४३] जिन परमार्थ स्वलक्षणों से हमें अवभासात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, उनका स्वयं का ज्ञान अर्थात् संवेदनात्मक ज्ञान हमें प्रज्ञा या बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।[४४] यहाँ पर एक समस्या खड़ी होती है कि कान्ट जब वस्तुओं को अज्ञेय कहते हैं तो उनके विषय में अज्ञेयात्मक कथन कैसे करते हैं? जिन्हें हम नहीं जानते या नहीं जान सकते, उनके विषय में कथन क्या सम्भव है? कान्ट इस समस्या का समाधान अन्य प्रकार से देते हैं। उनका कहना है कि हम निषेधात्मकरूप से वस्तुस्वरूपों को जानते हैं।[४५] कान्ट के अनुसार परमार्थ का भावात्मक ज्ञान सम्भव नहीं, किन्तु निषेधात्मक ज्ञान सम्भव है, जोकि हमारे ज्ञान की सीमा को बतलाता है कि हमारी पहुँच परमार्थ तक नहीं है। हम परमार्थ को अवभास के रूप में ही जान सकते हैं। एच० जे० पैटन का आक्षेप है कि जब कान्ट कहते हैं कि हम परमार्थ वस्तुस्वरूपों को जानते ही नहीं तब वे कैसे कह सकते हैं कि वस्तुस्वरूप नाना हैं? या वस्तुस्वरूप और आत्मा के स्वरूप में कैसे अन्तर किया जा सकता है? अज्ञातवस्तुओं को एक दूसरे से पृथक कैसे किया जाना सम्भव है? कान्ट का उत्तर है कि हम वस्तुस्वरूपों को जान अवश्य नहीं सकते, किन्तु उनके विषय में सोच सकते हैं। उनके विषय में 'वस्तुस्वरूप अज्ञेय हैं' ऐसा सोच सकते हैं। पैटन का कहना है कि इस प्रकार के कथन से उक्त समस्या का समाधान नहीं होता।[४६] कान्ट के सामने यह समस्या अवश्य है कि निषेधात्मक ज्ञान से वस्तुस्वरूपों के नानात्व का ज्ञान कैसे सम्भव है? वे वस्तुस्वरूप एक हैं, नाना हैं या किंरूप हैं कैसे जाने जा सकते? जानने पर भी काल्पनिक ज्ञान होगा नकि तथ्यात्मक, क्योंकि तथ्यात्मक ज्ञान के लिये वस्तुस्वरूप शर्त ही पूरे नहीं करते। वे शर्त हैं देश-काल, जिनके माध्यम से अवभासों का संवेदन होता है, किन्तु वस्तुस्वरूपों का संवेदन नहीं हो सकता, वे इन प्रकारों के घेरे से परे हैं।

ऊपर दिये विवरणों से बाह्यवस्तुओं की स्थिति कान्ट के अनुसार क्या है, स्पष्ट हो जाती है। कान्ट ज्ञात जगत् को प्रातीतिक कहते हैं। यह अन्तिम सत्य नहीं है। बल्कि कान्ट के अनुसार सत्य अपने में सर्वदा अज्ञेय होता है। जो अज्ञेय होगा वह सत्य कैसे होगा? इसी कारण इन दृश्य वस्तुओं की सत्ता प्रातीतिक है। अन्तिम सत्य परमार्थ वस्तुस्वरूप हैं।

अद्वैतवेदान्त में मान्य व्यावहारिक जगत् भी प्रातीतिक ही है। कान्ट देश-

४३. Critique of Pure Reason—P. 182, 183, 184.
४४. Kant's Metaphysic of Experience—P. 74. Vol. I.
४५. Critique of Pure Reason—P. 156.
४६. Kant's Metaphysic of Experience—P. 65.66. Vol. I.

काल और बुद्धि विकल्पों (केटोगोरिज) के माध्यम से ज्ञात वस्तुओं अवभासों को प्रातीतिक सत्य कहते हैं। अद्वैतवेदान्त में प्रातीतिक वस्तुएं जोकि स्वयं वस्तुएं न होकर ब्रह्मवस्तु से वस्तुत्व अर्थात् तत्त्व प्राप्त करके तात्विक-सी लग रही हैं, वे सब "दृश्यत्वेन" मिथ्या हैं, ऐसा कहा गया है। "दृश्य" शब्द से ज्ञेय या ज्ञान विषयत्व अर्थ लिया गया है। ज्ञान का विषय ज्ञेय है, अतः 'दृश्यत्वेन सर्वं मिथ्या' है, यह अद्वैत का मत कान्ट के प्रपंचवाद से मिलता है। कान्ट भी परमार्थ को अज्ञेय कहते हैं। अद्वैत में भी यह आक्षेप किया गया कि ज्ञान का विषय तो ब्रह्म भी होगा, फिर दृश्य होने के कारण मिथ्यात्व ब्रह्म पें भी जाना चाहिये? अद्वैतसिद्धिकार ने उत्तर दिया है कि ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यता है, नकि फलव्याप्यता।[४७] वृत्तिव्याप्यता का तात्पर्य है–मात्र अज्ञान का नाश होना, अर्थात् ब्रह्मविषयक अज्ञान की नाशकारक वृत्ति उदय होती है, उस स्थिति में भी ब्रह्म में विषयत्व किंचित् आता ही है। इसलिये अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है कि "शुद्धं हि ब्रह्म न दृश्यम् यत्तदद्दश्यमिति श्रुतेः।[४८]" अतः ब्रह्म में दृश्यत्व नहीं आता। वृत्ति-विषयक होने पर ब्रह्म में उपाधि-अंशत्वेन मिथ्यात्व आ ही सकता है किन्तु शुद्ध में यह दोष भी नहीं लगता; क्योंकि शुद्ध की स्थिति में ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता भेद न रहने के कारण वह ज्ञान का विषय भी नहीं बनता। इसी कारण अद्वैत में ब्रह्म को जानने वाले को होने वाला कहा गया है। कान्ट ने भी दृश्यत्व अर्थात् ज्ञान-विषयत्व परमार्थ स्वलक्षणों में नहीं माना है, अतः वे परमार्थ सत्य हैं। जगत् प्रपंच प्रातीतिक होने से अर्थात् अद्वैत के ही समान दृश्य होने से व्यावहारिक प्रपंच है। इसकी सत्यता अपनी नहीं है, क्योंकि इसका उत्थापन परमार्थ वस्तु स्वरूपों से होता है, अर्थात् सम्पूर्ण प्रतिभास या अवभास अपने में परमार्थ से पृथक् रूप में असत्य हैं, जैसाकि अद्वैत में कार्य-कारण विचार में कहा गया है कि "ब्रह्मभिन्नत्वेन कार्यं नास्ति" अर्थात् कार्य परमार्थतः कारण से अनन्य है। अद्वैत में जिस प्रकार आत्मा में अहन्ता, ज्ञातृता, कर्तृत्वादि धर्मों को अध्यस्त या मिथ्या कहा है वैसा ही कान्ट भी आत्मा की चिन्तनप्रक्रियादि स्थितियों को या उनसे सम्बन्धित आत्मा को आत्मा नहीं कहते। जैसाकि हमने ऊपर विचार किया है कि कान्ट ऐसी आत्मा को शुद्ध परमार्थ आत्मा नहीं कहते जो कि हमारे चिन्तन का विषय बनती है। जो आत्मा बुद्धि का विषय बनती है, वह शुद्ध परमार्थ कैसे हो सकती है? बुद्धि का विषय बनने का तात्पर्य है देश और काल से ग्रस्त होना और आत्मा को हम जैसी प्रतीति होती है, वैसा जानते हैं, नकि उसके अपने स्वरूप में, अतः ऐसी आत्मा प्रातीतिक अर्थात् परमार्थात्मा नहीं।[४९] अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा में चिन्तनादि अर्थात् ज्ञातृत्वादि अध्यस्त हैं। गरम लोहा जिस प्रकार जलाता है और लोग कहा करते हैं "लोहा जलाता है" वस्तुतः लोहा नहीं जला सकता। जलाने का गुण अग्नि में है, परन्तु अग्नि के सांनिध्य से

४७. अद्वैतसिद्धि—पृ० २३९

४८. वही—पृ० २३९ तथा २४२।

४९. Kant's Metaphysic of Experience—P. 416, Vol. II.

लोहे में वह गुण आरोपित किया जाता है। इसे अध्यस्त कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा परमार्थतः शुद्ध चेतन है, फिर भी अज्ञान के कारण उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व-ज्ञातृत्व-अहंतादि गुणों का आरोप होता है। इस प्रकार के आरोपित गुण प्रातीतिक होने से मिथ्या हैं। इसी प्रकार "अहम्" को जोकि "अहं सुखी, अहं दुःखी" आदि चिन्तन करता है, शुद्ध आत्मा नहीं कहा जाता, अपितु वह विषयों में अध्यस्त आत्मा है, जोकि अहंता है, वह आध्यासिक होने से मिथ्या है। इसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता भेद भी मिथ्या है।[५०] फिर भी अद्वैतवेदान्त में आत्मादि जगत् को मिथ्या होने पर भी असत् या अलीक नहीं कहा गया। हमने बौद्ध विज्ञानवाद के प्रत्याख्यान में अद्वैतवेदान्त के पक्ष का विस्तृत विवरण दिया है। अद्वैताचार्य प्रतीति या उपलब्धि के आधार पर जगत् की सत्ता सिद्ध करते हैं, अर्थात् व्यावहारिक सत्ता। प्रतीति-अधीनत्वेन अर्थात् दृश्यत्वेन मिथ्या सिद्ध किया जाता है, और उसी हेतु से ही प्रतीति अधीन होने से ही जगत् की सत्ता सिद्ध की जाती है। ऐसा इसलिये है कि दृश्यत्वेन मिथ्या का अर्थ असत् या अलीक नहीं और न ही उपलब्धि या प्रतीतित्वेन सत्य का अर्थ त्रैकालिक सत्य है; क्योंकि त्रैकालिक सत्य कभी बाधित नहीं होता, अतः जगत् न सत्य है–जैसाकि ब्रह्म, न असत् है–जैसाकि आकाशकुसुम, किन्तु मिथ्या है, यही व्यावहारिक है। न यह व्यक्तिगत भ्रम ही है। यह सार्वभौम है, सभी के लिये व्यावहारिक सत्य है; किन्तु पारमार्थिक नहीं। कान्ट भी जगत्-प्रपंच को प्रातीतिक कहने पर भी, अवभासात्मक कहने पर भी, भ्रम नहीं कहते; किन्तु प्रातीतिक सत्य कहते हैं। भ्रम तो व्यक्तिगत होता है। तथाकथित जड़ वस्तुएं एवं आत्मा जोकि परमार्थ वस्तुस्वरूपों के अवभास हैं, कान्ट के अनुसार मिथ्या नहीं है, जैसा कि पैंटन महोदय भी कहते हैं कि "कान्ट के लिये ऐसा सिद्धान्त जोकि अवभासों को भ्रम कहता है, अचिन्तनीय है।"[५१] इसी कारण कान्ट को व्यवहार के ज्ञान में वस्तुवादी और परमार्थ के ज्ञान में विज्ञानवादी कहा जाता है, क्योंकि वस्तुवादी कान्ट इसलिये है कि वे कभी यह नहीं कहते कि व्यावहारिक अर्थात् प्रातीतिक जगत् हमारे मन द्वारा निर्मित है। यह प्रातीतिक जगत् उत्पत्ति के लिये मननिरपेक्ष है। इनको परमार्थ वस्तुएं अवभास के रूप में उत्थापित करती हैं, जो कि सत्य हैं। यह हमारे मन के द्वारा कल्पना का जगत् नहीं है।[५२] कान्ट के अनुसार यह जगत्-प्रपंच सार्वजनिक है। सबके लिये है, सत्य है, किन्तु व्यावहारिक सत्यता है इसमें। इसी कारण कान्ट व्यावहारिक वस्तुवादी हैं, जैसाकि अद्वैत-वेदान्त व्यावहारिक वस्तुवाद का सिद्धांत है। कान्ट विज्ञानवादी या प्रत्ययवादी भी हैं, किन्तु कान्ट बर्कले के प्रत्ययवाद को भिन्न बताते हैं।[५३] कान्ट का कथन है कि

५०. पंचपादिका विवरण—२३५, २४४, २४५, (मद्रास १९५८)
५१. Kant's Metaphysic of Experience—P. 417. Vol. II.
५२. Kant's Metaphysic of Experience—P. 70, Vol. I.
५३. Ibid.—P. 71.

"जो बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रत्याख्यान करते हैं उन्हें प्रत्ययवादी नहीं समझना चाहिए। प्रत्ययवादी उन्हें कहना चाहिए जो परमार्थ बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को तो मानते हैं, किन्तु उनके प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानते और इसलिये किसी उपाय से हम उनके निश्चित ज्ञान नहीं पा सकते, उनकी सत्यता का निश्चित ज्ञान नहीं पा सकते, उनकी सत्यता का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता।[५४]

हमने देखा कि किस प्रकार अद्वैतमत का मिथ्यात्व और कान्ट का अवभास या प्रतिभास साम्य रखते हैं। इस विषय में कान्ट और अद्वैत वेदान्त में अन्तर एक विशेष बात में है। अद्वैतवेदान्ती मिथ्यात्व की कसौटी या मापदण्ड "बाध" को कहते हैं। शुक्ति रजत के बाध के समान ब्रह्मज्ञान से बाध्य होने के कारण जगत् मिथ्या है; अन्यथा अवगति पर्यन्त तो व्यावहारिक सत्यता है ही।[५५] कान्ट के दर्शन में ऐसी बात स्पष्टरूप से कहीं देखने को नहीं मिलती कि कभी परमार्थ का सत्यज्ञान होने पर प्रातीतिक जगत् का बाध होगा।

समकालीन चिन्तन

ब्रेड़ले

ब्रेड़ले प्रतीयमान वस्तुओं को आभास या मिथ्या कहते हैं। प्रतीयमान वस्तुओं के अधिष्ठान रूप से जो सत्ता है उसे ब्रेड़ले सत् कहते हैं। ब्रेड़ले ने अपनी पुस्तक 'एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी' के प्रथम खण्ड में सभी प्रतीय–मान वस्तुओं को तर्कों और युक्तियों द्वारा आभास सिद्ध किया है। तार्किक बुद्धि से विचार करने पर वस्तुएं सत्य सिद्ध नहीं हो पातीं। ब्रेड़ले के अनुसार पूर्ण सत् कभी भी अपनें में स्वव्याघातक नहीं होता।[५६] इसका अर्थ ब्रेड़ले के अनुसार हुआ—सत् यदि है तो असत् नहीं हो सकता। वह सत् ही है। यदि सत् अपने स्वरूप से विलग हो सकता तब वह सत् ही नहीं कहा जावेगा। इसके विपरीत आभास अपने अस्तित्व को बनाये नहीं रख पाते, कारण यह है कि आभास का अपना कोई स्वरूप नहीं है। उनका स्वरूप भी सत् का ही स्वरूप है। आभास अपने अस्तित्व से तादात्म्य नहीं रख पाते।[५७]

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास सिद्ध करने के लिये प्रधान-अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल, गति और परिवर्तन, कारण और क्रिया, यहां तक कि आत्मा का भी विचार करके सभी को स्वव्याघातक सिद्ध किया है। उनके अनुसार ये सभी आभास हैं, न कि सत्। अप्रधान गुणों के

---

५४. Critique of Pure reason-P. 193.

५५. ब्रह्मसूत्रभाष्य भामती—२।१।१४ पृ० ४५८

५६. Ultimate reality is such that it does not contradict itself. Appearance and Reality—P. 120. Bradley (9th Ed., Oxford, 1930).

५७. Ibid.—P.165

विषय में उनके विचार हैं कि रूप, रंग आदि अप्रधान गुण वस्तुगत नहीं हैं, वे अहं-सापेक्ष हैं। इन्द्रियों के बिना अप्रधान गुणों की सत्ता नहीं सिद्ध हो पातीं। ये वस्तुतः वस्तुओं में न होकर विषयी में है, अतः आभास हैं। ब्रेडले स्वतन्त्र सत्ता को ही सत् कहते हैं। अप्रधान गुण स्वतन्त्र नहीं हैं, अतः सत् न होकर आभास हैं।[५८] इसी प्रकार प्रधान गुण भी सापेक्ष हैं। वे भी अपने आप में स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व-वान नहीं हैं, अतः वे भी आभास ही हैं।[५९] गुण-गुणी का सम्बन्ध भी नहीं बन सकता। ब्रेडले ने शक्कर खण्ड का उदाहरण देकर समझाया है कि शक्कर मीठा है, ठोस है, श्वेत है, इन गुणों से वह विशिष्ट है, किन्तु मीठा, ठोस आदि ही शक्कर नहीं है। मीठा स्वयं एक गुण है, वह ठोस नहीं है, श्वेत स्वयं एक गुण है, ठोस का प्रयोग श्वेत में भी नहीं हो सकता। शक्कर इन गुणों की समष्टिमात्र भी नहीं। तब वह है क्या?[६०] इस प्रकार तार्किक विश्लेषण करने पर वस्तुएं न विशेषण रूप होती हैं, न उनसे भिन्न रूप से सिद्ध हैं। "शक्कर श्वेत है।" इस वाक्य में हम शक्कर को श्वेत कैसे कहते हैं? शक्कर को उद्देश्य करके श्वेत का विधान करने पर उद्देश्य शक्कर के विषय में हमने कुछ भी कथन नहीं किया। और यदि उद्देश्य को ही विधेय में कहा जाय तब भी कुछ नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार उभयतः पाश है। ब्रेड्ले के शब्दों में "यदि उद्देश्य का विधेय उससे भिन्न रखा जाय तो उद्देश्य को ऐसा बताया जायगा जैसा वस्तुतः नहीं है। इसके विपरीत यदि विधेय उद्देश्य से अभिन्न हो तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि उद्देश्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया।"[६१]

ब्रेड्ले के अनुसार विश्व में सभी वस्तुएं किसी न किसी रूप में सम्बन्धों से युक्त हैं और सम्बन्धित वस्तुओं का स्वरूप वह नहीं होता जोकि सम्बन्धावस्था में प्रतीत होता है। उन वस्तुओं का स्वरूप सम्बन्धों से परे परमसत् है। वह परमसत् सम्बन्धातीत है। फिर भी इन वस्तुओं का वही स्वरूप है।

अद्वैत वेदान्त में जिस प्रकार चित्सुखाचार्य ने तत्वप्रदीपिका में और श्री हर्ष ने खण्डन में न्यायवैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रमाण प्रमेयादि का प्रत्याख्यान किया है और अनिर्वचनीयता सर्वस्व की स्थापना की है, उसी प्रकार ब्रेडले ने भी उसी पद्धति से प्रातीतिक वस्तु गुण-गुणी विशेषण विशेष्यादि का प्रत्याख्यान किया है। इनमें उनके अनुसार किसी प्रकार की भी संगति नहीं है। जो स्वयं किसी सम्बन्ध पर निर्भरशील है उसकी सत्ता सत् न होकर प्रातीतिक है। ब्रेड्ले ने जिस प्रकार गुण-गुणी में सम्बन्ध के लिये सम्बन्धान्तर की शृंखलारूपी अनवस्थादोष दिखाया है[६२]

---

५८. Ibid.—P. 10.
५९. Appearance and Reality—P. 15
६०. Ibid—P. 16.
६१. Ibid.—P, 17.
६२. Appearance and Reality–P. 18.

उसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने न्यायवैशेषिक के समवाय के प्रत्याख्यान में सम्बन्ध परम्परा की अनवस्था का दोष दिखाया है।[६३]

ब्रेड्ले प्रतीयमान वस्तुओं को उक्त प्रकार से आभास सिद्ध करते हैं, और कहते हैं कि "सम्बन्ध-गुण-विशष्ट सत् वास्तविक सत् नहीं है, अपितु आभास है।"[६४] सम्बन्धों के बिना गुण नहीं पाये जाते, गुणों के बिना सम्बन्धों का अस्तित्व नहीं मिलता। इस प्रकार सभी निर्भरशील हैं, अतः स्वसत्ता से रहित, मात्र प्रातीतिक हैं।

ब्रेड्ले बाह्य वस्तुओं को विचार की दृष्टि से सत्ता से च्युत करके आन्तर वस्तु आत्मा (ego) को भी प्रतीयमान कहते हैं। शरीर और आत्मा दोनों ही ब्रेड्ले के अनुसार आभास हैं।[६५] आत्मा को जिस रूप में जानते हैं वह सम्बन्धों से विशिष्ट आत्मा है। सम्बन्धों से विशिष्ट वस्तु स्वयं सत्तावान नहीं होती, अतः इस कारण आत्मा भी आभास है। अद्वैतवेदान्त के अनुसार भी शरीर इन्द्रिय मनोयुक्त तथाकथित सम्बन्धित आत्मा वस्तुतः अध्यस्त है। अध्यस्त आत्मा मिथ्या है।[६६] स्वस्वरूप आत्मा शरीरेन्द्रियान्तःकरण धर्मों से परे है जोकि ब्रह्मरूप है। जहां तक अहं की आत्मा होने की बात है वह विशुद्ध चेतनांश में आत्मा या विशुद्ध चेतन है, किन्तु अहन्तांश अध्यस्त एवं मिथ्या है। अद्वैताचार्यों ने कहा है कि कार्य स्वरूप से सदसद्रूप से निर्वचनीय नहीं है। कारणात्मना ही उसका निर्वचन सम्भव है; इसलिये कारण की ही सत्ता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है "कारणसत्तव कार्यस्य सत्ता न ततोऽन्या।"[६७] इसी प्रकार ब्रेड्ले के अनुसार भी सत् की सत्ता के बिना आभास की सत्ता सम्भव नहीं। आभास के विषय में अस्ति का कथन भी सत् के कारण ही सम्भव है। सत् आभास नहीं, किन्तु सत् के बाहर आभास नहीं है। सत् एक होकर सर्वत्र अनुस्यूत है, अतः नानात्व को अपने में आत्मसात् किया हुआ है।[६८] वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार का भी यही कहना है कि आत्मा सत्ता ही द्वैत की सत्ता है। इसी कारण आत्मा को जान लेने पर कारणरूप से द्वैत को भी जान लिया जाता है।[६९] ब्रेड्ले अद्वैत के ही समान यह मानते हैं कि सत् के बिना आभास

---

६३. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य भामतीकल्पतरुपरिमल पृ० ५११–५१२।

६४. The reality so characterized, is not True reality, but is appearence,
Appearance and Reality—p. 21.

६५. That neither body nor soul can be more than Appearance.
Appearance and Reality—P. 262.

६६. पंचपादिका—पृ० ३२।

६७. भामती—पृ० ४४६।

६८. Appearance and Reality—P. 213.

६९. आत्मसत्तैव द्वैतस्य सत्ता नाऽन्या यतस्तत आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम्।
वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—पृ० १६४। प्रकाशानन्द अच्युत ग्रन्थमाला, सं० १९९३।

सम्भव नहीं।[७०] आभास की जब सत्ता है ही नहीं तब वह बिना सत् के किसका आभास होगा ? अतः सत् की सत्ता ही आभास की सत्ता है । आभास सत् की सत्ता से सत्तावान हैं, इसलिये कहा जा सकता है कि जो कुछ भी है सभी सत्य हैं। अद्वैत वेदान्त की "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की व्याख्या भी यही सिद्ध करती है कि सत् सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जहाँ पर ब्रह्म नहीं हो, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त मिथ्या की सत्ता पृथक् रूप से स्वीकार करने का अर्थ है द्वैतापत्ति।

सापेक्ष सत्य इन वस्तुओं को पूर्णसत् मान लेना ही ब्रड्ले के अनुसार भ्रम है।[७१] अद्वैतवेदान्त के अध्यास विवेचन में हमने दिखाया है कि किस प्रकार भ्रम-स्थल में जो वस्तु नहीं, उसी को वहीं पर सत्य मान लिया जाता है; इसीलिये उक्त स्थल की वस्तु और ज्ञान दोनों मिथ्या हैं। इसी प्रकार जगत् की वस्तुएं ब्रह्म में आरोपित हैं जोकि अधिष्ठान की सत्ता से सत्तावान हैं, किन्तु उन वस्तुओं को पृथक् रूप से सत्तावान मानना ही जगद्‌भ्रम है । अद्वैत के ही समान ब्रेड्ले भी सत् में नानात्व का निषेध करते हैं। उनका कहना है कि स्वतन्त्र सत्ता के नाना सत् सम्भव नहीं है।[७२] नाना सत् होने पर स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र सत् होंगे। परतन्त्र सत् का अर्थ सत् न होकर आभास ही हुआ। वस्तुएं अपने स्वरूप में सत् हैं और सत् में एकीभूत हैं, फिर भी बुद्धि में स्वव्याघाती एवं नाना प्रतीत होती हैं।[७३] अद्वैत के अनुसार नानात्व दर्शन अध्यासजन्य है। ब्रेड्ले भी नानात्व दर्शन, सत् को पूर्णरूप से ग्रहण न कर सकने के कारण, कहते हैं बुद्धि द्वारा सत् को पूर्णरूप से नहीं जाना जा सकता।[७४] बुद्धि जब भी सत् को जानना चाहेगी उसे आभास के रूप में विखण्डित करके ही जानेगी। सत् को जानने के लिये सत् होना पड़ेगा। अद्वैत में "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" माना गया है, उसी प्रकार ब्रेड्ले सत् को सत् होकर ही जाना जा सकता है, ऐसा कहते हैं।

हमने ऊपर ब्रेड्ले के दर्शन में जगत् प्रपंच की स्थिति का एक संक्षिप्त विवरण दिया है। अद्वैत में स्वीकृत मिथ्यात्व के साथ ब्रेड्ले द्वारा प्रदर्शित आभास की तुलना की जा सकती है। चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती आदि आचार्यों ने मिथ्यात्वानुमान में दृश्यत्वादि हेतु प्रदर्शित किये हैं। हमने मिथ्यात्वानुमान विचार

---

७०. Appearance without reality would be impossible.
Appearance an0 Reality—P. 432.

७१. Ibid.—P. 431

७२. The absolute is not many, there are no independent reals.
Appearance and Reality.—P. 127.

७३. Appearance and Reality—P. 505.

७४. Truly to realize the existence of the absolute is for finite beings impossible.
Ibid.—P. 140-

के प्रसंग में हेतु विचार भी किये हैं, अतः स्पष्ट है कि शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ती दृश्य वस्तुओं को ज्ञान विषय होने के कारण मिथ्या कहते हैं। ब्रेडले भी हमारी बुद्धि में प्रतीयमान वस्तुओं को आभास की संज्ञा देते हैं। ब्रेड्ले के अनुसार सत् एक है. अतः नानात्व आभास है। ब्रेडले के अनुसार सत् निरंशी है, अतः जो भी अंशी या नाना हैं आभास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व में जो हेतु अद्वैताचार्य देते हैं, उन्हीं हेतुओं के समान बातें ब्रेडले भी आभास के लिये कहते हैं। वस्तुतः अद्वैत के अनुसार भी सत् 'एकमेवाद्वितीय' है। ब्रेडले के अनुसार भी सत् एकमेवाद्वितीय है। इसी कारण सदतिरिक्त वस्तुएं आभास हैं। अद्वैत के अनुसार भी सत् ब्रह्म व्यतिरिक्तत्वेन सर्व मिथ्या है.

ब्रेडले के अनुसार सत् का मापदण्ड "अविरोध" है और आभास का मापदण्ड विरोध है। सत् कभी भी सत्ता से पृथक् नहीं हो सकता। सत् होकर सत्ता से पृथक् होना "विरोध" माना जायेगा। जिसमें इस प्रकार की बातें हों वह आभास होगा न कि सत्। अद्वैत के अनुसार भी सत् त्रिकालाबाध्य है। अबाधित होना ही सत् का मापदण्ड है। जो बाधित होता है वह सत् न होकर मिथ्या है।[७५] जो आदि में भी नहीं था, अन्त में भी न होगा वह सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुएं अबाधित नहीं हो सकतीं। उत्पत्ति से पूर्व भी जिसकी सत्ता नहीं और विनाश के बाद भी जिसकी सत्ता नहीं, वह अबाध्य नहीं रहा। ब्रेडले के अनुसार वह स्वव्याघाती हुआ, क्योंकि कोई भी वस्तु अपनी स्वसत्ता को जब छोड़ देती है, तब वह सत्ताहीन हो जाती है। यदि वह स्वसत्ता से युक्त होती तो उसकी सत्ता उससे विलग नहीं हो सकती थी। उसकी सत्ता सत् से प्राप्त होने के कारण किसी भी समय वह सत्ताहीन हो जाती है, अतः वह वस्तु आभास है। एक ही वस्तु घट में भाव अभावादि विरोधी बातें हैं, अतः व्याघातपूर्ण हैं। आज घट है, कल नष्ट होने पर नहीं रहेगा, उत्पत्ति के पूर्व भी घट नहीं होता, इस कारण अर्थात् भावाभावादि विरोधी बातों के कारण ही घट अद्वैत के अनुसार मिथ्या है। इस देश में घट है, अन्य देश में नहीं है, इस प्रकार भावाभाव दैशिक दृष्टि से भी घट में हैं, अतः घट सत्ताव्यभिचारी है। परिच्छिन्न हेतु से जो मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है, उसका तात्पर्य भी यही है। देश-काल और वस्तुगत परिच्छेद वस्तुओं में सीमा खींच देता है। वस्तु देश-काल और वस्तु के परिच्छेद से स्वसत्ताव्यभिचारी हो जाती है। इसी कारण वस्तुओं का बाध हो जाता है। ब्रेडले के अनुसार भी वस्तुओं में सत्ता होने पर वह आंशिक सत्ता है, क्योंकि वस्तुएं नाना रूप से सत् नहीं हो सकतीं। सत् निरपेक्ष होता है, अर्थात् सत्ता के लिये, ज्ञान के लिये वह निरपेक्ष है, किन्तु वस्तुएं सत्ता और ज्ञान के लिये सापेक्ष हैं, अतः सापेक्षतया भी वे आभास हैं।

ब्रेडले ने आभास का मापदण्ड विरोध या व्याघात को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है, क्योंकि जहां पर भी सम्बन्धादि की सिद्धि तार्किक विश्लेषण द्वारा नहीं कर

७५. The Idealistic Thought of India—P. 102.

पाये, ब्रेडले ने वहीं पर विरोध का प्रयोग करके उससे आभास कह दिया है। अद्वैत-वेदान्त के "व्यावर्तमानत्व", 'परिच्छिन्नत्व', 'अवयवित्व', 'जड़त्व', 'दृश्यत्व' आदि मिथ्यात्व अनुमान के हेतु ब्रेडले के 'विरोध' शब्द के अन्तर्भूत हैं। ब्रेडले ने विरोध का प्रयोग उक्त सभी अर्थों में किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैतवेदान्त में स्वीकृत मिथ्यात्व का मापदण्ड ब्रेडले द्वारा स्वीकृत विरोध के समान है।

ब्रेडले ने प्रतीयमान वस्तुओं को आभास अवश्य कहा है, किन्तु उन्हें असत् नहीं कहा है। वस्तुएं आभास हैं–का अर्थ सापेक्ष सत् हैं। यद्यपि सत्वस्तु एक ही है, फिर भी आभास बिना सत्ता के सम्भव न होने के कारण सापेक्ष सत् है। सभी मिथ्या हैं, फिर भी अंशतः सत्य हैं। इस प्रकार सभी प्रतीयमान वस्तुओं में कुछ सत्ता अवश्य होती है।[७६] व्यावहारिक दृष्टि से ब्रेडले आभास को भी सत्य मानते हैं। यद्यपि सभी प्रतीयमान वस्तुओं को आभास कहा गया है, फिर भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का अन्तर है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीयमान वस्तुएं सभी सत्य हैं।[७७] ब्रेडले आभास को अद्वैत के मिथ्या के समान ही एक सार्वभौम व्यावहारिक सत्य मानते हैं। जहाँ पर ज्ञान के अनुकूल वस्तुएं नहीं प्राप्त होतीं वही भ्रम है। प्रतीयमान जागतिक वस्तुविषयक भ्रम उक्त भ्रम से भिन्न है।[७८] प्रातीतिक वस्तुयें सापेक्ष सत् हैं। हमारे दैनिक व्यवहार में ये वस्तुएं मिथ्या नहीं हैं। सापेक्ष सत्य के बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता।[७९] प्रातीतिक ज्ञानों में जो ज्ञान सफल प्रवृत्तिजनक न हो वह भ्रम है। जैसे सीपी में चाँदी को देखने पर, लेने के लिये प्रवृत्त होने पर, वहां चाँदी मिलती नहीं, इस कारण वह भ्रमज्ञान है। भ्रमज्ञान का विषय भी भ्रम है।[८०] किन्तु पुस्तक को देखने पर पुस्तक लेने की प्रवृत्ति दशा में पुस्तक की प्राप्ति होती है, अतः पुस्तक का ज्ञान सत्यज्ञान है। इस प्रकार ब्रेडले के अनुसार भी व्यवहार में सत्य मिथ्या का विभाजन किया गया है। वस्तुतः ब्रेडले के अनुसार सत्ताभेद नहीं है। सत् में सत्ताभेद सम्भव नहीं, क्योंकि सत् पूर्ण है। इसी कारण अन्य सत्ता, अधिक सत्ता, आदि बातें या अल्प पूर्ण, अधिक पूर्ण, आदि बातें वस्तुतः सत् में सम्भव नहीं।[८१] सत् में सत्ताभेद की कल्पना प्रातीतिक है।

अद्वैत वेदान्त में व्यवहार और परमार्थ का भेद हमने दिखाया है। अवगति पर्यन्त व्यावहारिक जगत् प्रमाण प्रमेय-भाव सब सत्य ही हैं; किन्तु बाध होने पर

---

७६. Everything phenomenal is somehow real.
Appearence and Reality—P. 127.

७७. From the relative point of view a truth is wholly true. The Chief Currents of Contemporary Philosophy.—Datta—P. 74.

७८. Appearance and Reality—p. 486.

७९. The Chief Currents of Contemporary Philosophy.—P.75.

८०. Ibid.—P. 76.

८१. Appearance and Reality—P. 319.

मिथ्या हैं। इस प्रकार अद्वैत का मिथ्या सदसदनिर्वचनीय है, ब्रेडले का 'आभास' सापेक्ष सत् है। दोनों ही एक पूर्ण सत् की दृष्टि से जगत्-प्रपंच की व्याख्या देते हैं।

अस्तित्ववाद

समकालीन दर्शन में अस्तित्ववादी दर्शन ने महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। अस्तित्ववादी दार्शनिक परम्परावादी दर्शन के विरोधी हैं। वे अपने को वस्तुवादी या प्रत्ययवादी नहीं कहलाना चाहते। अस्तित्ववादी दर्शन धार्मिक, नैतिक एवं मानवतावाद का मिश्रित दर्शन है।

अस्तित्ववाद ने मानव अस्तित्व को अपने दर्शन का केन्द्रबिन्दु बनाया है। आचार्य शंकर के समान ही सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक विषय-विषयी के सम्बन्ध पर विचार करते हैं। अद्वैतवैदान्त में विषय-विषयी या युष्मद्-अस्मद् का वास्तविक सम्बन्ध नहीं माना गया है; विषय-विषयी में आध्यासिक सम्बन्ध माना गया है। अस्तित्ववादी दार्शनिक विषय-विषयी के सम्बन्ध को मिथ्या तो नहीं कहते, किन्तु विषय के साथ सम्बन्धित विषयी के अस्तित्व को विशुद्ध विषयी-अस्तित्व नहीं मानते। सार्त्र ने विषयी-चेतना को 'पोरसोई' और अन्य वस्तुओं को अर्थात् विषय को 'एनसोई' कहा है। 'पोरसोई' अपने लिये सत्ता, अपने में शून्यरूप है, अर्थात् विषय के बिना 'पोरसोई' का विशेषरूप नहीं है। यह अद्वैत के निर्विषयक शुद्ध आत्मा के समान हैं, किन्तु विषयों के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह वैषयिक रूप वाला हो जाता है। अद्वैत के अनुसार ये ही अध्यस्त स्वरूप अहन्तादि भाव हैं। जैस्पर्स के ऊपर कान्ट का प्रभाव है। जैस्पर्स कान्ट के ही समान कहता है कि वस्तु अपने में (Being in itself) न विषयी है, न विषय, वह विषय-विषयी से परे है।[८२] विश्व का ज्ञान हमें हमारी बौद्धिक प्रक्रियाओं से प्राप्त होता है। वस्तुओं को हम वस्तुस्वरूप में नहीं जान सकते। हम जो कुछ भी जानते हैं 'Form and categories' के माध्यम से जानते हैं, अतः हमें आभास का ही ज्ञान हो सकता है—अर्थात् जैस्पर्स के अनुसार अद्वैत के ही समान जगत् की वस्तुएं ज्ञान का विषय होने से प्रातीतिक हैं।[८३] प्रातीतिक वस्तुएं किसी सत् की ओर संकेत करती हैं। इस प्रकार जैस्पर्स सत् और मिथ्या के विचार में अद्वैत के विचार से कुछ समानता रखता है। जैस्पर्स विषय के सम्पर्क में स्थित अस्तित्व को डासेन (Dasein-Da-there, sein-be) कहता है[८४] अर्थात् विषयनिष्ठ अस्तित्व या वस्तुओं की सत्ता वस्तुतः सम्बन्धों में आयी हुई सत्ता है। वह विशुद्ध सत्ता नहीं है, अद्वैत के अनुसार यही अध्यस्त सत्ता है यही सत्यानृत-मिथुनीकरण है। जगत् को उसके स्वरूप में जानना ही सत्य

---

८२. Existentialism and Indian thought. P. 32
K. Gurudutta, Bangalore 3 Edition (1960).

८३. The Chief Currents of Contemporary Philosophy.—P. 525.
Datta (Calcutta Univ.) Sixth Edition (1960).

८४. Ibid.—P.527.

ज्ञान है, परन्तु विषयी कभी भी विषय को स्वरूप में नहीं जान सकता। वास्तविक सत्ता विषय-विषयी से परे है, अतः विषय-वस्तुएं जो प्रतीत होती हैं–जैस्पर्स के अनुसार पूर्ण सत्य नहीं हैं।[८५] जैस्पर्स के अनुसार विषय वस्तुएं सत् न होने पर भी उनकी पृष्ठभूमि में सत् है। यहीं पर जैस्पर्स और अद्वैत के सदसत् विचार की समानता है। अद्वैत के अनुसार भी सदधिष्ठान में ही जगत् की प्रतीति होती है। अपने स्वरूप में सत् (Being in itself) वस्तु जगत् से परे है, फिर भी जगत् उससे रहित नहीं है।[८६] वस्तु-जगत् सत् से रहित होकर मात्र आभासरूप में नहीं प्रतीत हो सकता, अतः जैस्पर्स के अनुसार भी जगत् का अस्तित्व परतन्त्र या सापेक्ष ही हुआ।

हैडेगर के अनुसार दर्शन का काम 'अस्ति' का विश्लेषण करना है। हैडेगर के अनुसार मानवास्तित्व 'डासेन' है। इसी का अध्ययन तत्वशास्त्र करता है। 'डासेन' विषय के सम्पर्क में आया हुआ विषयी-अस्तित्व है। यह विशुद्ध सत्रूप नहीं है, क्योंकि डासेन का अर्थ ही विषय वस्तुओं से सम्बन्धित सत्ता है।[८७] यह अद्वैत के दृक्-दृश्य के सम्बन्ध के समान है। अद्वैत मत में दृश्य दृक् अध्यस्त है। विषय सम्पर्क में आया हुआ दृक् जब द्रष्टा बनता है तो उसका द्रष्टृत्व अध्यस्त होता है, विशुद्ध चेतनांश सत् होता है।

अस्तित्ववादी दार्शनिक मानवास्तित्व को विशुद्धरूप से जानने के लिए जगत् की व्याख्या विषयी-चेतना के प्रसंग में करते हैं। अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म जिज्ञासा आत्म-साक्षात्कार के लिये ही की जाती है। सत्य मिथ्या विचार प्रत्ययवादी दर्शनों में जितना स्पष्ट है, अस्तित्वादी दर्शन उतना नहीं है। अद्वैतवाद के जगन्मिथ्यात्ववाद में और अस्तित्ववादी दर्शन की जगत्विषयक धारणा में बहुत अन्तर है। अस्तित्ववाद जगत् की सत्ता के विचार पर उतना बल न देकर मानवास्तित्व पर अधिक बल देता है। इसके विपरीत अद्वैत में जगत् के सत्ताविचार पर बल दिया गया है। इसका कारण यही है कि अद्वैत में सापेक्ष जगत् का विश्लेषण निरपेक्ष सत् तक पहुंचने की एक प्रक्रिया है। अद्वैतवेदान्त मुक्ति में सभी वस्तु-जगत् का बाध मानता है, किन्तु वस्तु-जगत् का बाध होने पर भी वस्तु-जगत् का मिथ्यात्व उस बाध से सिद्ध होने पर भी, वह स्थिति विशुद्ध सत्-चित्आनन्द की है। अस्तित्ववादी दार्शनिक समस्त सत्ताओं के आदि और अन्त 'नथिंगनेस' में मानते हैं। नथिंगनैस ही एक निश्चित स्थिति है जिसका कि सामना करना है। अस्तित्वादी दार्शनिकों के अनुसार मानवास्तित्व के अतिरिक्त जगत् की वस्तुओं का स्वरूपनिर्धारण सम्भव नहीं।

---

८५. The objective world, being there is not being in itself the ultimate reality.—P.56.
Six Existentialist Thinkers—Blackham, London, 1961)

८६. Six Existentialist Ehinkers—P.58--H.J. Blackham. (IV Edition, 1961, Routledge, London).

८७. Ibid—P. 88.

८

उपसंहार

समालोचनात्मक निष्कर्ष

अद्वैतवेदान्त में प्रपंचमय जगत् को मिथ्या एक विशेष अर्थ में कहा गया है, यह हम पूर्व अध्यायों में दिखा चुके हैं। साधारणतः मिथ्या शब्द से असत् अर्थ ही लिया जाता है। अद्वैतवेदान्त में इस मिथ्या शब्द का प्रयोग सापेक्ष एवं परिच्छिन्न वस्तुओं के लिये हुआ है, जैसाकि हमने आचार्य पद्मपाद के मिथ्यात्वलक्षण में देखा है। अद्वैतवेदान्त यह मान लेता है कि सत् 'त्रिकालाबाध्य' है, तीनों कालों में किसी देश में और किसी वस्तु में जिसका बाध न हो वही सत् है। इस प्रकार सत् ब्रह्म ही हो सकता है, इसके विपरीत जो भी वस्तुएं हैं, वे सत् नहीं अपितु असत् हैं, किन्तु असत् का अर्थ अलीक नहीं अपितु मिथ्या है; इसीलिये अद्वैतमत में सत्ता तीन प्रकार की मानी गयी है। ब्रह्म परमार्थ सत् है। जगत् की वस्तुएं व्यावहारिक हैं। शुक्ति-रजत की सत्ता प्रातीतिक या प्रातिभासिक है। माध्वादि दार्शनिक शुक्ति रजत को असत् मानते हैं। इसके विपरीत अद्वैतमत में शुक्ति रजत जैसी प्रातिभासिक वस्तुओं की भी सत्ता मानी गयी है। अद्वैतमत के अनुसार असत् आकाशकुसुम है, जिसकी किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है, अतः यह कहना कि अद्वैतवेदान्त जगत् को असत्-अर्थात् अलीक मानता है, अद्वैतसिद्धान्त के साथ अन्याय है। प्रातिभासिक वस्तुओं की प्रातीतिक या प्रतीतिकालीन सत्ता स्वीकार करने के लिये ही असत् (अलीक) को उससे भिन्न कहा गया है। इस प्रकार समझने के लिये सत्ता विधाएं चार हैं—सत्, असत्, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। असत् की सत्ता नहीं है। वह निःस्वरूप है। व्यवहारकाल में बाधित होने वाला प्रातिभासिक है। ब्रह्मज्ञान से व्यवहार का बाध होता है, किन्तु ब्रह्म का बाध नहीं होता। आकाशकुसुम नि.स्वरूप है। उसे असत् कह सकते हैं, किन्तु सत्ता का व्यवहार आकाशकुसुम के लिये ठीक नहीं; अतः अलीक की पृथक् सत्ता का कथन न करने पर अद्वैतवेदान्त को व्यवहारतः त्रिविध सत्तावादी कह सकते हैं। त्रिविध सत्ता स्वीकार कर लेने पर अद्वैतमत के ऊपर असत्वादी होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। त्रिविध सत्ता स्वीकार से सभी व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है। परमार्थ की बात विचार में न लाई जाय तो अद्वैतवेदान्त घट-पटादिमय जगत् को ही सत्य मानता हैं, ऐसी बात नहीं, अपितु शुक्ति-रजत को भी शुक्तिज्ञान से पूर्व तक सत्य मानता है। शुक्ति-रजत भ्रम में अद्वैत के अनुसार प्रतीति-काल में उक्त रजत की उत्पत्ति होती है, इस बात को माध्वादि अन्य भारतीय

दार्शनिक स्वीकार करने को तैयार नहीं होते। यहाँ पर अद्वैतवेदान्त प्रातीतिक भ्रमस्थलीय वस्तुओं को भी आकाशकुसुम के समान असत् कहने को तैयार नहीं है, अतः असत् की सत्ता शुक्ति-रजत की सत्ता के समान नहीं है। भ्रमस्थलीय ख्यातिवाद की व्याख्या द्वारा अद्वैतवेदान्त प्रातिभासिक वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार करता है। प्रातिभासिक वस्तु शुक्ति-रजत इसलिये मिथ्या है क्योंकि वह व्यवहार काल में व्यावहारिक शुक्ति के ज्ञान से बाधित होती है। इसी प्रकार व्यावहारिक वस्तुओं का बाध व्यावहारिक वस्तुओं के अधिष्ठान के ज्ञान से होता है। वह अधिष्ठान ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञान के उदय होने पर ही संसार मिथ्या दिखाई देने लगता है। ब्रह्मज्ञान से पूर्व वह सत्य है, वैसा ही सत्य है जैसाकि वस्तुवादी दार्शनिक या माध्वादि मानते हैं। इसी कारण पं० कोकिलेश्वर शास्त्री ने अद्वैत की व्याख्या सापेक्ष या व्यावहारिक वस्तुपरक की है। उनके अनुसार अद्वैत परिवर्तन को भी व्यवहार में सत्य मानता है। उनका तात्पर्य सापेक्ष सत्ता से है, न कि निरपेक्ष ब्रह्म के समान सत्ता से। अनिर्वचनीय ख्याति द्वारा भी यही सिद्ध किया गया है। भ्रमस्थल में वस्तु को सदसद् अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यही है कि शुक्ति-रजत, रज्जुसर्पादि वस्तुएं किसी अधिष्ठान की अपेक्षा रखने के कारण सत्य नहीं हैं, और सत् रूप से प्रतीति के विषय होने के कारण अत्यन्त असत् भी नहीं हैं, अपितु दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय हैं। सदसद् को मिलाकर मानने पर विरोध नियम का उल्लंघन होता है, अतः सद्रूप से असद्रूप से विलक्षण कहा गया है। साथ में उक्त दोनों से विलक्षण-अर्थात् भिन्न मानने पर तृतीय श्रेणी की वस्तु स्वीकृत होने पर मध्यम योग परिहार नियम का उल्लंघन होता है, अतः अनिर्वचनीय कहा गया है। अद्वैतवेदान्त यह नहीं कहता कि सत् असत् दोनों को मिलाकर अनिर्वचनीय होता है, क्योंकि ऐसा कहने पर विरोध के नियम का उल्लंघन अवश्य होगा। आचार्य शंकर ने स्वयं कहा है 'न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति'। भामतीकार ने विरोध नियम से बचने के लिये ही कहा है कि बाह्य वस्तुओं में सत्वासत्व दोनों साथ में सम्भव नहीं, और न सत्व और असत्व मिलाकर दोनों धर्म सम्भव हैं, अतः सत्वासत्वरूप से और उभयरूप से विचार-असहत्व ही अनिर्वचनीयत्व है। इस प्रकार अद्वैत सदसदुभयरूपों में वस्तु को स्वीकार न करने पर 'विरोधनियम' और 'मध्यम योग परिहार नियम' के भंग से बच जाता है। अद्वैतवेदान्त भी तर्कशास्त्र के इस नियम को मानता है कि वस्तु का निरूपण सद्रूप से या असद् रूप से ही सम्भव है, इनके अतिरिक्त उभयरूप के न होने के कारण उभय रूपों से निर्वचन सम्भव नहीं। इसी कारण से जागतिक वस्तुओं को अद्वैत में सदसद्विलक्षण, अतएव अनिर्वचनीय कहा गया है, अतः अद्वैत पर 'असद्वादी' होने का आक्षेप निराधार है। भ्रमस्थलीय रजत और व्यावहारिक रजत दोनों में सत्ताभेद है, फिर भी बाध्यत्व होने के कारण दोनों ही मिथ्या हैं। शुक्ति-रजत का बाध व्यावहारिक शुक्ति के ज्ञान से और व्यावहारिक वस्तुओं का बाध व्यावहारिक वस्तुओं के अधिष्ठान ब्रह्मज्ञान से होता है, अतः वे मिथ्या हैं। इस प्रकार

बाध दो प्रकार के हुए। व्यावहारिक वस्तु के ज्ञान से बाध, और पारमार्थिक वस्तु के ज्ञान से बाध, अतः बाध्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण हुआ। अबाध्यत्व ही सत का लक्षण हुआ। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि "सत्य वह है जो सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मना निर्वचनीयरूप से है, वह नास्ति नहीं है, और जो किसी प्रकार कहीं पर कभी किसी के द्वारा अस्तिरूप होता है, वह व्यवहारतः अस्ति है, न कि परमार्थतः।" इससे यह सिद्ध होता है कि अद्वैत में कूटस्थ नित्य को ही सत् माना गया है। परिणामी नित्य तथा देश-काल और वस्तु से सीमित वस्तुएं मिथ्या हैं। द्वैतवादी दर्शनों में परिणामी नित्य को भी पारमार्थिक सत्यत्व प्राप्त है, किन्तु अद्वैत परिणामी वस्तुओं को तथा कूटस्थ को एक ही प्रकार सत्य नहीं मानता, क्योंकि परिणामी वस्तुओं में सत्य का अबाध्यत्व लक्षण नहीं घटता।

बाध निवृत्ति को ही कहते हैं। शुक्ति-रजत भ्रमस्थल में शुक्तिज्ञान द्वारा रजत की निवृत्ति बाध है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से व्यावहारिक जगत् की भी निवृत्ति होती है। विवरणकार ने अज्ञान की स्वकार्य के साथ ज्ञान से निवृत्ति को ही बाध कहा है। इस प्रकार वस्तुतः बाध अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव है। व्यावहारिक वस्तुओं के ज्ञान से व्यावहारिक वस्तुविषयक अज्ञान के कारण उत्पन्न प्रातिभासिक वस्तु का बाध होता है, क्योंकि जिस विषयक ज्ञान होता है उसी विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। शुक्तिविषयक ज्ञान से शुक्तिविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती हैं और उस अज्ञान के विक्षेप से उत्पन्न शुक्ति-रजत की भी निवृत्ति हो जाती हैं, अतः व्यावहारिक शुक्ति की अपेक्षा शुक्ति-रजत मिथ्या है। शुक्ति ज्ञान से भी उच्चतर ज्ञान-ब्रह्मज्ञान, शुक्ति के उपादान रूप अज्ञान का निवर्तक होता है। ब्रह्म-विषयक अज्ञान के कारण ब्रह्म का स्वरूप अप्रकट सा हो जाता है, अर्थात् अज्ञान की आवरणशक्ति से ब्रह्म आवृत्त सा हो जाता है। उस स्थिति में अज्ञान की विक्षेप-शक्ति से जगद् उत्पन्न होता है। ब्रह्म ज्ञान से उक्त दोनों शक्ति वाले अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। उक्त अर्थ में अद्वैत के अनुसार जगत् मिथ्या है, अर्थात् पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान होने पर उस दृष्टि से जगत् मिथ्या है; अन्यथा जगत् सत्य है, वैसा ही सत्य जैसाकि माध्वादि दार्शनिक मानते हैं।

जगत् को व्यावहारिक सत्य सिद्ध करने के लिये ही अद्वैत में अज्ञान को भाव-रूप कहा गया है। अविद्या या अज्ञान भावरूप है, और उस भावरूप अविद्योपादानक जो कार्य हैं, वे भी भावरूप ही होंगे। भावरूप का अर्थ है व्यवहारकालीन भावरूपता, क्योंकि ज्ञान से बाध होने पर अज्ञान की निवृत्ति कही गयी है, अतः भावरूप होने पर भी अज्ञान 'त्रिकालाबाध्य' नहीं है। प्रतीति का विषय होने पर अलीक भी नहीं; अतः सदसद्-विलक्षण मिथ्या है। इसी अज्ञान का कार्य जगत् है। वह भी भावरूप है अतएव सदसद्-अनिर्वचनीय है।

उक्त प्रकार से सापेक्ष भावरूप या सदसद्-विलक्षणरूप जगत् की व्यावहारिक सत्ता मान लेने पर जागतिक वस्तुओं में अर्थक्रियासम्पादनसामर्थ्यत्वाभावाशंका भी

नहीं रहनी चाहिये, क्योंकि व्यावहारिक सत्व में ही अर्थक्रिया सम्भव है। जो अध्यस्त नहीं अर्थात् परमार्थ वस्तु है, उसमें अर्थक्रिया सम्भव नहीं हो सकती। जगत् में सर्वत्र चेतन और जड़ का मिश्रण अर्थात् अद्वैत के अनुसार सत्यानृत-मिथुनीकरण से ही वस्तुओं में कार्यक्षमता आती है। अध्यस्त वस्तुएं ही अर्थक्रिया-सम्पादन में समर्थ होती हैं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार कूटस्थ नित्य ब्रह्म में अर्थक्रिया का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। परिणामी नित्य घटादि में अर्थक्रियासम्पादनसामर्थ्य है। इसी बात को अद्वैतसिद्धिकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'अर्थक्रिया-साधकता में व्यावहारिक सत्व ही प्रयोजक है।' वह व्यावहारिकत्व या व्यावहारिकसत्व ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य है'। प्रातिभासिक अर्थक्रिया की सिद्धि के लिये परमार्थ वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, इसके विपरीत वस्तुओं से भी अर्थक्रिया के सम्पादन के दृष्टान्त अद्वैतसिद्धिकार ने प्रस्तुत किये हैं। माया-कल्पित प्रातिभासिक वस्तु रज्जुसर्पादि भयहेतु बनते हैं। किसी वस्तु को खा लेने के बाद में उसके विष होने के बोध से मृत्यु होती हैं, इत्यादि अनेक वस्तुओं से अर्थक्रिया सम्पादन की सिद्धि की गयी है। इस प्रकार जब प्रातिभासिक वस्तुओं से भयादि अर्थक्रिया का सम्पादन सम्भव है, तब व्यावहारिक सत्य वस्तुओं से अर्थक्रिया के सम्पादन का अपहरण, उन्हें मिथ्या कह देने पर नहीं हो जाता। उक्त कारण से ही जगत् को मिथ्या कहने पर भी प्रमाण-प्रमेय व्यवहार का उच्छेद नहीं होता। व्यावहारिक जगत् में अबाधित होना ही अद्वैत के अनुसार प्रामाण्य है। यह व्यावहारिक प्रामाण्य है, जिस प्रकार स्वप्न से जागने के पूर्व तक स्वाप्निक वस्तुएं सत्य हैं, उसी प्रकार सभी व्यावहारिक प्रमाण-प्रमेय वस्तुएं ब्रह्म-साक्षात्कार से पूर्व तक सत्य हैं; तब तक उनकी सत्यता का अपहरण नहीं किया जाता। लोक में शरीर को आत्मा समझकर व्यवहार होता है, वस्तुतः शरीर आत्मा नहीं है; फिर भी इस धारणा को सत्य ही समझते हैं; इसी प्रकार संसार में प्रमाणादि में सांव्यावहारिक प्रामाण्य समझना चाहिये। वस्तुतः अविद्या निवृत्ति के बाद प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहार सभी मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं।

ब्रह्म विज्ञान के लिये ही आचार्य शंकर ने वेदान्तवाक्यों की मीमांसा आरम्भ की थी। आचार्य के इसी उद्देश्य को ही सभी परवर्ती अद्वैताचार्यों ने वेदान्त का उद्देश्य मानकर अनर्थस्वरूप अध्यास की निवृत्ति के उद्देश्य से सत्य-मिथ्या का विवेचन किया है। मिथ्या के निषेध से ही ब्रह्मात्मैकत्वबोध सम्भव है, इसलिये जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन अध्यास द्वारा अद्वैताचार्यों ने किया है। मिथ्या के निषेध से ही आनन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करके जीव मुक्ति जैसी स्थिति का बोध करता है, उस मुक्ति की स्थिति से देखने पर जगत् मिथ्या सिद्ध होता है, इसलिये अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि के मंगलाचरण श्लोक में 'मिथ्याबन्धविधूननेन' कहा है,—अर्थात् मिथ्या के निषेध से ही मुक्ति की स्थिति सम्भव है और वहीं पर परमानन्द की प्राप्ति होती है। यहां पर आकर अद्वैतवेदान्त में दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र तीनों का समन्वय हो जाता है।

उक्त मुक्ति की स्थिति में अज्ञान की निवृत्ति अर्थात् द्वैत का बाध हो जाता

है। तब एकाद्वैत की सिद्धि हो जाती है। उस स्थिति में प्रमाण-प्रमेयादि भाव भी मिथ्या सिद्ध होते हैं, क्योंकि द्वैत के न रहने पर उनका भी बाध हो जाता है। ब्रह्म की जगत् कारणता भी उस स्थिति में मिथ्या ही सिद्ध होती है। जगत् का बाध करने वाला ब्रह्मज्ञान भी वृत्तिज्ञान होने से उस स्थिति में बाधित हो जाता है। भेद में उत्पन्न ब्रह्मज्ञान भी उस स्थिति से देखने पर अज्ञान ही है; इसीलिये विमुक्तात्मा ने कहा है कि जिस प्रकार बांस से उत्पन्न अग्नि बांस को जलाती हुई स्वयं भी शान्त हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान अज्ञान से उत्पन्न होकर अज्ञान को नष्ट करके अज्ञानात्मक होने के कारण स्वयं भी शान्त हो जाता है, अतः अद्वैत की सिद्धि हो जाती है। अद्वैत की उक्त स्थिति को स्वीकार करने के कारण अद्वैतवेदान्त की स्थिति अन्य दर्शनों से भिन्न हो जाती है। आत्मा एवं अनात्मवस्तुओं के सम्बन्ध को अध्यास मानकर अध्यास को मिथ्या सिद्ध करने की पद्धति भी अद्वैत को अन्य दर्शनों से पृथक् करती है। यहां तक कि प्रत्ययवादी दार्शनिक बौद्ध-विज्ञानवाद और शून्य-वाद से भी अद्वैतवेदान्त की स्थिति इसी मिथ्यात्व विचार के कारण पृथक् हो जाती है। जगत् की व्याख्या में नागार्जुन ने इसकी व्यावहारिकता पर उतना बल नहीं दिया है जितना कि शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्ती देते हैं। विषय और विषयी के सत्य सम्बन्धों के प्रत्याख्यान से दृग्दृश्य के सम्बन्ध को तथा सम्बन्धित दृश्य को अध्यास सिद्ध करने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में ही उपलब्ध है। शंकरोत्तर अद्वैताचार्यों के मिथ्यात्व लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मिथ्यात्व' से अद्वैत का क्या अभिप्राय है। विवरणकार के दोनों लक्षणों से-निषेध और बाध द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि से यह सिद्ध होता है कि मिथ्या सर्वदा किसी पृष्ठभूमि में प्रतीत वस्तु ही होती है। इस प्रकार ज्ञान द्वारा भी किसी प्रतीत वस्तु का ही बाध सम्भव है। उक्त प्रकारों के मिथ्यात्व लक्षण स्वीकार कर लेने पर अद्वैतवाद में न्यायामृतकारादि द्वारा किये गये आक्षेप निर्मूल हो जाते हैं, क्योंकि मिथ्या शब्द को अलीकार्थ मानकर ही सभी आक्षेप दिये गये हैं। मिथ्या को असदर्थ में लेना भ्रामक है। इसके भावार्थ को प्रकट करने के लिये अंग्रेजी का Unreal या Illusion शब्द भी अपर्याप्त एवं विभ्रामक है। अद्वैत में गृहीत मिथ्यात्व के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये ब्रेडले के द्वारा प्रयुक्त Appearance शब्द किसी हद तक मिथ्यात्व शब्द के निकट है, फिर भी दोनों के भाव में कुछ अन्तर है, यह अद्वैताचार्यों द्वारा दिये गये मिथ्यात्व लक्षणों द्वारा स्पष्ट है। इतना अन्तर होने पर भी मिथ्या शब्द का यदि अंग्रेजी अनुवाद करना है तो ब्रेडले द्वारा प्रयुक्त Appearance शब्द द्वारा कुछ भावार्थ मिथ्यात्व का निकाला जा सकता है। Falsity शब्द भी मिथ्यात्व के भावार्थ को प्रकट करने में अपर्याप्त है, अतः अद्वैत में प्रयुक्त मिथ्या शब्द के अर्थ का प्रकाश 'मिथ्या' शब्द से ही सम्भव है। इस मिथ्यात्व की तुलना प्लेटो के Particulars से स्वल्पांश में की गई है। प्लेटो और अद्वैत की जगत् विषयक धारणा प्रत्ययवादी होने के कारण स्वल्प समानता रखता हैं। इसी प्रकार स्पिनोजा की जगत् विषयक

धारणा में अद्वैत के मिथ्यात्व में अन्तर है। स्पिनोजा परम द्रव्य और गुणों में सम्बन्ध की व्याख्या देने में असफल रहा है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्त उक्त सम्बन्ध को अध्यास मानकर तथा कार्य-कारण में विवर्तवाद को मानकर ब्रह्म और जगत् की सुसंगत व्याख्या देता है। बर्कले तथा अद्वैत की जगत् विषयक धारणा में अन्तर तो स्पष्ट ही है। कान्ट के प्रपंचवाद और ब्रेडले के आभासवाद में कुछ अधिक समानता अद्वैता के मिथ्यात्व से है, यह हमने स्पष्ट कर दिया है। समकालीन अस्तित्ववाद के अस्तित्व की व्याख्या द्वारा भी जगत् की व्याख्या समीचीन नहीं हो पाई है।

शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्तियों ने मिथ्यात्व विचार द्वारा पूर्णाद्वैतवाद की सिद्धि की है। अद्वैतवेदान्त जैसा प्रत्ययवादी दर्शन ही जगत् की व्याख्या सुसंगत रूप से दे सकता है। पूर्व अध्यायों के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व के स्वरूप को शंकरोत्तर अद्वैताचार्यों ने युक्ति और तर्कों सहित सुसंगत रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य शंकर के वचनों में मिथ्यात्व का यह रूप स्पष्ट नहीं था। उस पर वस्तुवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने नाना प्रकार तार्किक असंगतियों के आक्षेप किये थे किन्तु शंकरोत्तर अद्वैताचार्यों ने विशेषकर मधुसूदन सरस्वती तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती ने मिथ्यात्व पर आक्षिप्त सभी असंगतियों का तार्किक निराकरण किया है तथा मिथ्यात्व के स्वरूप को दार्शनिकों के सामने 'करतलागतामलकवत्' स्पष्ट रूप से रख दिया है। वस्तुतः अद्वैतवाद की सिद्धि इस मिथ्यात्ववाद से ही सम्भव है। इस मिथ्यात्व के स्वरूप को दार्शनिक रूप शंकरोत्तराचार्यों ने ही दिया है। शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्तियों द्वारा प्रस्तुत अद्वैतवाद ही अद्वैतवेदान्त का परिपक्व रूप है। अद्वैतवेदान्त में पद्मपाद, प्रकाशात्मा, आनन्दबोध, चित्सुख, श्री हर्ष, वाचस्पति मिश्र, मधुसूदनसरस्वती तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती की महत्त्वपूर्ण देन मिथ्यात्व विचार है।

उक्त आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व विचार से अद्वैतवेदान्त एक विशेषार्थ में प्रत्ययवादी दर्शन सिद्ध होता है। वस्तुओं के प्रति जब व्यावहारिक दृष्टि अपनायी जाती है तब यह दर्शन वस्तुवादी हो जाता है और उनके प्रति जब पारमार्थिक दृष्टि अपनायी जाती है तब यह विशुद्ध प्रत्ययवादी दर्शन हो जाता है। व्यवहारतः वस्तुवादी होकर परमार्थतः प्रत्ययवादी होने में किसी प्रकार विरोध नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु के पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या और व्यावहारिक दृष्टि से सत्य होने में विरोध नहीं होता।

———

सहायक-ग्रन्थ-पंजिका

(क) उद्धृत–ग्रन्थ

१. अद्वैतसिद्धि-मधुसूदन सरस्वती । निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१७ ।
२. लघुचन्द्रिका-ब्रह्मानन्द सरस्वती । ,, ,, ,, ।
३. विट्ठलेशोपाध्यायी ,, ,, ,, ।
४. सिद्धि व्याख्या – बलभद्र । ,, ,, ,, ।
५. पंचपादिका-पद्मपादाचार्य । श्री रामशास्त्री सम्पादित, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, १९५८ ।
६. विवरण-प्रकाशात्मयति । श्री रामशास्त्री सम्पादित, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, १९५८ ।
७. विवरणतात्पर्यदीपिका और
भाव-प्रकाशिका-चित्सुखी और नृसिंहाश्रम । श्री रामशास्त्री सम्पादित, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, १९५८ ।
८. ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य अनन्तकृष्ण शास्त्री सम्पादित,
(पंचपादिकादि नव टीका)-दी मैट्रोपोलिटन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, १९३३ ।
९. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३८ ।
१०. भामती-वाचस्पति मिश्र । ,, ,, ,,
११. कल्पतरु-अमलानन्द स्वामी । ,, ,, ,,
१२. परिमल-अप्पय दीक्षित । ,, ,, ,,
१३. तत्वप्रदीपिका-(चित्सुखी) चित्सुखाचार्य । काशीनाथ शास्त्री संपादित, निर्णय सागर प्रेस, १९१५ ।
१४. न्यायमकरन्द-आनन्दबोध भट्टारक । चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो, बनारस, १९०१ ।
१५. वेदान्ततत्वविवेक तथा दीपनपूरणी-नृसिंहाश्रम । नारायण शास्त्री संपादित, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर, १९५५ ।
१६. न्यायामृत-व्यासराज । निर्णय सागर प्रेस, बंबई १९०७ ।
१७. न्यायमृत-श्रीनिवासीय टीका ,, ,, ,, ।
१८. सर्वदर्शनसंग्रह-माधवाचार्य । चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४ ।
१९ न्यायभूषण-भासर्वज्ञ । योगीन्द्रानन्द संपादित, षड् दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९६८ ।
२०. वेदान्तप्रक्रिया प्रत्याभिज्ञा-सच्चिदानन्द सरस्वती संपादित, अध्यात्मप्रकाश कार्यालय, होले नरसी पुरम्, १९६४ ।

२१. विभ्रमविवेक मण्डनमिश्र। कुप्पुस्वामी शास्त्री संपादित, जनरल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च, मद्रास, १९३२।
२२. खण्डनखण्डखाद्य-श्रीहर्ष चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी।
२३. संक्षेपशारीरक-सर्वज्ञात्ममुनि। काशी, सं. १९४४।
२४. वादावली-जयतीर्थ संपादित पी० नागराजराव, दी अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार, मद्रास, १९४३।
२५. ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य-(प्रथम तथा द्वितीय खण्ड) रामानुज। श्री उत्तमूर-ति वीर राघ-वाचार्य, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, नई, दिल्ली, १९६७।
२६. श्रुत प्रकाशिका-सुदर्शन सूरि ,, ,, ,,
२७. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय-दर्शन-भरतसिंह उपाध्याय। बंगाल हिन्दीमण्डल, रायल एक्सचेन्ज प्लेस, कलकत्ता। सं. २०११
२८. बोद्ध-दर्शन-मीमांसा-बलदेव उपाध्याय। चौखंबा विद्याभवन, बनारस, १९५४।
२९. तत्वसंग्रह-शान्त रक्षित। द्वारिकादास संपादित, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९६८।
३०. तत्वसंग्रह पंजिका-कमलशील ,, ,, ,,
३१. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका-त्रिंशिका) वसुबन्धु। डॉ. महेश तिवारी, चौखंबा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७।
३२. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिभाष्य-स्थिरमति ,, ,, ,,
३३. वेदान्तकौस्तुभ प्रभा-केशव काश्मीरी। अमोलक शास्त्री संपादित, चन्द्र प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली, १९३८।
३४. परपक्षगिरिवज्रम्-माधवमुकुन्द। श्री अमोलकशास्त्री सांपदित, निम्बार्क महा-सभा, वृंदावन, सं. १९९३।
३५. वेदान्तरत्न मंजूषा–श्रीपुरुषोत्तमाचार्य। रत्न गोपाल भट्ट संपादित, चौखंबा, काशी, १९०७।
३६. शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता–संपादक प्रतापचन्द्र घोष, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९०२।
३७. न्याय दर्शन-वात्स्यायन भाष्य। वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका सहित। लुज़ाक एण्ड कं०, लन्दन से प्रकाशित, १८९८।
३८. वेदान्ततत्वबोध-अनन्तरामदेवाचार्य। श्री अमोलकशास्त्री संपा०, उदयपुर।
३९. छान्दोग्योपनिषद्-आनन्दाश्रम, पूना, १८९०।
४०. तैत्तिरीयोपनिषद्-शंकरभाष्य- ,, १८९७।
४१. बृहदारण्यकोपनिषद्- ,, १९२७।
४२. मुण्डकोपनिषद्- ,, १८९६।
४३. श्वेताश्वतरोपनिषद् ,, शक० १८११।
४४. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः-निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२५।

४५. पंचदशी-विद्यारण्य स्वामी। भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी, १६४२।
४६. ऋग्वेदसंहिता-चतुर्थ और द्वितीय भाग-मैक्समूलर संपादित, चौखंबा संस्कृत-ग्रन्थमाला, वाराणसी, १६६६।
४७. ऋग्वेद संहिता-सायण भाष्य-चतुर्थ और द्वितीय भाग-चौखंबा सं० ग्रन्थमाला वाराणसी. १६६६।
४८. छान्दोग्योपनिषद्-शंकर भाष्य-आनन्दाश्रम, पूना, १८६०।
४६. छान्दोग्योपनिषद्-शंकरभाष्य आनन्दगिरि टीका, आनन्दाश्रम, पूना, १८६०।
५०. माण्डूक्यकारिका शंकर भाष्य सहित गौड़पाद। आनन्दश्रम, पूना, १६२१।
५१. भाष्यरत्न प्रभा-गोविन्दानन्द। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १६७०।
५२. भाष्यरत्न प्रभा-न्याय निर्णय-आनन्दगिरि, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १६७०।
५३. सिद्धान्तलेशसंग्रह-अप्पय दीक्षित। अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, वाराणसी, सं० २०११।
५४. इष्टसिद्धि-विमुक्तात्मा। बी० भट्टाचार्य संपादित, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १६३३।
५५. प्रमेयकमल-मार्तण्ड प्रभाचन्द्र। निर्णयसागर, बम्बई, १६४१।
५६. वेदान्तपरिभाषा-धर्मराजाध्वरीन्द्र। चौखंबा संस्कृत सीरीज़, बनारस, सं० २०११
५७. अद्वैत सिद्धान्त-विघातन, टीका सहित-ब्रह्मानन्द सरस्वती, सरस्वती भवन बनारस, १६३४।
५८. ब्रह्मसिद्धि-मण्डन मिश्र-ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट्स सीरीज़ नं० ४, मद्रास, १६३७।
५६. विवरण प्रमेय संग्रह—विद्यारण्य मुनि (माधवाचार्य) अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, सं० १६६६।
६०. न्यायमन्जरी-जयन्त भट्ट-चौखंबा संस्कृत सीरीज़, १६३६।
६१. माध्यमिक शास्त्र-नागार्जुन। डॉ० पी० एल० वैद्य संपादित, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १६६०।
६२. प्रकरण पंजिका-शालिकनाथ मिश्र। चौखंबा संस्कृत सीरीज़, १६०३।
६३. तर्क संग्रह-अन्नं भट्ट। मुरादाबाद भुवनेश्वरी मुद्रण यंत्र, सं० १६०७।
६४. चित्सुखी—नयनप्रसादिनी टीका-प्रत्यग्रूप भगवान। निर्णयसागर, बम्बई, १६१५।
५. अद्वैतदीपिका-नृसिंहाश्रम-मेडिकल हाल प्रेस, वाराणसी, १६१६।
६६. सारथ प्रवचन भाष्य-विज्ञानभिक्षु-भारतजीवन प्रेस, काशी, सं० १६४६
६७. श्रुत्यन्त सुरद्रुम-पुरुषोत्तमप्रसाद। चौखंबा, काशी, १६०७।
६८. न्यायकुसुमांजलि-उदयन-हरिकृष्णदास। वाराणसी।
६६. शतदूषणी-वेदान्ताचार्य अनन्ताचार्य द्वारा संपादित, श्री सुदर्शन प्रेस, कांची, १६०४।

७०. विवेक चूड़ामणि (नवम संस्करण) शंकराचार्य। गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०।
७१. न्यायदीपावलि-आनन्दबोध भट्टारकाचार्य। चौखंबा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९०१।
७२. महायान सूत्रालंकार-असंग। एस० लेवी द्वारा संपादित, पेरिस, १९०७।
७३. लंकावतार सूत्र-बी० नानजिओ द्वारा संपादित, ओरियण्टल बुकसेलर एण्ड पब्लिशर, लन्दन, १९२३।
७४. प्रमाणवार्तिक-धर्मकीर्ति-राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित। किताब महल, इलाहाबाद, १९४३।
७५. माध्यमिक शास्त्र-प्रसन्नपदा टीका-चन्द्रकीर्ति-सम्पादक पी० एल० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०।
७६. वेदान्तदर्शन-निम्बार्क भाष्य-स्वा० सन्तदास कृत वेदान्त सुबोधिनी सहित, दी इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, सं० १९८६।
७७. गीताशांकर भाष्य (-सप्तम संस्करण)-गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००८।
७८. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली-प्रकाशानन्द। अच्युत ग्रन्थमाला, काशी सं० १९९३।
७९. शिवसूत्रविमर्शिनी-(खण्ड प्रथम)-वसुगुप्त, टीका-क्षेमराज। काश्मीर स्टेट १९११
८०. तंत्रालोक भाग ३ और ६-अभिनवगुप्त। रिसर्च विभाग, जम्बू १९२१।
८१. प्रमाणमाला-आनन्दबोध। चौखम्बा, बनारस, १९०१।
८२. The Philosophy of Spinoza—Edited by J. Ratner, Standard-Literature Co. Ltd. New York.
८३. Outlines of Indian Philosophy-(Fourth Edition-) Hiriyanna-Allen & Unwin, London, 1958.
८४. Indian Philosophy Vol. II. (First Edition)-Radha Krishnan. Allen & Unwin, London, 1927.
८५. Indian Idealism-S. Das Gupta-Cambridge, 1962
८६. The Agamsastra of Gaudopada V. Bhattacharya, Univ. of Calcutta 1943.
८७. A Critical Survey of Indian Philosophy Dr. C. D Sharma, London, 1960.
८८. The Idealistic Thought of India P. T. Raju, Allen & Unwin, London, 1953.
८९. Mahayanavimsaka of Nagarjuna V. Bhattacharya, Vishwa Bharati Book Shop, Calcutta, 1931.
९०. Alambanapariksa-N. Aiyaswami Sastri-Edited, The Adyar (Dinnaga) Library, 1942.

९१. The Central Philosophy of Buddhism T. R. V. Murti, Ruskin House, London 1955.

९२. Mahayana Buddhism B. L. Suzuki, Allen & Unwin, London, 1959.

९३. Buddhist Philosophy A. B. Keith, The Clarendon Press, Oxford, 1923.

९४. Advaita and Visistadvaita S. M. Srinivasachari, Asia Pub. House, London, 1961.

९५. History of Indian Philosophy. Vol. II ⦃ J. N. Sinha, Calcutta, 1956.

९६. History of Indian Philosophy Vol IV. Das Gupta, Cambridge University, 1949.

९७. A Critical History of Greek Philosophy W. Stace, Macmillan & Co. New York, 1964.

९८. History of Western Philosophy B. Russell, Allen & Unwin, London, 1946.

९९. Outlines of the History of Greek Philosophy Zeller, New York, 1931.

१००. Appearance and Reality-Ninth Edition F. H. Bradley, Oxford, London, 1930.

१०१. History of Philosophy Vol. III. Hegel, London, 1895.

१०२. Selections from Berkeley Fifth Edition Ed. by A. C. Fraser, Oxford, 1899.

१०३. The Idealist Tradition-A. C. Ewing, The Free Press, Glencoe, Illinois, U. S. A., 1956.

१०४. Critique of Pure Reason-Kant, Macmillan & Co., London. (Ed. by N. K. Smith) (Reprinted, 1952).

१०५. Kant's Metaphysic of Experience. Vol. 18-II H. J. Paton, London and New York. III., Ed., 1961.

१०६. The Chief Currents of Contemporary Philosophy D. M. Datta. University of Calcutta, II Edition, 1961.

१०७. Existentialism and Indian Thought—K. Gurudutt.
The Indian Institute of World Culture, Bangalore, 3rd Edition, 1960.

१०८. Six Existentialist Thinkers--Blackham, London, 4th Ed., 1961.

१०९. Pre-Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese Sources-(Vigraha Vyavartini of Nagarjuna). Ed. by Giuseppe Tucci, Oriental Institute, Baroda, 1929.
११०. A History of Philosophy-F. Thilly, Allahabad. (Revised Edition, 1951).
१११. History of Philosophy. Vol. II-Prof. Ueberweg, London, V Ed.
११२. The Life-divine-Vol. II (1)-Aurobindo, Calcutta, 1940.

——

अनुक्रमणिका

(अ)

(आ)

(द)

(ध)

(न)

(प)

(फ)

(ब)

(भ)

(म)

(र)

(ल)

(व)

शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३	अन्तिम		जोड़ें पृ० २६, २७
३५	नीचे से ५	अन्तर्ज्ञयरूपं	अन्तर्ज्ञेयरूपं
३६	२५	अनुपन्न	अनुपपन्न
३९	९	इद	इदं
४०	६	शखज्ञान	शंखज्ञान
४१	नीचे से ६	सवदशन	सवदर्शन
५२	९	बोध	बाध
५३	अन्तिम	समानेविषयेप्रत्यक्षसामग्र्यी	समानेविषयेप्रत्यक्षसामग्र्या
५८	३	घट-घटादि	घट-पटादि
५९	१४	पंजीकरणप्रक्रिया	पंचीकरणप्रक्रिया
६६	५	दृशिष्टरूप	दृशिस्वरूप
६७	१	तत्वस्वरूप	तत्स्वरूप
९१	नीचे से ६	बोध	बाध
९६	२२	व्याप्त	व्याप्य
१०२	७	निवर्त्यवं	निवर्त्यत्वं
१०२	११	श्रुत्यानुसारी	श्रुत्यनुसारी
१०२	नीचे से ५	मिथ्या वस्य	मिथ्यात्वस्य
१०५	नीचे से ४	उक्तानाशोवा	उक्तनाशोवा
१०५	नीचे से ४	लघुचन्द्रि	लघुचन्द्रिका
११०	१७	पट भिन्न	घट भिन्न
११५	२२	स	रस
११७	नीचे से ६	नन्वथ्यानुमानस्य	नन्वस्यानुमानस्य
१२०	१५	अखण्डवत्तिदशा	अखण्डवृत्तिदशा
१२०	नीचे से ११	पट ज्ञान	घटज्ञान
१२६	१३	घटध्वंस	ध्वंस
१२७	नीचे से ३	नि यशब्द:	नित्यशब्द:
१२८	नीचे से ११	"आयुर्होयासतेऽमतम्"	"आयुह्योपासतेऽमृतम्"
१२९	४	स्वमामाण्य	स्वप्रामाण्य
१३३	नीचे से १२	सत्यात्वाभाव	सत्यत्वाभाव

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३५	२	सत्यभूति	सत्यभूत
१३८	नीचे से १४	यवुत	यदुत
१४८	१५	ज्ञातातिरिक्त	ज्ञानातिरिक्त
१४८	नीचे से २	Essert	Esse est
१५०	नीचे से २	कवचिदाचक्षीत	क्वचिद्चक्षीत
१५२	नीचे से ३	whiley	while
१५५	नीचे से २	परिवत	परिवर्त
१५७	नीचे से ५	माध्यमिक शास्त्र	मध्यमकशास्त्र
१५८	नीचे से ६	सत्ताशून्य	सत्ताशून्यता
१५८	नीचे से ६	तात्पर्यता	तात्पर्य
१५८	नीचे से ५	Surzhki	Suzuki
१६०	नीचे से ६	कारण कारण	कारण
१६०	नीचे से ३	सन्यत्वं	सत्यात्वं

——

डॉ० अभेदानन्द की शिक्षा-दीक्षा आरम्भ से ही वाराणसी में सम्पन्न हुई है। आपने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से दर्शन में एम० ए० किया है एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से वेदान्तशास्त्री तथा वेदान्तदर्शनाचार्य परीक्षाएं उत्तीर्ण की हैं। मेरठ विश्वविद्यालय से दर्शन में आपने डाक्टरेट की है। इस समय आप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में दर्शन विभागाध्यक्ष एवं रीडर हैं। आप भारतीय दर्शनों के मौलिक विद्वान एवं तुलनात्मक दर्शन के भी विशिष्ट ज्ञाता हैं। अद्वैत वेदान्त में आपकी आधिकारिक गति है। दर्शन की विभिन्न अनुसंधान-पत्रिकाओं में आपके दर्जनों गवेषणात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। अंग्रेजी में कठोपनिषद् का अनुवाद किया है एवं एक कारिका-ग्रन्थ : 'Philosophy of the Upanisads' प्रकाशित किया है।

हमारे दर्शन-विषयक प्रकाशन

१.	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-२	ले० एस० एन० दासगुप्त अनु० एम० पी० व्यास
२.	भारतीय दर्शन का इतिहास भाग–४	ले० : एस० एन० दासगुप्त अनु० : मोहनलाल शर्मा
३.	तर्क एवं दर्शन का विवेचन	ले० : विटिंगस्टाइन अनु० : डॉ० राजेन्द्रनाथ पाण्डे
४.	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण	ले० : आर० डी० रानाडे अनु० : डॉ० रामानन्द तिवाड़ी
५.	प्रयोजनवाद	ले० : विलियम जेम्स अनु० : रमेशचन्द्र
६.	तर्क रेखा	सुरेन्द्र बार्लिगे
७.	प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र	राजनारायण
८.	आधुनिक तर्कशास्त्र : एक परिचय	रमाशंकर मिश्र
९.	दर्शन के सौ वर्ष	ले० पैसमोर जॉन अनु० चांदमल शर्मा एवं कलानाथ शास्त्री
१०.	संस्कृति मानव कर्तृत्व की व्याख्या	यशदेव शल्य
११.	नीति दर्शन की पूर्वपीठिका	ले० थामस हिल ग्रीन अनु० संगमलाल पाण्डे
१२.	ज्ञान मीमांसा	दयाकृष्ण
१३.	मूल्य-मीमांसा	गोविन्दचन्द्र पाण्डे
१४.	रस गंगाधर	कुमारी चिन्मयी माहेश्वरी

पुस्तक प्राप्ति स्थान

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

ए-२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४

एकाधिकृत विक्रेता

मैसर्स इंटरकोंटीनेंटल बुक हाउस

शारदा भवन के सामने, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३